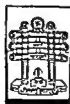
मूकज्जी

एक अतीन्द्रिय कथालोक

उपन्यासकार
डॉ० शिवराम कारंत



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

सम्पादक एवं नियोजक

लक्ष्मीचन्द्र जैन

जगदीश

प्रस्तुति

भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ कृतित्व को हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत करना भारतीय ज्ञानपीठ की 'राष्ट्रभारती ग्रन्थमाला' का उद्देश्य है जो विख्यात 'लोकोदय ग्रन्थमाला' का अंग है। भारतीय साहित्य में श्रेष्ठ क्या है और श्रेष्ठ में भी श्रेष्ठतर या श्रेष्ठतम क्या है इसका एक सुनियोजित आधार आज देश के सामने है—भारतीय ज्ञानपीठ का साहित्य पुरस्कार। इस उद्देश्य से गठित 'प्रवर परिषद्' प्रतिवर्ष भारतीय संविधान द्वारा मान्य पन्द्रह भारतीय भाषाओं में से प्रत्येक की श्रेष्ठ कृति में से श्रेष्ठतम चुनती है और उसके लेखक को एक लाख रुपये की राशि तथा प्रशस्ति द्वारा सम्मानित करती है। इस प्रकार के बारह सम्मान-समारोह आयोजित हो चुके हैं। इसी शृंखला में तेरहवाँ पुरस्कार डॉ० शिवराम कारंत को उनके उपन्यास 'मूकज्जिय कनसुगलु' के लिए समर्पित है जिसे १९६१ से १९७० के बीच प्रकाशित भारतीय साहित्य में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। डॉ० शिवराम कारंत की प्रशस्ति में कहा गया है

"सत्य और सौंदर्य के प्रबल जिज्ञासु कारंतजी गांधीवादी आदर्श प्रेरित युवा से क्रमशः विकास करते हुए अनुभवसिक्त और प्रबुद्ध मानवतावादी के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। जीवन को यथार्थ और सम्पूर्णता में निरख पाने के अविराम प्रयत्न में वे साहित्य और विज्ञान, संगीत और नृत्य, चित्रकला और स्थापत्य जैसे ज्ञान और कला के विभिन्न क्षेत्रों में अन्वीक्षण करते आये हैं। उनकी बौद्धिक कुतूहलता, कलागत संवेद्यता और सर्जनात्मक प्रतिभा ने विविध और बहुमुखी उपलब्धियाँ अर्जित की हैं जिनके अन्तर्गत शब्दकोष, विश्वकोश और यात्रावृत्तों से लेकर संगीत-रूपक, निबन्ध, कहानी और एकांकी तक आते हैं, और आता है तटीय कर्नाटक के अनूठे लोक-नृत्यनाट्य 'यक्षगान' के संजीवन में उनका योगदान।

किन्तु उनकी प्रतिभा की दीप्ति प्रकट हुई है उपन्यासकार के रूप में। उनकी सब लगभग २०० प्रकाशित कृतियों में ३६ उपन्यास हैं। इनमें जीवन के प्रति कारंतजी का दृष्टि-भाव समाविष्ट हुआ है। इनके ही माध्यम से प्रत्यक्ष होती है उनकी व्यापक मानवीय सहानुभूति, अविचल सत्यनिष्ठा, समाजगत प्रामाणिक विचार-चिन्तना, निसर्ग के प्रति सहज श्रद्धा और प्रभावयुक्त व्यंग्य-विनोद-प्रियता।

पुरस्कार-जयी उपन्यास 'मूकज्जिय कनसुगलु' एक असामान्य व्यक्तित्व, एक वृद्धा विधुरा के चतुर्दिक् संकेन्द्रित है जिनकी चरित्रगत विशेषताएँ हैं सत्यनिष्ठा, अपरिसीम करुणाभाव और सौम्य सदयता। बड़ी विशिष्टता है इसकी अधिमानसिक शक्ति, जिसके सहारे वह धर्म और जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करती है और मानवजाति की सम्पूर्ण अनुभूति को अभिव्यक्ति देती है।"

'मूकज्जी' का अर्थ है, वह अज्जी (आजी-दादी) जो मूक है। इस उपन्यास में डॉ० कारंत ने अस्सी वर्ष की एक ऐसी विधवा बुढ़िया पात्र की सृष्टि की है

जिसमें वेदना सहते-सहते, मानवीय स्थितियों की विषमता देखते-बूझते, प्रकृति के विशाल खुले प्रांगण में, बरसों से एक पीपल के नीचे बैठते-उठते, सब कुछ मन ही मन गुनते-गुनते एक ऐसी अद्‌भुत अतीन्द्रिय क्षमता जाग्रत हो गई है कि उसने प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान काल तक की समस्त मानव सभ्यता के विकास को आत्मसात् कर लिया है। किन्तु, मात्र इतिहास-क्रम बताना इस उपन्यास का उद्देश्य नहीं है। इतिहास तो मूकज्जी की परा-चेतना का एक आनुषंगिक अंग है। वास्तव में तो यह उपन्यास अनेक क्रिया-कलापों और घटनाओं के सन्दर्भ में मानव चरित्र की ऐसी छवि है जिसमें हम सब और हमारी सारी मनोवृत्तियाँ प्रतिबिम्बित हैं। मूकज्जी अपने पोते के माध्यम से इतिहास की ही ऊहापोह नहीं करती, अनेक पात्रों की जीवन-गाथा में अपनी समस्त कोमल संवेदनाओं को सम्मिलित करती हैं और हमें सिखाती है कि संसार की सबसे बड़ी शक्ति और मनुष्यता का सबसे बड़ा गुण है 'करुणा'। 'सिखाती है' कहने से एक भ्रामक धारणा बन सकती है कि उपन्यास का उद्देश्य नैतिक है। किन्तु व्यंग्य तो यह है कि मूकज्जी सारी नैतिकताओं को चुनौती देती चलती है, और एक ऐसी वस्तुपरक यथार्थ दृष्टि प्रस्तुत करती है जो परम्परागत धारणाओं पर प्रबल प्रहार करती है। हम चौंकते हैं कि यह क्या कह दिया इस बुढ़िया ने। और जो कहा यह तो हमारी श्रद्धा से, हमारी धार्मिक मान्यता से, हमारी सामाजिक धारणा से, मेल नहीं खाता। यही 'चौंकना' हमें सिखाता है जीवन को नयी दृष्टि से देखना, सम्पूर्णता से देखना। मूकज्जी, जिसने स्वयं जीवन की वंचना भोगी है, सेक्स और कामभोग के सम्बन्ध में वाचाल हो गयी है, वैज्ञानिक हो गयी है। सच्ची ललक और सच्ची जीवन-अनुभूति के लिए मूकज्जी के दर्शन में कुछ भी वर्जित नहीं है। वर्जित है पाखण्ड, वर्जित है त्रास, वर्जित है अन्याय, वर्जित है नारी का, दीन-असहाय का दोहन। मूकज्जी कहना चाहती है कि जीवन जीने के लिए है, और जिसने जीवन को जीना नहीं जाना, समग्रता से जीना नहीं जाना, उसका तत्व-चिन्तन, उसकी तपस्या और उसका संन्यास स्वस्थ नहीं है। नास्तिकता तो यहाँ नहीं है, किन्तु 'अन-आस्तिकता' यदि यहाँ है तो यह निषेध की दृष्टि नहीं है, स्वीकृति की दृष्टि है।

आप चाहें तो मूकज्जी से झगड़ें, चाहें तो मूकज्जी के स्रजेता से। लेकिन मूकज्जी के यथार्थ-दर्शन को, उसकी व्यापक सहानुभूति को, उसकी मानवीय दृष्टि को, उसके करुणा और प्रेम के निदर्शन को आप नकार सकें, यह हिम्मत की बात होगी।

भारतीय ज्ञानपीठ को गर्व है कि उसने कारंतजी के सम्मान से अपने पुरस्कार को गौरवान्वित किया है और मूकज्जी के प्रकाशन से अपने को कृतार्थ।

लक्ष्मीचन्द्र जैन

११ जनवरी, १९७९

मन्त्री, एवं ग्रन्थमाला सम्पादक

प्राक्कथन

(मूल कन्नड़ उपन्यास 'मूकज्जिय कनसुगलु' से)

बुद्धिजीवी मानव धरती पर निवास की अपनी इस अल्प अवधि में अनन्त विश्वों से युक्त एवं करोड़ों-करोड़ वर्षों से चली आ रही इस विशाल सृष्टि के किसी एक भाग के एक सूक्ष्म अंश को भी ठीक-ठीक से नहीं देख पाया। किन्तु अपनी अल्प दृष्टि में इस बीच उसे जो कुछ भी अद्भुत, अलौकिक और चमत्कार-पूर्ण लगा उससे वह विस्मित हुए बिना भी नहीं रहा और जिज्ञासु बन प्रश्न करने लगा—आखिर, यह जगत् क्या है ? इसकी रचना किसने की ? किस प्रयोजन से की ? और, मैं कौन हूँ और क्यों हूँ ? आदि। मात्र प्रश्नों से वह तृप्त होकर नहीं रह गया। उसने अपनी पहुँच के बाहर के उन विषयों को अपनी अपेक्षाओं के अनुरूप जानने-समझने के लिए अपनी बुद्धि को अनुमान और कल्पना के लोक में प्रवाहित किया। फलतः उसे जैसा, जो कुछ भी आभास हुआ उस कल्पित को ही वह सत्य बताने लगा।

जिनकी कल्पना जितनी भव्य और चतुराई-भरी रही उनका चिन्तन, कथन उतना ही अधिक सत्य माना गया। जिनकी कल्पना को अवकाश नहीं मिला या जिनका चिन्तन-पक्ष दुर्बल रहा, वे आँख मूँदकर अपने बुजुर्गों की प्रत्येक बात अक्षरशः सत्य मानकर उसी लीक पर चलते-चले आये। हजार लोगों द्वारा हजार-हजार ढंग से समय-समय पर प्रकल्पित ये मनोविलास परस्पर संघर्ष के कारण भी बने।

भारत, अर्थात् यहाँ के मूलवासी और बाहर से आयी अन्यान्य जातियाँ, भी इसका अपवाद नहीं हैं। इस देश के लोगों के इस परम्परागत मनोविश्लेषण को प्रस्तुत उपन्यास की 'मूकज्जी' अपने अनुभव और चिन्तन के माध्यम से कुरेदती है।

प्रस्तुत उपन्यास का न तो कोई कथा-नायक है और न ही कथा-नायिका। मूकज्जी भी नहीं। उसका काम तो यहाँ साम्प्रदायिक मान्यताओं के कारण परत-

दर-परत जम गये इस मन को धीरे-धीरे गर्म करके पिघलाना भर है। ऐसी भी कोई मूकज्जी होगी ? हमारी परम्परागत आस्था या विश्वास के कारण यदि किसी के मन में उसके अस्तित्व के प्रति भ्रम उत्पन्न होता है तो उसका वह शंका-पिशाच ही मूकज्जी है, ऐसा मान लीजिये। परन्तु हममें से अनेक ऐसे भी हैं जिनके मानस में वह पिशाच के रूप में नहीं है, बल्कि एक वास्तविक सन्देह के रूप में बसी हुई है। उसका पोता सुब्बराय ऐसों में ही एक है।

वह अज्जी और उसका पोता दोनों मिलकर चार-पाँच हज़ार वर्षों से प्रवहमान इस सृष्टि-समस्या के मंथन का प्रयास करते हैं। अवास्तविक लगने वाली'अज्जी' कितने ही वास्तविक ऐतिहासिक तथ्यों को अपनी अन्तर्दृष्टि से उजागर करती है।

उपन्यास के अन्य पात्र—नागी, रामण्णा, जन्ना आदि या तो सृष्टि-शक्ति की अवहेलना करने वाली जो मनोवृत्ति है उसके समर्थक या विरोधी हैं, या फिर मात्र साक्षी हैं।

अपनी अपरिपक्व मान्यताओं को बलात् दूसरों पर लादनेवाले लोगों की कहानी भी इसमें समाविष्ट है। इसीलिए यातना की जो ध्वनियाँ आज के हम लोगों को सुनाई नहीं पड़ती थीं, वे यहाँ सुनाई पड़ रही हैं।

पुत्तूरु (दक्षिण कन्नड़)
१० अक्तूबर, १९६८

इति,
शिवराम कारंत

दूसरा संस्करण

यह उपन्यास १० वर्षों के बाद पुनर्मुद्रित हो रहा है, कुछ जल्दबाजी में ही; जिसका कारण यह है कि भारतीय ज्ञानपीठ ने इस उपन्यास को १९७७ के पुरस्कार के लिए श्रेष्ठ उपन्यास के रूप में मान्यता दी है। लेकिन पाठकों की मान्यता मेरे प्रति न होकर यदि इस उपन्यास की वस्तु के प्रति होगी तो मुझे बहुत प्रसन्नता होगी।

सालिग्राम
दक्षिण कन्नड़
१६ अगस्त, १९७८

इति
शिवराम कारंत

मूकज्जी
एक अतीन्द्रिय कथालोक

एक

कहानियाँ सुनने और पढ़ने का सभी को चाव होता है। पढ़-लिखे लोग तक उनमें रुचि लेते हैं। लिखित कहानियों के साथ लेखक का नाम दिया रहता है। लिखते-लिखते उसकी यदि प्रसिद्धि हो जाती है, तो फिर धीरे-धीरे उसकी बातों को वेदवाक्य की नाईं प्रामाणिक माना जाने लगता है।

मैं भी एक पढ़ा-लिखा आदमी हूँ। अर्थात् पाठशाला में पढ़ा हूँ। कुछ सीढ़ियाँ कॉलेज की भी चढ़ चुका हूँ। अपने बचपन में मैंने काफी कहानियाँ पढ़ी हैं। पढ़ते समय और किसी बात की सुध-बुध तक नहीं रहती थी। कहानी चाहे बत्तीस पुतलियों की होती, चाहे यमन-यामिनी की; पढ़कर जी खिल उठता था। जब तक पढ़ता रहता कहानी, तब तक ही नहीं; बाद को भी जब तक वह ध्यान में बनी रहती, उसके चरित्र और कितने ही प्रसंग चलचित्र की तरह मस्तिष्क में घूमते ही रहते थे। कुछ इस तरह छा जाती थी मन पर वह कि फिर न इसका बोध होने पाता कि भोजन परोस दिया गया है, न परोसे हुए भोजन को खाने की ही सुध आती। सारी चेतना ही कहानी की भाव-धारा में ऊभ-चूभ हुई पड़ी हो तब ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

धीरे-धीरे पढ़ी हुई कहानियों के विवरण भूलने लगते। मगर पढ़ते समय जो प्रश्न उभर उठते वे बराबर कुरेदते रहते। जैसे यही कुछ प्रश्न : 'सीसम-सीसम दरवाजा खोलो' कहने से क्या सचमुच ही किसी गुफा का द्वार खुल सकता ? क्या अलीबाबा नाम का कोई व्यक्ति कहीं सचमुच हुआ होगा ? या यह निरा काल्पनिक पात्र है कोई ? क्या यह सम्भव हो सकता है किसी ने कठपुतली से बातें करायी हो, कठपुतली आदमी की तरह बोल सकी हो ? क्या कोई बाजीगर हाथ में ककड़ लेकर अपनी जादू की छड़ी घुमाये तो उसके स्थान पर हीरा या मोती दिखाई पड़ सकता है ? ऐसे-ऐसे अनगिनत प्रश्न और अनगिनत सन्देह मन में उत्पन्न होने लगते। मगर तब मेरी उम्र ऐसी नहीं थी कि इस प्रकार की बातों को असम्भव मानकर अनदेखा-अनसुना कर सकूँ। उतनी समझ ही तब नहीं हो सकती थी।

कैसे कहता कि हिरण्यकशिपु ने जब खम्भे में लात मारी तो नरसिंह का प्रकट

होना असम्भव था ? कैसे ध्रुव के सीधे नक्षत्रलोक में जाने की बात को असत्य मान लेता ? किस आधार पर कहता कि नहीं, भगवान् ने उसे गंगा वर प्रदान ही नहीं किया होगा ? क्या यह कहता मैं कि दुर्वासा जैसे ऋषि ने शाप ही नहीं दिया ? या दिया भी हो तो उसका परिणाम वह नहीं हो सकता जिसका पुराणों में उल्लेख मिलता है ? मेरा मन बार-बार यही कहता था कि ये सब पौराणिक कथाएँ यदि झूठी नहीं हैं तब वत्तीस पुतलियाँ या अलीबाबा और चालीस चोर जैसी कथाएँ ही क्योंकर झूठी होंगी ? मेरी बुद्धि तो उन दिनों इसी तरह सोचा करती थी।

आगे चलकर जब कुछ अधिक पढ़-लिख गया तब अपने आस-पड़ोस में ही जो सब आये दिन घटित हुआ करता उसे स्वयं अपनी आँखों देखता। साथ ही, अपनी बुद्धि के अनुसार हर बात को समझने की कोशिश भी करता। इस प्रकार जैसे-जैसे मेरा लोकानुभव बढ़ता और परिपक्व होता गया, मेरा मन गूंजने लगा कि उन कहानियों पर विश्वास करने में कोई विशेष हानि नहीं। कारण स्पष्ट था: उनसे कहीं अधिक अनहोनी और विचित्र बातें हमारे अपने गाँव में घर-घर हो रही थीं। इन घटनाओं के पात्रों में से कुछेक के तो नाम भी गिना सकता हूँ। मगर आप लोग यह न समझ बैठें कि मैं उन नामों के व्यक्तियों की ही बात कर रहा हूँ।

कहा जाता है हमारे पड़ोस के गाँव के तिप्पय्या ने अपनी जान-पहचान की कई विधवाओं को बहला-फुसलाकर उनकी सारी सम्पत्ति हड़प ली। इतनी बात तो बिलकुल सच है कि तिप्पय्या अब बहुत धनवान बन गया है। और यह भी उसी तरह सच है कि मैंने ही नहीं, किसी और ने भी कोई काम-धाम करते उसे कभी नहीं देखा। एक बार तो यह भी सुनने में आया कि उसकी प्रजा में से किसी के एक छोटे लड़के ने पिछवाड़े के बगीचे से एक अँबिया चुरा ली तो उसे खम्भे से बँधवाकर उसने कोड़ों से पिटवाया। उन विधवाओं की सम्पत्ति हड़प लेने की बात जितनी सच्ची है उतनी ही यह घटना भी सच है।

ये सारी कहानियाँ मेरी अपनी तरुणाई के दिनों की सुनी-सुनाई हुई हैं। सुनते समय कुछ बातें तो इतनी अविश्वनीय लगतीं कि मैं भीतर-भीतर परेशान हो उठता था। अनेक-अनेक प्रश्न सामने आ खड़े होते और मुझे झँझोड़ने लगते। उदाहरण के लिए, मैं सोचने लगता कि गाँव के आस-पास जो कई भले और जाने-माने लोग रहते हैं और जिनकी मान-गौन है, वे सब क्यों चुप्पी साधे बैठे रहे ? इतना ही नहीं, वही तिप्पय्या यदि उनमें से किसी के यहाँ जाता तो उसका खूब स्वागत किया जाता ! यहाँ तक कहा जाता, "आइये-आइये श्रीमान्, आप आज पधारे तो घर में मानो साक्षात् गंगा मैया ही उतर आयीं ! विराजो !" क्यों कहा जाता इस प्रकार ?

अपने छुटपन में यह प्रश्न मैंने आजीमाँ से पूछा था। तिप्पय्या का नाम लेकर पूछा था। उत्तर में वे इतना ही बोलीं, "कलमुँहा वही का ! भाड़ में जाये ! उसका तो नाम भी कानों में पड़ जाये तो नहाकर पवित्र होना पड़े।" आजीमाँ के शुद्ध और निष्कलंक व्यक्तित्व और खरी बात कह देने के स्वभाव पर मुझे बहुत गर्व है। हाँ, इसलिए तो और भी कि वे अपनी ही आजीमाँ हैं और अपने ही घर है। उन्हें न किसी से लेना है न किसी को देना।

और एक घटना सुनाऊँ। एक बार हमारे गाँव में रातों-रात खून हुआ, डाका पड़ा। कुहराम मच उठा। तिप्पय्या के ही एक कुटुम्बी के यहाँ यह घटना घटी। सब लूटलाट कर घर को आग भी लगा दी गयी। उस दिन यह कुटुम्बी, पूर्णय्या उसका नाम था, गाँव में नहीं था। काशी गया हुआ था। घर पर होता यदि तो उसकी भी वही दुर्गति होती जो घर के रखवाले मुब्बा की हुई। मुब्बा ने उन आततायियों को घर में घुसने से भरसक रोका। दुहाई डाली। उनकी आवाज़ से उन्हें पहचानने में भी नहीं चूका। मगर हाय-पुकार करके भी कितनी देर उन्हें अटकाये रख सकता था ! उन गुण्डों ने बेरहमी से उसे मार डाला।

मुब्बा का बेटा, नौ-दस बरस का रहा होगा, उसके पास ही सोया हुआ था। हल्ला सुनते ही डर के मारे भागकर कहीं आमने-सामने ही जा छुपा। उसने शायद यह सारा काण्ड होता हुआ अपनी आँखों से देखा था। घर-मालिक पूर्णय्या के काशी से लौटकर आने तक वह इधर-उधर वहीं लुका-छुपा ही रहा। तीन दिन बाद पूर्णय्या गाँव लौटा तो, हो सकता है, उस लड़के ने जो कुछ देखा था वह सब अपनी तरह से मालिक को बताया हो।

बाद में, डाके और खून की खबर पाकर कुन्दापुर से पुलिसवाले आये। पीछे-पीछे अफ़सर लोग भी दो-एक आये। पूरी तरह से जाँच-पड़ताल की गयी। गाँव के लोग मन ही मन जानते थे कि सारी करतूत तिप्पय्या की है। मगर पुलिस ने अपनी तहकीकात करने के बाद जो रिपोर्ट लिखी वह तिप्पय्या के घर की ड्योढ़ी पर बैठकर।

काशी से लौटकर आने पर पूर्णय्या ने खूनी और लुटेरों का पता लगाने की बहुत-बहुत चेष्टा की। मगर परिणाम कुछ न निकला। पेड़ और दीवारों के बोल नहीं होते, कोई और बताने का साहस कैसे करता ! मुब्बा बेचारा मर चुका था। सच्चाई बताने के लिए वह अब आता कहाँ से ? मगर उसके बेटे ने भी अब बयान यह दिया कि वह तो तीन दिन से घर ही नहीं था। कानोंकान लोगों ने ज़रूर कहा कि तिप्पय्या का हाथ रहे बिना यह सब हरगिज़ नहीं हो सकता था। बाद में ये ही कानाफूसी करने वाले कहते सुने गये कि सारा काण्ड पास के गाँव वालों की करतूत थी।

आजीमाँ ने इस पर इतनी ही टिप्पणी की थी कि आसपास के किसी भी गाँव

के गुण्डों को तो यहाँ आये अब पचासों बरस बीते !

एक और छोटी-सी कहानी सुनाता हूँ। यह है रामण्णा की पत्नी नागी की। रामण्णा तेल बेचता है। वही उसका धन्धा है। जीवन चलाने का साधन। घर में उसका अपना कोल्हू है। एक भूल वह कर बैठा था। अपना व्याह उसने एक सुन्दर लड़की से किया, फिर गौना भी कराया, मैंने यह सब अपनी आजीमाँ से ही सुना है। इसलिए यह सब बताने में कहीं कोई भूल-चूक या और कोई बात होने की गुंजाइश ही नहीं है।

उस लड़की का नाम था नागी। था नहीं, है। कुछ ही दिनों बाद कुछ लोग उसे रामण्णा के यहाँ से भगा ले गये। चार बरस उसे अपने यहाँ रखकर इन लोगों ने खूब ऐशो-आराम किया। उसके बाद जैसे जूठी पत्तल को उठाकर फेंक देते हैं, नागी को भी उन लोगों ने घर से निकाल दिया। बहुत दिनों बाद मेरा एक मित्र गाँव में एक बार मेला देखने आया। नागी पर नज़र पड़ते ही उसने मुझे उँगली के इशारे से दिखाते हुए बताया, "यही है वह रामण्णा की पत्नी नागी ! एक दिन अपने रूप और सौन्दर्य में यह दूसरी रम्भा थी। अब देखो क्या दशा हो गयी है बेचारी की ! बिलकुल ठठरी बन कर रह गयी है।"

मुझे तत्काल चार बरस पहले सुनी हुई उसकी कहानी याद हो आयी। मैंने पूछा मित्र से, "पर इसकी यह दुर्दशा हुई किस कारण ?" मित्र ने उसी क्षण उत्तर दिया, "रूप के कारण ! इसके अपने सौन्दर्य के कारण !" मैंने आजीमाँ से जो कुछ सुना था वह भूला नहीं था। इसीलिए बात की तह तक पहुँचने के उद्देश्य से मित्र से कहा, "पर कौन व्यक्ति था इस सबके मूल में, उसका नाम भी तो बताओ !" मित्र धीरे से हँसा और इतना ही बोला, "वह व्यक्ति रामण्णा नहीं था। नागी स्वयं भी अपनी दुर्गति के मूल में नहीं थी। लोग बस इतना ही कहते-बताते हैं।"

"फिर क्या हुआ ?" मैंने स्वभावतः आगे जानना चाहा। मित्र ने बताया, "सुनते हैं मायके वालों ने उसे अपने यहाँ बुला लिया था। सोने-चाँदी का लालच दिखा-दिखाकर उसे फुसलाना चाहा। चार-पाँच दिन कहीं छिपाये भी रखा उसे। उसके बाद तो फिर वही कहावत चरितार्थ हुई कि नदिया में नहाने उतरे तो जाड़े का क्या डर ! एक दिन उसे कहीं रखैल बना ही दिया। गहने-कपड़े से लादकर कुछ ऐसा जाल उस पर फैलाया कि वह रामण्णा को भूल ही गयी। अच्छा ही हुआ शायद। रामण्णा के यहाँ रहती तो कोल्हू का बैल ही तो हुई रहती।"

दो क्षण ठहरकर मित्र आगे बताने लगे, "मगर तब नागी की कच्ची उम्र थी। अपने व्याहे मर्द को ठुकराकर भागने की समझ और हिम्मत ही उसमें कहाँ रही होगी। पर जहाँ रखैल बनाकर उसे डाला गया वहाँ भी बाद में कुछ-न-

कुछ गड़बड़ हुई। हुई ही होगी। क्योंकि जो लोग उसे ले गये, जहाँ वह इतने दिनों रही कि दो-दो बच्चों की माँ तक बन गयी, वे भी अब नहीं अपनाना चाहते उसे। पहले जैसी चमक-दमक और सुन्दरता तो अब नहीं ही रह गयी थी।"

मैंने बार-बार और तरह-तरह से कुरेदकर अपने मित्र से जानना चाहा कि आखिर यह जो कुछ हुआ उस सबके मूल में था कौन व्यक्ति। मगर मेरे मित्र ने नहीं बताया तो नहीं ही बताया। साफ इनकार ही कर दिया बताने से। मैंने भी जोर नहीं दिया। मित्र ही आगे कहता गया, "अब तो यह चुसी हुई अँबिया होकर रह गयी है। रखैल के रूप में घर डालने वाला भी था तो कोई मनचला ही। हो सकता है जी भर चुका हो। हो सकता है बोझे को और न ढोना चाहा हो। और एक दिन यह कहकर कि तेरे गहने नये सिरे से बनवाये देता हूँ, उससे सब कुछ लेकर अपने हाथों में कर लिया और फिर उसके पास जाना-आना ही नहीं बन्द कर दिया, उसे और उन दोनों छोटे-छोटे बच्चों को खाना-पीना देना तक बन्द कर दिया।"

सुनाते-सुनाते मित्र उदास हो आया था। थोड़ा सँभलकर आगे बोला, "लोग कहते हैं कि सब तरह बरबाद होकर लाचारी में एक दिन यह उसके द्वारे जाकर बहुत-बहुत रोयी और गिड़गिड़ायी। मगर उस व्यक्ति ने इस बेतरह दुतकारा और वहाँ से भगाते हुए यहाँ तक कहा, 'राँड कहीं की, अब अगर कभी इधर आने का नाम भी लिया तो कमर तुड़वा दी जायेगी। जा काला मुँह कर अपना।' बेचारी चली आयी।"

मित्र का कण्ठ भर्रा आया। कहता गया वह, "बस्ती का बड़ा आदमी था। अपनी चला ही सकता था। कमर भी तुड़वाते उसे क्या लगता। मगर तबसे ही इतनी बुरी हालत हो गयी है इसकी कि देखते तक नहीं बनता। छोटे-छोटे दो बच्चे हैं। इधर-उधर गाँव में ही फिरती-भटकती है। कहीं कुछ मजूरी या बेगारी मिल जाती है तो उसी से बच्चों का और अपना पापी पेट किसी तरह भर लेती है। सुनते हैं इतने पर भी रामण्णा ने इसके पास जाकर प्यार की भीख माँगी। कहा, 'अपने घर चलकर रह।' नागी सुनकर फफक पड़ी। आँसू बहाते-बहाते बोली थी, 'नहीं, इस जूठी पत्तल को तुम मत छुओ। मेरे हाल पर ही छोड़ दो मुझे।' और यह कहकर बच्चों को घसीटती हुई-सी सामने से हट गयी थी।"

"इतना भलापन ! और इतनी हिम्मत !" मेरे मुँह से निकला।

"किसमें, नागी में ?" मित्र ने मेरी ओर देखते हुए पूछा।

"हाँ, नागी का भलापन और रामण्णा का भलापन और हिम्मत दोनों !"

बात वहीं रह गयी। मित्र ने और कुछ नहीं ही बताया। शायद किसी प्रकार का कोई भय कारण रहा हो। जो हो, मेरी उत्सुकता बनी की बनी रह गयी। उस समय मैं यही कोई सोलह का रहा हूँगा। लोकानुभव बिलकुल ही नहीं था।

मेरा मन नागी के लिए स्वभावतः सहानुभूति से भर उठा। उसके बच्चों को देख-सोचकर तो मैं द्रवित ही हो आया। कोई स्त्री किसी पुरुष के लिए अपने घर तक को छोड़ गयी या कोई पुरुष ही किसी स्त्री के पीछे पागल हो उठा : ऐसी बातें सुनने पर न हँसी आती मुझे, न कुछ अचरज ही होता। आये दिन ही कहीं न कहीं कोई घटना होती रहती। सच्चाई गनगढ़ी कहानी में भी होती है और वास्तविक जीवन में भी।

नागी के बारे में अपने मित्र से जो सब मेले में सुना उससे कई बातें बिलकुल स्पष्ट हो आयीं। जिन लोगों ने उसे ससुराल से बुलवाया उन्होंने जान-बूझकर ऐसा किया। उन्होंने ही उसे बाद को बहकाया भी। और इसमें नागी के मायके वालों का भी पूरा-पूरा हाथ था। फिर उसे जात-बिरादरी तक से अलग किया गया। दोनों बच्चों को पालने-पोसने का समूचा भार उस अकेली, टूटी हुई, और सब तरह से मारी पड़ी औरत के ऊपर पड़ा। इतने पर भी रामण्णा के निहोरे करने पर उसके घर न जाकर उसने रामण्णा की इज्जत रखी। कितनी भली थी वह सचमुच! मेरे मन में विचारों का एक ताँता लग गया और नागी के प्रति एक सहज दया उमड़ आयी।

मेरा मित्र चला गया तो मैंने नागी को दूर से देखा। उससे बात करने को जी में आयी। तभी जैसे वह कपालेश्वर शिवालय के आसपास लगे उस मेले की भीड़ में कहीं आँखों से ओझल हो गयी। काफी देर बाद अकस्मात वह दिखी। चने-कुरमुरेवाले की दूकान के आगे खड़ी थी। शायद बच्चों के लिए मूढ़ी ले रही थी। फिर एक पेड़ के नीचे ऐसी जगह जा बैठी जहाँ भीड़ नहीं थी। मैं थोड़ा घूमता-घामता धीरे से उसके पास जा खड़ा हुआ। मेरे पास एक दुअन्नी थी। उसकी ओर बढ़ाते हुए मैंने कहा, "लो, इन बच्चों के लिए कुछ ला दो।" सुनते ही इस तरह घूरकर उसने मेरी तरफ़ देखा कि मुझे आज तक भी याद है। कभी-कभी तो याद आने पर काँप तक जाता हूँ।

उसने कड़वे स्वर में उत्तर दिया था, "तुम्हारी पालतू कुतिया नहीं हूँ मैं, बड़े आये दया दिखाने वाले!" मैंने सामान्य भाव से समझाना चाहा, "क्यों इस तरह बिगड़ती हो, मैंने तो बच्चों का खयाल करके ही देना चाहा। नहीं लेना चाहती तो मैं जोर नहीं दूँगा। तुम्हारे कष्टों की कहानी मैंने सुनी है। हमारे ही गाँव की रहने वाली हो तुम। इसीलिए मुझे और भी लगा······।" नागी कुछ बोली नहीं, आँखें उठाये सामने शून्य में देखती रही। मैं ही बताने लगा, "इसी गाँव का हूँ, अड़िगों के घराने का। मूकज्जी का पोता···।" सुनकर कुछ देर आँखें फाड़े हुए मेरी ओर देखती रही। उसके बाद बोली, "ना बाबा, मैंने जो पाप किया है उसका दण्ड मैं ही भुगतूँगी। मुझे किसी का पैसा नहीं चाहिए।"

मैंने फिर एक बार कहा, "मैं तुम्हें तो नहीं, बच्चों के लिए दे रहा था। इन

बेचारों ने किसी का क्या बिगाड़ा है। कुछ खा लेते, दो घड़ी खुश रहते, बस!" नागी की आँखों से आँसू की बूँदें टपकती दिखीं। पैसे उसने फिर भी नहीं लिये। स्वाभिमानी ग़रीब के सहज दर्द के साथ बोली, "बच्चों के लिए भी दूसरों का पैसा मुझे नहीं चाहिए। अपनी शक्ति-भर मेहनत करूँगी। जो मिलेगा उसी से इनका पेट पालूँगी। कल को बड़े होकर ये भी कहीं क्या माँगने नहीं जायेंगे, अपने परिश्रम पर जियेंगे।" बच्चों को लेकर जाते-जाते इतना और बोली, "तुम बड़े घर के लोग हो। आजीमाँ तो देवता ही हैं। तो भी किसी की कृपा मुझे नहीं चाहिए। तुम बुरा मत मानना।"

मेरा गला भीग आया। नागी से कहा, "नहीं, बुरा क्या मानूँगा। एक तरह से तुम ठीक ही तो कहती हो। तुम्हारा साहस देखकर तो, सच आश्चर्य होता है।" *मिटपिटाती हुई-सी बोली वह, "नहीं मालिक, मैं तो एक शिखण्डी की तरह हूँ।"* मैं नहीं समझा उसका भाव तो उसने बताया, "यक्षगान के प्रसंग में आचार्य भीष्म के सामने खड़े शिखण्डी की तरह ही मैंने भी हठ पकड़ी है मालिक! मैं उसे छोड़ने वाली नहीं। अपनी मेहनत से, अपना पेट काट-काटकर, बच्चों को सयाना बनाऊँगी। फिर इन्हें उसके सामने खड़ा करके कहूँगी, 'लो, इन्हें देखो और पहचानो, और कहीं लाज-शर्म बची हो तो चुल्लू-भर पानी में डूब मरो!' मैं भूलूँगी नहीं।"

मैं कुछ सोच में पड़ा। भीतर-भीतर जैसे घबराया भी। नागी से बोला, "तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आयी। मुझसे यह सब क्यों कहती हो? मैं तो पढ़ता हूँ, विद्यार्थी हूँ अभी।" उसने स्पष्ट किया, "नहीं मालिक, तुम्हारे लिए कुछ नहीं कहा मैंने। पर जो कहा है मैंने वह अपने मामा को सुना देना। बस। वह समझ जायेंगे। इसीलिए तुमसे कहा है।"

और नागी बच्चों को लिये हुए वहाँ से चली गयी।

ऐसा लगा मानो शिखण्डी का शाप मुझे भी लग गया है। नागी की बातें सुनकर मेरा जी मसोस उठा। मेला देखने की सारी इच्छा वहीं बुझ गयी। मन मर गया। रह-रहकर ऐसा लगता जैसे कहीं कुछ भूल कर बैठा हूँ।

उखड़ा-उखड़ा-सा घर आया और आजीमाँ को देखते ही बोला, "आजीमाँ, क्या जाने क्यों आज जी अच्छा नहीं लगता। चलो, बाहर चबूतरे पर बैठें।"

आजीमाँ की बूढ़ी आँखें मेरी तरफ़ को उठीं। मेरी बेचैनी भाँपते उन्हें दो क्षण भी नहीं लगे शायद। बोलीं, "क्यों, ऐसे क्यों हो रहे हो? आज तो बड़ा अच्छा दिन है, त्योहार है।"

मेरी सारी खिन्नता उमड़ पड़ी। जेब से उस दुअन्नी को निकालकर आजीमाँ की हथेली पर रखते हुए कहा, "आजीमाँ, इस दुअन्नी के कारण मुझसे बड़ी भूल हो गयी है आज। जिसे देने लगा था उसने ली भी नहीं और ऊपर से, उलटे,

बुरा-भला कहा। अपनी और अपने मामा, दोनों की फ़जीहत करायी।"

आजीमाँ दुअन्नी हाथ में लिये रहीं, बोली कुछ नहीं।

मैं ही फिर पूछ उठा, "आजीमाँ, मेरे मामा कितने हैं? कौन-कौन हैं? मेरी माँ के तो कोई भाई थे नहीं शायद!"

मैं पूछ ही रहा था कि आजीमाँ बीच में ही बोल उठीं, "यह दुअन्नी किसी स्त्री को दी थी क्या? उसने लौटा दी? पर तुमने दी ही क्यों?"

आजीमाँ के इस तरह पूछने पर मुझे सभी कुछ बता देना पड़ा।

वे तब बोलीं, "उसने इस दुअन्नी को छुआ दिखता है। अभी भी गर्म बनी हुई है। जरूर नागी ने छुआ है। उसके जी का सारा उबाल इसमें भर आया है।"

"आजीमाँ, उसने मेरे मामा को बुरा-भला कहा। वह तो हठ पकड़े..."

"तुम नागी की कहानी नहीं जानते बेटा," आजीमाँ बताने लगीं, "उसका अपना रूप ही उसकी मौत बन गया। बचपन में ही बहकावों में आ गयी। ऊपर से लालच। जाल में फँस गयी। अब समझ आ गयी है। हठीली वह है ही। भीतर-भीतर बहुत पछतावा है उसे कि जूठी पत्तल बनी और जूठनें खाती रही।"

"हाँ, आजीमाँ, उसके मुँह से दो बार 'जूठन' शब्द निकला।"

"अपने पति को छोड़ गयी थी न! जूठन तो बनी ही! पर उसकी दुर्गति सारी हुई तुम्हारे मामा के ही कारण। पर जाने दो उन बातों को बेटा। जैसा जो बोयेगा वैसा काटेगा भी।"

"तो क्या, आजीमाँ, बच्चों के बड़े हो जाने पर भी वैसा ही करेगी वह जैसा कहती है?"

"क्यों नहीं करेगी? वह हठ की भी पक्की है और सत्य भी उसके साथ है!" आजीमाँ ने निश्चय-भाव के साथ कहा।

"पर आजीमाँ, वह जो पति के बुलाने आने पर भी उसके साथ गयी नहीं?" मैंने तर्क किया।

"हाँ बेटा, अन्तर की सच्ची है इसीलिए तो नहीं गयी। आज के संसार में सत्य का पल्ला थामता ही कौन है! कौन जाने बीते युगों में कैसा क्या रहा। किन्तु यह अगर जीवित रही, दोनों बच्चे इसके समझदार बने, और तुम्हारे मामा भी तब तक जीवित रहे, तो यह इन बच्चों को उनके सामने खड़ा करके कहे बिना नहीं रहेगी कि मुझे अनाथ बनाकर तुमने सड़क पर फेंका मगर लोग नहीं कहेंगे क्या कि इन बच्चों के पिता तुम हो—तुम!"

"आजीमाँ, इसका कौन भरोसा! सिर पर बदले की आग सवार है। मुझे तो भय है कहीं मामाजी का खून न कर-करा दे!"

आजीमाँ सुनकर हँस पड़ीं, "पगला कहीं का! मौत क्या इज़्ज़त और आबरू से बढ़कर होती है?"

फिर आजीमाँ जब आराम करने गयीं तब उन्होंने पास बैठाकर समूची कहानी सुनायी। हमारे गाँव के दक्षिण में डेरिंगे नाम की एक छोटी-सी बस्ती है। वहाँ मेरे एक मामा रहते हैं। नागी की कहानी इनसे ही सम्बन्धित है। मगर ये मेरे सगे मामा नहीं हैं। आजीमाँ से यह जान लेने के बाद जाकर कहीं तसल्ली मिली मुझे।

उन्होंने बताया मेरे पिता ने दो विवाह किये थे। मेरी माँ उनकी दूसरी पत्नी थी। पहली पत्नी प्रसव के समय ही चल बसी थी। उनके ही भाई थे यह मामा जो नागी की बरबादी का कारण बने। मुझे इन मामा के बारे में कोई ज्ञान न था। आजीमाँ से सब सुनने के बाद जरूर सोच में पड़ा कि आखिर कैसे होंगे यह मामा जिन्होंने एक भोली स्त्री को इस दुर्दशा को पहुँचाया!

जो हो, मुझे इस बात का सन्तोष था कि नागी का कोप-ताप छूत बनकर भी मेरे निकट नहीं आ सकता था। इन मामा से नाता जुड़ता भी था तो बहुत दूर का, टूटे हुए सम्बन्ध-सूत्रों का।

पर सचमुच कितनी-कितनी विचित्र होती हैं वास्तविक कहानियाँ! कितनी पीड़ा और दर्द-भरी, कितनी करुण! अच्छा इसलिए यही कि इन कहानियों के स्थान पर कल्पित कहानियाँ ही सुनें। कम से कम ऐसी तो वे नहीं ही होंगी।

बचपन में मुझे और छोटे भाई को आजीमाँ ने बीसियों कहानियाँ सुनायी थीं। इतनी अनोखी और बाँध लेने वाली होती थीं वे कि हम तो बस उन्हीं के हुए रहते। आगे चलकर जैसे-जैसे समझ आयी और स्कूल भी जाने लगा तो अपनी पुस्तकों में भी कहानियाँ पढ़ने का अवसर मिला। मगर आजीमाँ की कहानियों जैसा मजा इनमें नहीं ही होता।

बाद को जैसे-जैसे बुद्धि का विकास हुआ, अलीबाबा और चालीस चोर जैसी कहानियाँ, जो अबतक अद्भुत और रमणीय लगती आयीं, बिलकुल नीरस और बे-सिर-पैर की जान पड़ने लगीं। यहाँ तक कि रामायण के आख्यान भी ऐसे ही भान होने लगे। अनेक बार मैं सोचा करता कि गाँव में और आस-पास नित्य ही कोई-न-कोई घटना हुई रहती है, क्यों ये कहानीकार लोग उनपर न लिखकर ऊलजलूल बातें लेकर उन पर मनगढन्त किस्से रचा करते हैं! मुझे तो कम-से-कम ऐसा ही लगता।

मैंने पहले कन्नड में और बाद को अंगरेजी में एक के बाद एक कितने ही कहानी-संग्रह और उपन्यास पढ़े। सब कोई कहते, उन रचनाओं में जीवन की वास्तविकताओं का चित्रण किया रहता है। क्या जाने क्यों मुझे ऐसा कभी नहीं लगा।

इस सन्दर्भ में अपने एक सहपाठी मित्र का यदि उल्लेख करूँ तो अनुचित नहीं माना जायेगा। यह मित्र है - जनार्दन, अपना जनार्दन। पुस्तकें की पुस्तकें

यह यों लील जाता था जैसे सचमुच ही कोई बकपक्षी हो और मछलियों पर घात लगाये पोखर के किनारे खड़ा हो। जिन पुस्तकों को यह विशेष रुचिकर पाता उन्हें पढ़ने के लिए मुझे भी दिया करता था। इतना ही नहीं, मेरे पढ़ लेने के बाद उन पर मेरी टिप्पणियाँ जानने का भी आग्रह करता था। यहाँ संक्षेप में कुछ इसके बारे में बताऊँ।

हम दोनों एक ही गाँव में जनमे और एक ही साथ खेलते-कूदते बड़े भी हुए। बचपन से ही जैसे अभिन्न साथी थे हम दोनों। उसके बिना मेरी, और मेरे बिना उसकी, कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। मेरा नाम यों सुब्बाराव था, पर वह मात्र 'सुब्बा' पुकारा करता था। इसी प्रकार उसका नाम जनार्दन था, पर मेरे लिए वह केवल 'जन्ना' था। गाँव में प्राथमिक शिक्षा पूरी करने के बाद हम दोनों आगे की पढ़ाई के लिए शहर के स्कूल और फिर कॉलेज में भी साथ-साथ ही गये। सगों से भी अधिक हम एक-दूसरे को मानते और चाहते थे। छुट्टियों में गाँव आते तो एक साथ और आकर आधा-आधा दिन या तो वह हमारे घर होता या मैं ही उसके यहाँ। उसने कॉलेज से आर्ट्स में पास किया, मैंने इतिहास लेकर।

मगर यह अब उतने महत्व की बातें नहीं। महत्व की बात है यहाँ यह बताना कि इतना मेल होते हुए भी हमारे दृष्टिकोण कितने अलग-अलग थे। एक बार उसने एक उपन्यास मुझे पढ़ने को दिया। उपन्यास का शीर्षक था: 'कटाक्ष'। कथा-नायिका अनुपम सुन्दरी थी। एक रसिक युवक, जो रसिक होने के साथ-साथ धनी और गुणी भी था, उसके कटाक्षों का आखेट बन गया। सुना है उसी अलबेली ने पत्र के रूप में एक कविता लिखकर उस युवक की ओर फेंकी। दोनों में प्रेम अंकुरित हुआ और फिर पल्लवित होता हुआ, तीन दिन में कहिये चाहे तीन मास में, एक पूरा वृक्ष ही बन उठा।

युवक कुछ दिनों बाद गाँव लौटा तो बड़े-बूढ़ों ने आग्रहपूर्वक उसका विवाह एक और ही लड़की के साथ कर दिया। युवक ने चूँ तक नहीं की। यह लड़की बेचारी उसे पति-देवता मानकर पूजती रहती, पर पतिदेव भीतर-भीतर क्यों उदासीन हैं इसे जान पाना उसके लिए असम्भव ही रहा। कुछ दिनों बाद पति को बैंगलूर में अच्छी-सी नौकरी मिल गयी और दोनों जाकर वहाँ रहने लगे। संयोग से युवक की प्रेयसी के पिता का भी स्थानान्तरण बैंगलूर हो गया। पिता के साथ वह भी वहाँ पहुँची। उसने निश्चय किया था कि विवाह करेगी तो उस युवक के साथ ही। बैंगलूर में किसी तरह यह ज्ञात होते ही कि उस युवक ने इसी बीच विवाह कर लिया है, उस युवती ने विष खा लिया।

हायँहाय उसे अस्पताल ले जाया गया और उसके प्राणों की रक्षा हो गयी। उस युवक का वह डॉक्टर परिचित था जो अस्पताल में इस केस को एटेण्ड कर रहा था। एक दिन बातों-बातों में डॉक्टर से इस सारी घटना का पता युवक को

चला। बेचैन-सा हो उठा वह कि अस्पताल जाकर किसी प्रकार उसे देखे। डॉक्टर के साथ उस वार्ड में पहुँचकर देखने का अवसर मिला तो युवक चौंक रह गया कि युवती उसकी ही प्रेयसी थी। डॉक्टर भावुक था। युवती को समझाया-बुझाया गया। और अन्त में ये दोनों विवाह-सूत्र में बँध गये। उस युवक के लिए भी यह अनुकूल सिद्ध हुआ। पत्नी को उसने गाँव भेज दिया और पीछे इनका प्रणय विकसित होने लगा। डॉक्टर को पता चला तब सारी बात खुलकर सामने आयी।

क्या हुआ आगे चलकर, इसे जाने दीजिये। उपन्यास में लेखक ने इन दोनों के प्रेम को पुरुरवा-उर्वशी के दिव्य प्रणय के साथ उपमित किया था। पर पुरुरवा की पत्नी का स्थान तो यहाँ पति-हाथ ठुकरायी गयी विवाहिता को दिया नहीं गया! इतना ही नहीं, उस पर कुरूपा और दुराग्रही होने के दोष भी लगाये गये। मैं तो उस उपन्यास को आधा भी न पढ़ सका। आगे की कहानी जनार्दन के ही मुँह सुनी। स्वयं न पढ़ने का कोई खेद या पछतावा मुझे कभी अनुभव नहीं हुआ। किन्तु जनार्दन की दृष्टि से यह कहानी अद्भुत थी। यहाँ तक कह उठा वह

"कथा-नायिका हो तो ऐसी हो!"

"चुप करो!" सहन न कर सकने पर मैंने उसे झिड़क दिया।

"क्यों?"

"इसलिए कि सब बकवास है, सजीव पात्र तुम्हारे इस उपन्यासकार के हाथों की कठपुतली हुए इस प्रकार नहीं नाचा करते।"

बाद को अपनी बात स्पष्ट करते हुए मैंने उसे बताया कि जिस रूप में चरित्रों का चित्रण उपन्यास में किया गया है उससे तो लगता नहीं कि जैसे उनका अपना भी कोई व्यक्तित्व हो। उनमें तो जैसे विचारशक्ति का अभाव है। जो दिशा-मोड़ कथानक में दिखाये गये हैं वे सब अस्वाभाविक हैं।

"अर्थात् तुम समझते हो ऐसा हो ही नहीं सकता?" जनार्दन ने तर्क किया, "किन्तु जगह-जगह जो इसी प्रकार की घटनाएँ होती रहती हैं! पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध होते ही इस प्रकृति के हैं।"

"ठीक है, मान भी लें कि कोई पुरुष और स्त्री परस्पर बहुत घनिष्ट हो तब कुछ भी हो सकता है, पर तुम्हारे इस उपन्यासकार ने तो प्रेमी और प्रेमिका का जिस रूप में चित्रण किया है वह तो स्वाभाविक ही नहीं है।"

"जाने दो मित्र", जनार्दन ने अन्त में कहा, "मतभेद हो ही सकता है। उसके लिए आपस में क्यों झगड़ें।"

बात वहीं छोड़ दी गयी। मगर इस घटना के बाद से ऐसी पुस्तकें मुझे देने की उसने फिर नहीं सोची। उसके विचार से मैं जीवन के राग-रंगों से अनभिज्ञ, इतिहास की निर्जीव घटनाएँ देखनेवाला, और दिवगत राजों-नवाबों के जन्म-

मरण के दिनांक बतानेवाला नीरस व्यक्ति था। अर्थात् मैं यह बता सकता था कि ताजमहल कब बना और किसने बनवाया, यह नहीं कि किन भावनाओं को वहाँ रूपायित किया गया है और क्यों इतनी विवशकर हुईं वे भावनाएँ। मैंने जनार्दन की इन धारणाओं का कभी प्रतिवाद भी नहीं किया। लाभ भी क्या होता !

मेरा मित्र वह आज भी बना हुआ है, उसी तरह। बचपन के स्नेह न भूलते हैं न भुलाये बनते हैं। जो भी कहता है वह, मैं सुन लिया करता हूँ। वाद-विवाद कभी नहीं करता। किसलिए करूँ ? अपने गाँव की कोई सच्ची घटना सुनाने लगूँ तो कहेगा, "हो सकता है।" जानबूझकर कोई मनगढ़न्त कहानी कहूँ तो भी शायद यही कहेगा, "हो सकता है।" यह 'शायद' इसलिए कि मूर्खता प्रकाश में लाने के लिए कोई मनगढ़न्त कहानी मैंने कभी सुनायी नहीं। वैसे मैं उसकी वास्तविक दुर्बलता से भी परिचित हूँ। उसे यदि कर्तव्य-अकर्तव्य और उपादेय-हेय आदि नीति के ऊँचे-ऊँचे आदर्शों का रंग चढ़ाकर कोई कहानी सुनायी जाये, जो किसी घटना पर भी आधारित हो, तो चकित होकर कह उठेगा, "अच्छा ! यह सच है क्या ? तब तो एक भले-मानव प्राणी का बलिदान ही हो गया। कितना धैर्य था कथानायक में !" और इसके बदले यदि नित्य के जीवन की कोई ऐसी घटना सुनायी जाये जिसमें व्यवहार-आचरण सम्बन्धी कोई समस्या उठायी गयी हो या किसी प्रकार की छल-प्रवंचना समाविष्ट हो, तो कहेगा, "पर ऐसा होता क्यों है ? कोई हल नहीं निकाला जा सकता क्या इसका ?" और ऐसे में यदि उसी से हल सुझाने के लिए कहा जायेगा तो साफ़ कन्नी काट जायेगा यह कहकर कि क्यों माथा-पच्ची करें।

सच तो यह है कि उसका सारा वास्ता अपने मन की शान्ति से रहता है। उसकी शान्ति बनी रहे, और बराबर ही शान्ति उसे मिलती रहे, ऐसी बातें उसे सुनायी जायें तो बस ठीक। फिर तो यह तक देखना आवश्यक नहीं कि जो बात सुनायी जा रही है वह जीवन में सचमुच घट भी सकती है या नहीं। कहानी रोचक लगे उसे, इसके लिए उसमें कोई अन्तर्द्वन्द्व या षड्यन्त्र या कोई बुरा उद्देश्य ही पिरो देना काफ़ी है। अवश्य, अंत उसकी मनोरुचि के अनुरूप होना चाहिए।

मुँह सुनी कहानी, जीवन की घटना, और उपन्यास कथा : कहानियों के ऐसे वर्गीकरण का एक कारण भी होता है। इनमें से कुछ कहानियाँ, जिनमें वास्तविकता नहीं होती, हमारे मन को संतृप्ति देती हैं। राम ने रावण को मारा, क्योंकि उसने सीता का अपहरण किया था। सीता का सन्धान पाकर भी राम ने तत्काल कुछ नहीं किया, वन-वन भटके और युद्ध करके ही उन्हें मुक्त किया। हनुमान से सीता की सारी व्यथा-कथा सुन चुके थे राम, फिर भी अग्निपरीक्षा ली। इस स्थल पर कठोर से कठोर हृदय भी काँप उठता है। पर सीता के अग्निपरीक्षा से पार होते ही हम एक संतृप्ति की साँस लेते हैं। जैसे मन ही मन यही

चाहते रहे होते हैं। पर यह अग्नि में तपाकर सीता को परिशुद्ध प्रमाणित करना कथाकार का हमारी आँखों में धूल झोंकना नहीं हुआ क्या ?

नित्य के जीवन में भी ऐसा ही हुआ करता है। विपत्ति से बचाने वाला कोई न हो तो हमें उसकी सृष्टि करनी पड़ती है। और इस प्रकार राम का संशयग्रस्त मन हमें सह्य हो जाता है। किन्तु जब नारी अपने बच्चों सहित अनाथ बन गयी और तब विगलित होकर रामण्णा उसे ग्रहण करने गया तो इसे उसकी पत्नी-परायणता कहकर हमने हँसी उड़ायी ! मेरे उन दूर के मामा ने ही जो कुछ किया उसपर किसी ने क्या किया ? नया खिला फूल मिलते ही बासी को ठुकरा दिया : उनके इस कुकृत्य पर किसी ने कुछ भी कहा ?

इतना सब कह जाने के बाद भी, मैं नहीं जानता कि कहानी कहने या सुनने के प्रति मेरी अपनी इच्छा कितनी प्रबल है और कितनी नहीं, यह आप समझ सके हैं या नहीं। मुझे तो वास्तविक जीवन अवास्तविक-सा ही लगता है, और अवास्तविकता वास्तविकता-सी दीख पड़ती है। ऐसा लगता है जैसे इन दो छोरों के बीच का अन्तर बहुत कम हो। उसी प्रकार कम जिस प्रकार सत्य और असत्य की सीमाओं के बीच हुआ करता है। किन्तु एक-दूसरे के इतने समीप होकर भी ये परस्पर कितनी दूर-दूर, कितने विभिन्न रहते हैं ! मैं तो यह देख-जानकर विस्मित हुआ रह जाता हूँ।

मेरे अन्तर में इस प्रकार का विस्मय, अनेक-अनेक प्रश्नों और समस्याओं को लेकर, प्रारम्भ से ही रहता और पनपता आया है। इसका मुख्य कारण है मेरी आजीमाँ और उनके सपने, उनका परादृष्टि-संसार। उनकी इन अनुभूतियों में से न तो कोई सुप्तावस्था के स्वप्न हैं, न ही किसी अपेक्षा को लेकर संजोये हुए दिवास्वप्न। वे अपनी परादृष्टि से जो कुछ देखती हैं, अनुभव करती है, उसे न मैं ही देख सकता हूँ, न आप ही। इनका आनन्द और सत्य आपके साथ बाँटने से पहले मैं अपनी इन आजीमाँ की, अधूरी ही सही, पूर्व कथा सुनाने का प्रयत्न करूँगा। अब तक जो कुछ कहा है मैंने यह लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व का बीता हुआ है। आगे जो कहूँगा वह इसके बाद का है।

आजीमाँ मेरी सगी आजी नहीं हैं। मेरे परदादा की बेटी हैं। यानी मेरे पिता के पिता की बहिन। यह ठीक है कि उनका जन्म इस घराने में हुआ। मगर यह आवश्यक नहीं था कि घर के बाहर वाले पीपल की तरह जड़ें जमाये यहीं बनी रहें। स्वाभाविक यह था कि ब्याह के बाद ससुराल वाले कुल-परिवार में कटहल या इमली की तरह वहीं फलतीं-फूलतीं। कटहल या इमली का उल्लेख मैंने उनकी अडिगता और दीर्घ आयु के कारण किया। कटहल की धरन सैकड़ों बरसों तक बनी रहती है। इमली का मूसल घिसता ही नहीं। आजीमाँ तो सचमुच ही इमली जैसी हैं : उनकी बातों में खटास और मिठास दोनों का मेल रहता है। किन्तु

ससुराल की अँगनाई में अपना स्थान बनाने के बजाय वे हमारे घर के सामने वाले पीपल की जटाओं की तरह यहाँ मायके में ही जीवन बिताती आयी हैं।

परदादाजी ने शायद कोल्लुर की मूकाम्बिका देवी की स्मृति में इनका नाम मूकाम्बिका रखा था। घर में पुकारते सब 'मूकी' थे। मूकी आजी मेरे दादाजी से दो-तीन बरस छोटी रही होंगी। दस बरस की होते न होते उनका शास्त्रोक्त विधि से विवाह कर दिया गया था। दादाजी की शक्ल मुझे बिलकुल याद नहीं। उन्हें मरे हुए भी बरसों बीत गये। वे जीवित होते तो आजीमाँ की कही कितनी ही बातें, जो समझ में नहीं आ पातीं, उनसे जाकर समझ आया करता। आजीमाँ के बचपन के बारे में जो कुछ भी मैं जानता हूँ, आँखों देखा नहीं है। इन्होंने कभी अपनी बहू, अर्थात मेरी माँ, को बताया होगा। माँ अपनी आधी-अधूरी याद से जो कुछ बता सकीं उतना ही मुझे मालूम है। समझ आने पर कितनी ही बातों का मैंने विवरण जानना चाहा। मगर ज्ञात यह हुआ कि आजीमाँ स्वयं भी बहुत कुछ बताना नहीं चाहती थीं।

ब्याह के बाद इन मूकाम्बिका का गौना हुआ। ससुराल हमारे गाँव से तीन कोस पर चम्बूर में बतायी जाती है। यह तब पूरे दस की नहीं थीं, वर भी चौदह का रहा होगा। कितनी कम वयस! ब्याह के चार-छह मास के ही अन्दर उनके पति को सन्निपात हुआ और आजीमाँ पर उस अबोधावस्था में ही वैधव्य की विपत्ति आ टूटी। उसके बाद ही परदादाजी उन्हें घर ले आये। इस घर का नाम इस कहानी में मैं बार-बार लेता आया हूँ। यह जहाँ का तहाँ बना है; इतना ही नहीं, बीच की कालावधि में इसके रूप और आकार में चार-चार बार परिवर्तन हो चुके हैं। आजीमाँ के जीवन में क्या परिवर्तन हुए, यह बता सकने का साधन मेरे पास कोई नहीं। अवश्य, ममतावश या भक्ति-भावना में परदादाजी ने जो नाम उनका रखा था उसे बाल-वैधव्य के महाप्रहार ने अन्वर्थक बना दिया! दिनों मूकी पुकारी जाती रही थीं, अब यथार्थ में मूकी (गूँगी) बन ही गयीं।

घर का काम-काज करतीं और करती रहतीं, न कभी आलस न किसी भी काम से कभी कतराना। केवल बोलती न थीं। बिलकुल आवश्यक हो जाने पर मुँह से निकलता तो प्रसंगानुसार एक शब्द : 'हाँ' या 'नहीं' या 'है'। आजीमाँ के उन दिनों की कल्पना तक नहीं की जा सकती। उतनी छोटी वय में वैधव्य की गाज गिरी और वह बची रहीं जीवित, यही अपने में असाधारण था। उस स्थिति में जीवन के प्रति मोह का रंच भी बना रह जाना तो सम्भव ही न था। कहा यहाँ तक जाता है कि बरसों तो ये गाँव के अन्दर ही रही थीं। कभी भी वह गाँव की सीमा के बाहर गयी ही नहीं।

मेरे दादाजी बूढ़े हुए तो उनकी इच्छा काशी जाने की हुई। आजीमाँ से कहा उन्होंने, "चल बहिन, एक बार काशी ही हो आयें!" आजीमाँ ने ना करते हुए

कहा, "जो भगवान वहाँ है वही तो यहाँ भी है!" और वे भीतर जाकर बैठ गयीं। फिर किसी को माहम न हुआ कि तीर्थयात्रा के लिए उनसे कहे।

दादाजी नहीं रहे, तब से उनके स्थान पर आजीमाँ ही घर की दीवार की तरह टेक बनी हुई इस कुटुम्ब की देखरेख करती आयी हैं। परलोकवासी हुए दादाजी, उनके थोड़े ही दिनों बाद दादीजी चल बसीं। घर में तीन-चार प्राणी नये जनमे, तीन-चार पहले के चिरविदा ले गये। मेरे पिता तो आजीमाँ की ही गोद में पल-पलकर बड़े हुए। इनसे ही बहुत-कुछ उन्होंने सीखा और ग्रहण किया। जीवन में अनेक ज्वार-भाटे पिताजी ने अपनी आँखों देखे, झेले और पार किये। आजीमाँ अविचल दीपशिखा-सी धीरज और सहारे का स्रोत बनी रहीं। अन्तिम समय आया पिताजी का तो आजीमाँ के मुँह से केवल इतना निकला, "जाने की बारी एक न एक दिन सबकी आती है। अकेली शायद मैं ही हूँ जिसकी घड़ी नहीं आती!"

मैं तब बिलकुल बच्चा ही था। आजीमाँ ने यह बात कुछ इतनी गहरी पीड़ा भरे भाव से कही थी कि मेरे रोंगटे तक खड़े हो गये थे। उनका उस दिन का सारा व्यवहार मुझे अद्भुत लगा था; उनकी एक-एक बात विचित्र जान पड़ी थी। शव के पास कुछ देर वह खड़ी रहीं, फिर जैसे अन्तर की किसी गहराई से कहती जान पड़ीं, "तुमने अच्छा ही किया कि बहू को अपने से पहले परलोक भेज दिया। बच्चों की चिन्ता मत करना। मैं देखभाल कर लूँगी। तुम शान्त मन से परलोक की यात्रा करो!" जैसे दादाजी की आत्मा वहीं उपस्थित हो और उसे सम्बोधित करते हुए आजीमाँ कह रही हों।

मुझे बेहाल और अटूट आँसू बहाते देख बोली थीं, "यह क्या, बेटा? यही क्या तुम्हारी बहादुरी है? धरती पर अजर-अमर होकर कोई नहीं आता। समय आने पर सब कोई जाते हैं; सभी को जाना होता है। धीरज बाँधो और जाकर चिता में अग्नि का स्पर्श कर आओ। यह सब एक खेल है। एक सपना। और सपना तो सपना ही होगा! हम जैसा चाहेंगे वैसा ही हमारा सपना बनेगा। भला चाहेंगे तो भला बनेगा, बुरा चाहेंगे तो बुरा। जो कुछ भी यह सामने है, इसे अगर भ्रम मानो तो यह भ्रम है, सच मानो तो सच। जाओ, शान्त मन से जाओ और अपना कर्तव्य पूरा करो!"

मेरी हिचकियाँ बन्द न हुई देख वे और समझाने लगीं, "बेटा, ये सब सपने-अपने अपने जीवित रहने तक ही सच होते हैं। ऐसी ही बात परिवार और गृहस्थी की भी होती है। ऐसा ही सुख-दुख का रहता है। यह जगत् भी इसी नियम में बँधा हुआ है। और जगत् ही नहीं, तमाम देवी-देवता भी। वे सब भी हम जैसा चाहते हैं वैसे ही बनते हैं। अपने जी को कड़ा करो। तुम्हें काहे का डर? जाओ, इन्हें विदाई दो! तुम तो उनकी नर-सन्तान हो!"

कितनी शक्ति और सान्त्वना थी उनके शब्दों में ! शव उठाया गया। सब विधि-विधान पूरे करके घर लौटा। आजीमाँ धैर्य की प्रतिमा-सी द्वार पर ही खड़ी थीं। मुझे याद नहीं आती कि उस दिन के बाद ऐसी सान्त्वना की बातें उन्होंने किसी से भी कभी कही हों। उस दिन आजीमाँ मुझे सचमुच ही अद्‌भुत और विलक्षण व्यक्ति जान पड़ीं।

पिताजी के बाद घर की ज़िम्मेदारी भी उन्होंने मेरे ऊपर कभी नहीं पड़ने दी। न ही मेरी और छोटे भाई की पढ़ाई कभी बन्द होने दी। कब कैसी क्या स्थिति रही घर में, यह हम कोई कभी जान ही न सके। पढ़ाई पूरी करके मैं घर लौटा। उम्र अभी कच्ची थी। तो भी आजीमाँ ने समझा-बुझाकर, एक प्रकार से आग्रह करके, उसी वर्ष मेरा ब्याह करा दिया। घर में एक बहू आयी। पिताजी के बाद से घर ही नहीं चलाती आयीं आजीमाँ, खेतीबारी के भी सारे काम पूरे कराये। हम दोनों भाइयों को तो इतने प्यार-दुलार के साथ उन्होंने रखा कि माँ का अभाव कभी भासा ही नहीं।

इतने घनिष्ठ थे हमारे सम्बन्ध कि भूल न सकते थे कभी, न भुलाये जा सकते थे। मेरे बारह का होने तक तो मुझे और छोटे भाई को सामने बैठाकर न जाने कहाँ-कहाँ की कहानियाँ सुनाया करती थीं। कैसे-कैसे भावों से भरपूर रहा करती थीं वे कहानियाँ ! कभी भी याद हो आती है उन कहानियों की अब तो जी खिल उठता है। अपनी कहानियों के द्वारा ही आजीमाँ कभी हम दोनों को इतना हँसातीं कि हम लोटपोट हो-हो जाते, और कभी तो दुनिया के दुख-दर्द की सुना-जताकर हमें रुआँसा तक बना देतीं। ऐसी किसी बात पर मैं अगर पूछता ही, "आजीमाँ, क्या यह सच है ?" तो वे हलके-से मुसकराती हुई कहतीं, "बेटे, कहानी तो कहानी ही है।"

मैं इस पर अगर उलझन में पड़ता हुआ पूछता, "तो क्या तुम मानती हो वह सब सच था ?" आजीमाँ गम्भीर हो आतीं और कहतीं, "तुम सोच देखो आप ही ! बाघ के मुँह गाय स्वयं जाती है ?" मैं उदास होता हुआ विरोध करता। वे तब कहतीं, "तो क्या यह चाहोगे तुम कि बाघ को आहार न मिले और वह सिर पीट-पीटकर प्राण दिया करे !" मेरे पास एक ही उत्तर होता, "नहीं आजीमाँ।" वे धीरे से समझातीं, "बेटे, इस जगत् में एक जीव दूसरे जीव को खाकर ही जीवित रहता है। बाघ जिये तो गाय जीवित नहीं रह सकती, और यदि गाय जीती है तो बाघ क्या खाकर रहे !"

"गाय और बाघ दोनों ही क्यों न जीवित रहें, आजीमाँ ?" मैंने उत्साह के साथ कहा। आजीमाँ मुसकरायीं, "ठीक तो है, पर तब बाघ जीवित रहने के लिए खायेगा क्या ? घास खायेगा क्या ? तब तो बेटा, कहानी ही बदल जायेगी। घास चरने जायेगा बाघ तो वह कहेगी, 'तुम ज़रा ठहरो, मैं अपने सब बच्चों को

एक बार जाकर देख आऊँ !' क्या होगा फिर ?" मेरे पास उत्तर न था।

आजीमाँ से सुनी हुई कितनी ही कहानियाँ मैंने समय-समय पर अपनी पत्नी सीता को भी सुनायी। नयी बहू ही तो थी उन दिनों वह। अपने माता-पिता और भाई-बहिनों को याद कर-करके अक्सर उदास हो जाती। उस समय कभी-कभी तो मैं बिलकुल ही आजीमाँ का स्वाँग भरकर कहता, "देखो, यह सच है कि मनुष्य का जीवन एक सपना मात्र है। हो सकता है यह निरा अभिनय ही हो। फिर भी, जब तक यह दृश्यमान है तब तक अपना कर्तव्य है कि जो भूमिका हमें दे दी गयी है उसे पूरा करने का प्रयत्न करें। जो वेष हमने ग्रहण कर लिया है उसके अनुरूप नाचते रहें। यही धर्म है।" इस प्रकार आजीमाँ की बातों का अपनी समझ के अनुसार अर्थ लगाता हुआ अपनी पत्नी को धैर्य बँधाया करता था।

अब भी मैं जब कभी आजीमाँ के सामने खड़ा होता हूँ मुझे यही लगता है कि मैं बच्चा ही हूँ। उनकी वे कहानियाँ अवश्य अब सुनने को नहीं मिलतीं। इस बीच दो बच्चों का मैं पिता भी बन गया हूँ। इन बच्चों ने भी आजीमाँ से उस तरह की कहानियाँ नहीं सुनीं। मैंने कभी सुनाते हुए उन्हें देखा नहीं। वैसे भी जब से सीता इस घर में बहू बनकर आयी है, आजीमाँ ने घर-मालकिन का पद उसे दे दिया है। स्वयं घर की तमाम जिम्मेदारियों से अलग हो गयी हैं। पिताजी जीवित थे, तब भी यह उन्होंने कभी नहीं जताया कि घर-मालकिन वे हैं। जितना जो करना उस समय आवश्यक था, उसे पूरा करने में उन्होंने कोई कमी नहीं रखी। अब शायद दुनिया के झंझटों से अपने को बिलकुल ही दूर रखने के लिए वे स्वयं ही अलग सी बनी रहती हैं।

एक बात का मुझे बहुत दुख है। हमारे यहाँ नाते-कुटुम्ब के या और भी परस्पर परिचय के लोग-बाग आते हैं वे कभी आजीमाँ के पास तक नहीं जाते। पहले जो लोग आजीमाँ के पास बैठने-उठते थे वे भी अब जबसे मैंने घर-गृहस्थी सँभाली, उनके पास तक नहीं फटकते। गाँव वाले कुछ ऐसा समझते हैं कि वे सठिया गयी हैं।

उनके इस तरह समझे जाने का एक और कारण भी हो सकता है। उनके हाथ में यदि कोई चीज आ जाये, या बच्चे ही कहीं से कुछ पा जायें और लाकर उनकी हथेली पर रख दें, तो आजीमाँ थोड़ी देर आँखें मूँदे बैठी रहेंगी और उसके बाद आप-से-आप न जाने क्या-क्या बड़बड़ाने लगतीं। यह सब सुन-सुनकर लोगों ने धारणा बना ली कि वे पगला गयी हैं, नहीं तो सठिया जरूर गयी हैं। कभी-कभी तो यहाँ तक होता कि वे बैठे-बैठे अपने से ही बक-झक करने लगतीं या आपे से बाहर होकर कुछ बोलने लगतीं और तब देर-देर तक चुप ही नहीं होतीं।

जब कभी ऐसा होता तो परायों को ही नहीं, सगे-सम्बन्धियों को भी बुरा लगता। कई बार तो उन दोनों बच्चों में से ही कोई आकर उनके हाथ में कुछ

ग्ख देता। वे अपने स्वभाव के अनुसार दो-चार सेकण्ड बाद ही क्या-न-क्या बड़-बड़ाने लगतीं। बच्चे समझ तो कुछ पाते नहीं, दौड़े-दौड़े अपनी माँ के पास जाते और उससे कहते, "माँ-माँ, आजी कहती हैं उन्होंने एक बहुत बड़े शैतान को देखा है। उसके सिर पर सींग भी हैं। माँ वह शैतान कौन है?" सीता बच्चों को बर-जते हुए कहती, "तुम उनके पास मत जाया करो। वे क्या देखती हैं, किसे क्या कहती हैं, इस सबसे तुम्हें क्या?"

बच्चे मान जाते, लेकिन कई बार हठ भी पकड़ने लगते। कहते, "आजी क्या झूठमूठ ही कहती हैं, माँ?" अन्त में पत्नी को उन्हें डाँटना पड़ता, "मैंने कहा न चुप रहो!" इस प्रकार कह-सुनकर पत्नी को आये दिन ही बच्चों से निपटना पड़ता। पर अब यदि बाहर वाले ही नहीं, घर के बच्चे भी आजीमाँ की अटपटी बातों पर उन्हें पागल समझते तो मैं उसका क्या उपाय करूँ? आजीमाँ और मेरे सम्बन्ध इतने गहरे और अटूट हैं कि बच्चों की ऐसी बातें अब भी कभी जानकारी में आती हैं, मेरे मन को बहुत ही ठेस लगती है।

एक दिन ऐसे ही किसी कारण से जी खिन्न था। उनके पास बाहर चबूतरे पर जा बैठा था। मेरी ओर देखे बिना वे आप ही कुछ बड़बड़ाये जा रही थीं। मैंने अपने मन में कहा: सचमुच इतने बुढ़ापे तक जीना नहीं चाहिए। अगले ही क्षण उनके मुँह से निकला, "तुम्हारे लिए भी आजीमाँ बोझ बन गयी क्या? तुम भी अब चाहने लगे मैं मर जाऊँ!" और कहने के साथ ही वे ज़ोर से हँस पड़ीं। मैं पानी-पानी हो गया। भीतर कुछ डरा भी। बड़े अनुताप के साथ मैंने कहा, "आजीमाँ, माफ़ कर दो। तुम्हारा उस तरह बड़बड़ाना देख मैंने एक क्षण के लिए ऐसा सोचा, यह सच है। मगर उसका मतलब यह नहीं कि तुम हमारे लिए बोझ बन गयी हो या तुम्हें हम नहीं चाहते। मेरा भाव केवल इतना था कि मन पर ही जब शासन न रहे तो जिये जाने से क्या लाभ! पर मुझसे बड़ी ग़लती हो गयी सच!"

आजीमाँ हँसती रहीं। बोलीं, "पगले, वह तो मैं समझ गयी थी। मैं क्या तुम लोगों के जी की बात नहीं जानती? मैं तो हँसी में कह उठी थी। तुम्हारे मन का भाव मुझसे छिपा नहीं।" मैंने चकित होते हुए पूछा, "सो कैसे आजीमाँ?" वे बोलीं, "कैसे? पता नहीं कैसे! पर ठीक जैसा मैं उस समय सोच रही थी वही अपने मन में तुमने भी विचारा था।" मैं तब पूछ उठा, "आजीमाँ, कभी-कभी तुम अपने आपसे ही बोलती रहती हो, सो क्यों?" उन्होंने बताया, "बेटा, मुझे कुछ दिखाई पड़ता है तभी मैं बोलती हूँ। ऐसा भी होता है कभी-कभी कि अन्दर से कुछ दिखता है। उस समय मैं अपने आपको भूलकर, जो दिखता होता है उनके प्रति कुछ कहने लगती हूँ। हो सकता है वह भी एक तरह का सपना ही हो!"

एक दिन आजीमां इसी तरह बड़बड़ कर रही थीं। मैं आड़ में खड़ा होकर उनका स्वगत सुनता रहा। बड़ा आश्चर्य हुआ मुझे। ऐसा लगा जैसे कोई घटना उनकी आँखों के सामने घटित हो रही हो और वे जो देखती जा रही थीं उसका ज्यों-का-त्यों वर्णन कर रही हो। सकपकाहट में एकदम से मेरे मुँह से निकला, "आजीमाँ, ठीक तो हो ?" उसी क्षण उनके भावसूत्र टूट गये। पूछा उन्होंने, "तुमने पुकारा क्या मुझे बेटे ?" उत्तर में मैंने कहा, "जी, भोजन तैयार है, चलो।" और वे उठकर मेरे साथ चल दीं।

भोजन के बाद दो घड़ी सोयी रहीं। फिर घर के बाहर चबूतरे पर आकर बैठ गयीं। यहीं आजीमां का अधिकतर समय बीता करता था। यहाँ बैठे-बैठे जब ऊब जातीं तो पीपल के पेड़ तले के चबूतरे पर चली जातीं। उनका यह एकान्त-धाम का स्थान था। यहीं बैठे-बैठे कितनी और कैसी-कैसी कहानियाँ उन्होंने मुझे सुनायी हैं उन्हें याद करूँ तो उनके आगे दूसरों से सुनी, पुस्तकों में पढ़ी, यहाँ तक कि पुराणों तक में आयी कहानियाँ भी फीकी लगेंगी।

अब तो उनकी वय भी नब्बे को पार कर चुकी है।

दो

अब मैं आपको अपने गाँव के बारे में बताता हूँ। आजकल यहाँ कम ही लोगों का आना-जाना होता है। वैसे भी यह वनखण्डों का अंचल है। दो-तीन कोस आगे पश्चिमी घाट की नागनकालु नामक तराई का इलाका शुरू हो जाता है। देखने जायें तो अपने गाँव के आगे एक मील के घेरे में सौ घर भी न होंगे। ये भी दो-चार जातिवालों के ही नहीं, अपने देश में जितनी जातियाँ हैं उन सबके मिला-जुलाकर होंगे।

इतना ही नहीं, सभी जातिवालों की तरह सभी संप्रदायों और पन्थों के भी लोग यहाँ मिलेंगे। मोगेर, कुड़ुबी, बिल्लव भी हैं और जैन और ब्राह्मण भी, तेली और लोहार भी और आडी जात वाले और सीधी जात वाले भी। जैसे भारत की सभी जाति-पाँतियों का यहाँ प्रतिनिधित्व हो। हर एक जाति के एक-दो या ज्यादा से ज्यादा तीन-चार ही घर हैं। गाँव में रिश्ता-नाता नहीं बनता इसलिए पास-पड़ोस वालों में ही ब्याह-शादी के सम्बन्ध जुड़ते-बनते रहते हैं। आजीमां कहा करती

हैं, "लेकिन मैं ही एक ऐसी हूँ जो यहीं जनमी, यहीं बड़ी हुई। मरी भी नहीं, और फिर जीवित ही कहाँ हूँ ?'

घर के बाहर जो पीपल का पेड़ है वह बीसेक हाथ की दूरी पर है। उसके नीचे एक चबूतरा बना हुआ है। यही चबूतरा उनका सबसे प्रिय स्थान है। इसी पर बैठे उनका अधिकांश समय जाता है। मैं जब बच्चा था तब एक बार उनसे पूछा था, "आजीमाँ, यहाँ आकर बैठने पर तुम्हें बहुत अच्छा लगता है क्या ?" वे बोली थीं, "बेटा, यह पीपल भी मेरी तरह यहीं पैदा हुआ है, यहीं पनपकर इतना बड़ा हुआ है। ससुराल तो मैं चार दिन रही थी, जीवन के सारे दिनों तो ठिकाना यहीं मिला। यह भी पुराना हो गया, मैं भी बूढ़ी हो गयी। पर आयु में इसकी मेरी कौन बराबरी। कौन जाने इसकी आयु हज़ार बरस की होगी या दस-पाँच हज़ार बरस की।"

मैं अचम्भे में जा रहा, "क्या कहा, दस-पाँच हज़ार बरस। इतने जुगों तक कोई पेड़ रह सकता है क्या ?" उन्होंने बताया, "यह पीपल है बेटे, मामूली पेड़ नहीं। इसके चारों तरफ़ जो जड़ें दिखाई पड़ रही हैं, वे सब नयी हैं। इसका पुराना तना न जाने कहाँ होगा। मेरे अंदाज़ में पाँच सौ बरस का तो होगा ही। मैं तो समझती हूँ कि जबसे मूडूरु गाँव बसा है, तब से, या उससे भी पहले से, यह पीपल यहाँ है।"

मैं स्कूल का पढ़ा-लिखा : चार बातें सीख गया हूँ। सो घमण्ड जैसा करता हुआ बोला, "मुडूरु ! यह भी कोई गाँव है आजीमाँ ? गाँव हो तो सागर, शिवमोग्गा, कुण्डापुर, उडुपि जैसा तो हो !" आजीमाँ हँसते हुए बोलीं, "हाँ, अपना गाँव अब छोटा रह गया है, इसी से तुम ऐसा कह सके। किसी ज़माने में यह बहुत बड़ा था। इक्केरि से भी बड़ा। आस-पास के जंगल-भरे कोस भर के घेरे में कितने ही खंडहर देखने को मिलेंगे, कहीं गिरी-पड़ी दीवारें, कहीं पुराने परकोटे।"

उनकी इन बातों का ही परिणाम था कि मैं जब गरमियों की छुट्टियों में घर आता तो बिना चूके गाँव के चारों तरफ़ फैले मैदानों में ही नहीं, जंगलों और आगे के वनखण्डों तक में चक्कर लगाया करता। छोटा भाई नारायण तब छोटा था। इसलिए उसकी आँख बचाकर जाता था। साथ में मेरा वह मित्र जनार्दन ज़रूर रहता। और किसी भी दिशा में थोड़ी भी दूर हम जाते कि देखते आजीमाँ का कहा बिलकुल सच है। न वहाँ खण्डहरों की कमी थी न और और चिह्नों की ही।

तीन मन्दिरों के खण्डहर तो घर के पास थे। आगे के जंगलों में और झाड़ी-झुरमुटों में सैकड़ों पुरानी इमारतों की नींवें दबी-उघड़ी दिखाई देतीं। पुराने बड़े मन्दिरों में से तो कोई बचा हुआ अब था नहीं, इसलिए गाँव का शिवालय ही बड़ा गिना जाता था। प्राचीन काल में इससे कहीं बड़े-बड़े मन्दिर यहाँ थे, यह प्रत्यक्ष था। पत्थर की बनी नागमूर्तियाँ तो यहाँ अनगिनत हैं। जहाँ-तहाँ शिव-

लिंगों के खण्ड पड़े मिलते हैं। भग्न मूर्तियों के अवशेष तो जगह-जगह बिखरे हुए हैं।

टूटे-फूटे और चिह्नशेष मन्दिरों से ही देखें और यह मानकर चलें कि एक-एक मन्दिर के अनुयायी भक्तों के पचास-पचास घर होंगे तो तीन सौ घर रहे होंगे। तब यह मानना होगा कि यहाँ तीन हजार की बस्ती जरूर रही होगी। अपनी इतनी-सी ही खोज पर मैं जैसे फूला न समाया। जाकर आजीमाँ को बताया तो वे बोलीं, "हाँ बेटे, एक जुग में यहाँ एक भरापूरा बड़ा नगर बसा हुआ था। अब तो समय ही और से और हो गया।" क्षण भर बाद आगे कहा, "क्या यह गाँव और क्या मैं-तुम, सभी के जीवन में उतार-चढ़ाव होते हैं। उस जनम-मरण के बीच चार दिन जीवित रहना है। कुछ समय कुत्ते की तरह जूठे पत्ते चाटते निकल जाता है, उसके बाद तो चल ही देना होता है!"

मुझे स्मरण है आजीमाँ ने कभी बताया था, "इस मुड़ूर का नाम पहले मुरुर था। मुरुर अर्थात् तीन गाँव। अपने गाँव और उसके बराबर जो झाड़ी-जंगल के दो अंचल हैं: ये तीनों मिलकर ही इस बस्ती की सीमा बनाते थे। तीन गाँवों की इस पूरी बस्ती का नाम मुरुर ही लोकमुख में चलते-चलते 'मूडूर' बन गया है। अब तो यहाँ के लोग इस मूडूर को ही अपना गाँव मानते हैं। सच पूछा जाये तो नडूर, अर्थात् 'बीच का गाँव' हमारा गाँव है। उसके पार का पूर्वांचल वास्तविक मूडूर है, और आगेवाला पश्चिमांचल पडूर। पारवाले मूडूर में पाकड़ का पेड़ रहा होगा और उसके चारों तरफ़ एक बड़ा-सा चबूतरा। इसी से उसे पाकड़ का चबूतरा कहा करते थे। अब वह विलीन हो चुका है: ढहा होगा और घास-पेड़ों के उग आने पर अन्त में जंगल ही जंगल हो गया होगा। एक यहाँ का यह पीपल का चबूतरा जिसके बारे में मैं जानती हूँ। एक चबूतरा पच्छिम की तरफ़ के अंचल में भी था। पता नहीं वहाँ कौन-सा पेड़ था और क्यों उसे बूदी, अर्थात् राख, का चबूतरा कहते हैं। मैं कभी कहीं गयी नहीं, घर से कहीं जाने का नाम ही तो मुझे घबरा देता है।"

मैंने कुतूहल के साथ पूछा, "आजीमाँ बरसों-बरसों से इसी गाँव में रहते तुम्हारा जी नहीं ऊब उठता क्या?" धीमे से बोलीं, "क्यों? यहाँ रहना पसन्द है मुझे।" और वे विचित्र-सी हँसी हँस दीं। मैं पूछे बिना न रह सका। मन ही मन मुझे लग रहा था कि आजीमाँ ने अलग-अलग करके तीनों चबूतरे के नाम क्यों गिनाये? उन्होंने बताया, "अभी बूदी चबूतरे (श्मशान घाट) जाने की बारी जो नहीं आयी है। पीपल के चबूतरे पर इसी से बैठी हूँ। यह पीपल-चबूतरा 'जीवन का चबूतरा' है न?" मैं बिलकुल नहीं समझा। उन्होंने हँसते हुए स्पष्ट किया, "एक चबूतरे पर जनमी, बूदी चबूतरे पर पहुँची नहीं, बीच के अर्थात् जीवन के चबूतरे पर बनी हुई हूँ! यही तो!" कच्ची उम्र का होते भी आजीमाँ के उस गम्भीर विनोद का भाव समझने मुझे कठिनाई न हुई। जीवन की सृष्टि,

स्थिति और लय ! पीपल तो चिरकाल बना रहता है; मानव जीवन वैसा नहीं नश्वर है। लगता है अपनी नश्वर काया के लिये इस चिरन्तर वृक्ष के तले बैठी हुई वे अविनश्वर जीवन का चिन्तन करती रहती हैं।

आजीमाँ से सम्बन्धित एक बात मुझे अत्यन्त विचित्र जान पड़ी है। वे अत्यन्त बूढ़ी हैं। गाँव छोड़कर कहीं दूर कभी गयी नहीं। यहाँ भी सदा घर की ही सीमाओं में रही थीं। फिर भी बाहर तक के लोग उनके नाम से कैसे परिचित हैं ? वे कैसे प्रसिद्ध हैं ? एक और भी विचित्र बात है। हम लोग गृहस्थ है : दस-पाँच जन नित्य जैसे आते-जाते ही रहते हैं। पता नहीं, किस तरह आने-जानेवालों में से कुछ लोगों का क्या भाँप लेती हैं वे कि उनके यहाँ पाँव रखते ही वे हड़बड़ाकर उठ जाती हैं और अन्दर के कमरे में जा बैठती हैं। जब तक वे चले नहीं जाते, भीतर ही रहती हैं। लोग शायद इसलिए भी उन्हें मूक (गूँगी) आजी कहते हैं। पास-पड़ोस के गाँवों से सगे-सम्बन्धी भी जो अपने यहाँ आते हैं उनमें से भी कोई आजीमाँ से बोलने का साहस नहीं करते। आजीमाँ की उम्र का तो इधर-उधर कहीं कोई है ही नहीं। घर आने वालों में से बड़े-बूढ़ों तक को मैंने आजीमाँ को चरण-स्पर्श करके प्रणाम करते देखा है। ये लोग भी कोई उनसे बोलने का साहस नहीं करते। अवश्य ही उनके प्रति इन सबके मन में गहरा आदर भाव है। एक बूढ़ी महिला को तो मैंने यह कहते सुना है कि 'वे तो बस देवता हैं।'

घर में मैं और छोटा भाई नारायण ही थे। नारायण उम्र में मुझसे चार बरस छोटा है। पिता के परलोकवास के बाद कॉलेज की पढ़ाई पूरी करके मैं गाँव में ही रहने लगा था। नारायण अभी पढ़ ही रहा था। अपने बारे में ऊपर बता भी चुका हूँ। कॉलेज की पढ़ाई पूरी करके मैं विवाहित होकर गृहस्थ बन गया था। गौने के बाद सीता घर आयी तो आजीमाँ ने उसे खूब-खूब आशीषें दीं। बाद को तो अपनी आदत के अनुसार बोलती भी बहुत कम ही थीं। अर्थात् कुछ पूछा जाता तो उत्तर दे देतीं, और बस। दोनों बच्चों से अवश्य वे कभी-कभी स्वयं भी बोला करती थीं। नारायण, पता नहीं क्यों, उनसे दूर ही दूर रहा करता। एक दिन जो 'आजीमाँ !' पुकारता हुआ वह घर से बाहर निकलता तो फिर कहीं दो दिन बाद ही राग और लय में बँधी उसके मुँह से 'आजीमाँ !' की पुकार सुन पड़ती। उसका सारा प्रेमभाव जैसे इस राग और लय में ही प्रकट हुआ करता। उनसे बोलता बहुत ही कम था, इसका कारण शायद यह है कि औरों की तरह वह भी उन्हें पगली ही मानता था। दोनों बच्चे किट्टू और चन्द्रू उनसे हिल-मिल गये थे। उनकी बातों को अवश्य वे झूठा मानते थे।

नारायण ने पड़ोस के गाँव के मंजुनाथ के परामर्श से अपनी पढ़ाई मैसूर में पूरी की। उसके बाद शिवमोग्गा (शिमोगा) आकर नौकरी की खोज में लगा रहा। गाँव आता है तो बड़ी छुट्टियों में चार दिन के लिए। मूडूरु के प्रति

उसके मन में कोई अपनापन नहीं है। कहा जाता तो उत्तर देता, "यहाँ इस खण्डहर में मुझसे दो दिन भी नहीं रहा जायेगा।" अब बड़ा हो गया है तो कभी-कभी आकर आजीमाँ के पास चबूतरे पर बैठ जाता है। पर यह उसने भूलकर भी उनसे कभी नहीं पूछा कि वह कैसी हैं। फिर भी एक दिन आजीमाँ ने ही उससे कहा, "कहो छोटू, सुना है तुमने अपनी पढ़ाई पूरी कर ली। अब किसी अच्छी-सी जगह ब्याह भी कर लो और फिर कहीं नौकरी में लगकर सुख से रहो।" नारायण ने उत्तर में व्यंग्य के साथ कहा, "भैया की तरह मुझसे भी तो कहीं यहीं रहने के लिए नहीं कह रही आजीमाँ?" आजीमाँ ने निस्संकोच कहा, "नहीं-नहीं, तुमसे क्यों कहूँगी। तुम्हारे तो यहाँ रहने का योग ही नहीं है।"

इस प्रकार घर में, कहूँ तो परिवार में, इने-गिने ही जन थे। कोई अनावश्यक खर्च थे नहीं, इसलिए घर की आमदनी घर की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त थी। और यों मालूम ही नहीं पड़ा कभी कि दिन के बाद दिन और बरस के बाद बरस कैसे निकलते चले गये। समय काटने के लिए कभी उपाय सोचने-खोजने की भी जरूरत नहीं पड़ी। सब अपने बँधा-बँधाया ठीक से चलता चला गया। आजीमाँ के अस्सी बरस तो यहीं बीते हो। हो सकता है कुछ अधिक हों। मैं भी किसी तरह तीस बरस बिता चुका। हाँ, इतने बरस यहीं रहे आने पर भी अच्छा मित्र पाने की चाह बनी की बनी है। गाँव के लोगों के प्रति मन में आदर भाव नहीं उपज पाया। वे हमेशा ओछेपन और छल-कपट में लगे रहते हैं। मेरा मन उनके प्रति अभिमुख नहीं होता।

यहाँ ले-देकर मेरे मन का कोई मित्र है तो बस जनार्दन : जन्ना। काफी-काफी दिनों बाद छुट्टियों में वह घर आता तो उससे मिल-भेंटकर कितनी और कैसी खुशी होती मुझे! अब तो वह नौकरी कर रहा है। कभी ही कभी हमारे यहाँ आ पाता है। अवसर तो उसे आये हुए बहुत दिन हो जाते हैं तब मैं ही उसके यहाँ चला जाता हूँ। कुछ इधर-उधर की हलकी-फुलकी बातें हो जाती हैं और मन भी बदल जाता है। ऐसे अवसरों पर प्रायः ही मुझे उपदेश करते हुए वह कह उठता, "महात्मन्, तुम्हारा तो बी. ए. पास करना बेकार ही रहा। कहीं से दो-चार पुस्तकें अच्छी-अच्छी मँगाकर क्यों नहीं पढ़ा करते? अखबार-पत्रिका तो एक-दो मँगा ही सकते हो!" मैं मुसकरा देता और कहता, "क्यों? जब कभी कहानी सुनने-पढ़ने की इच्छा होती है तो आजीमाँ उसे पूरा कर ही देती हैं। जितनी चाहो, तुम भी उनसे सुन सकते हो।"

इस पर मुँह बिचकाकर कहा उसने एक दिन, "सुना है तुम्हारी आजीमाँ सठिया गयी हैं आज-कल?"

मैंने उत्तर दिया, "नहीं जन्ना, मुझे तो वे वैसी की वैसी ही दीखती हैं। न उनके रहन-सहन और व्यवहार में कोई वैसी बात है न उनकी बातों में ही। जैसी

इतने बरसों से देखता आया हूँ वैसी ही आज भी हैं।"

"तब तो सच यह समझना चाहिए कि वे पहले से ही उस तरह की हैं। इधर उनका अपने आपसे बड़बड़ाना बढ़ गया होगा!"

"ऐसा भी नहीं है, मगर उनके अपने आपसे बड़बड़ाने से क्या तुम यह अर्थ लगाना चाहते हो कि उनका माथा कुछ फिरा हुआ है?"

"नहीं तो क्या जिनकी बुद्धि ठिकाने हो वे कभी इस तरह करते हैं?"

"जन्ना, क्या कह रहे हो यह तुम? किसका मन जागते और सोते दुनिया भर में चक्कर नहीं लगाता घूमता? मनुष्य का मन चिर-चंचल होता ही है। आजीमाँ का इतना ही है कि उनका चित्त जब जहाँ होता है वहाँ का सब मुँह से कह उठती हैं। अपने अन्तर की बात साफ़-साफ़ सुना देती हैं। इस तरह अपने भीतर की कह देना क्या पागलपन है!"

मेरा मित्र केवल हँस दिया। जैसे कोई ज्ञानी-बुद्धिमान किसी की मूर्खताभरी बात पर उपेक्षा से हँस दे।

मुझे दुख हुआ। भीतर-भीतर ठेस लगी। जनार्दन: मेरा एकमात्र मित्र! वह मेरी आजीमाँ को पागल समझे! भले ही अपने मन की मन में रखता, मेरे मुँह पर तो इस तरह न कहता! अपने भाव को इस तरह उछालने की क्या ज़रूरत थी!

प्रत्यक्ष में मैंने कुछ नहीं कहा। आधे घण्टे तक इधर-उधर की सौ बातें भी उसके साथ करता रहा। पर उसके चले जाने के बाद मन यह ज़रूर सोचता रह गया कि अब उसके यहाँ आने पर अपनी सदा की हार्दिकता के साथ उससे न मिल-भेंट सकूँ तो उसमें कोई अस्वाभाविकता होगी क्या? उसने आजीमाँ के प्रति अपेक्षित आदर नहीं दिखाया, इसलिए मुझे बहुत बुरा लग रहा था।

वे बेचारी इतनी बूढ़ी थीं। बचपन के मात्र दस बरस उन्होंने निश्चिन्तता के साथ बिताये होंगे। उसके बाद जब माँग का सिंदूर पुछ गया तब से फिर तो एक-एक दिन कैसे काटा होगा उसकी कल्पना ही की जा सकती है। न वे रो सकती थीं न किसी के सामने अपने दुख की ही कह सकती थीं। अपने भीतर की आग और बर्फ दोनों को ही, बिना प्रकट होने दिये, उन्होंने दिन-रात मौन रहकर झेला। मैं तो आजीमाँ के उन दिनों की कल्पना करके भी काँप-काँप उठता हूँ। पीड़ा का कैसा शूल-सा बेध जाता होगा उन्हें जब सोचती होंगी कि, भले ही कोई मुँह पर न लाता हो, पर उनकी सूनी माँग को देखकर कौन उन्हें मन ही मन कुलक्षणी न कहता होगा! घर में और आस-पास सब मिलाकर एक केवल दादाजी, आजीमाँ के सहोदर भाई, थे जो उनके जी को निरन्तर जुड़ाये रहे, उन्हें सान्त्वना देते रहे।

पिताजी ने भी आजीमाँ को आदर-भरा हार्दिक प्यार दिया। उनकी हर सम्भव

देख-भाल रखी। मैंने कई मुँह सुना है कि मेरी माँ उन्हें बहुत मानती थी। पर एक बात वे कभी-कभी कहा करती थी: कि आजीमाँ सचमुच आस्तिक हैं या नहीं इसमें उन्हें अक्सर सन्देह हो उठता था। क्योंकि घर में बहुत कड़े-कड़े नियमों और व्रतों का पालन किया जाता था, आजीमाँ ने और सबों की तरह इनके प्रति श्रद्धा कभी नहीं दिखायी। इतना ही नहीं गाँव के मन्दिरों में भी वे कभी-कभार ही जाती। यह तो जरूर नहीं कह सकते कि वे जाती ही नहीं थीं या कभी गयी ही नहीं। पर फेरा मारने भर के अर्थ में वे कभी किसी मन्दिर में गयी भी तो आरती उतारने या प्रसाद बाँटने के समय तक वे रुकी हों वहाँ, ऐसा एक बार भी नहीं देखा गया।

आजीमाँ घर में ही आँख मूँदे बैठी ध्यान किया करती थीं। उनके इस आचरण का महत्त्व मेरी माँ नहीं समझ सकी। उन्हें न कभी जपमाला लिये बैठी देखा न कभी 'ओं नमः शिवाय' का ही जाप करते पाया। इसलिए माँ को एक प्रकार से उन पर दया ही आती। वे आजीमाँ के इस आचरण का अर्थ यह लगाती कि अपने दुर्भाग्य के कारण उनका भगवान् पर से विश्वास ही जाता रहा है। माँ ने इन सन्देहों के बीज मेरे मन में भी बो दिये थे। मैं ऐसा कहूँ या सोचूँ तो गलत न होगा। एक बार की घटना सुनाऊँ। मैं उन दिनों कॉलेज में था। अपने को बड़ा बुद्धिमान समझता था। भीतर-भीतर जैसे एक गुरूर तक था मुझे। आजीमाँ के विषय में मेरे मन में भी उसी प्रकार का सन्देह उपजा। और मैं समाधान के लिए उतावली में आकर सीधे घर को चल पड़ा।

घर पहुँचा तो आजीमाँ उस समय पीपल की परिक्रमा कर रही थीं। मैं सोच में पड़ा: आजीमाँ यदि इस वृक्ष की प्रदक्षिणा करती हैं तब उनके मन में भगवान् के प्रति विश्वास तो निश्चित रूप में होना चाहिए। किन्तु प्रदक्षिणा करने के बाद उन्होंने न तो मस्तक नवाया, न हाथ ही जोड़े, और न धरती पर घुटनों के बल बैठकर माथा टेका। बल्कि चुपचाप जाकर चबूतरे पर एक तरफ को बैठ गयीं। मैं भी मन ही मन सोचता हुआ पास जाकर बैठ गया।

उन्होंने स्वयं पूछा, "क्यों, क्या सोच रहे हो बेटा?"

मैंने अपने विचारों को भीतर ही छिपाये रखने के उद्देश्य से उत्तर में कहा, "कुछ नहीं आजीमाँ, मैं क्या सोचता! अभी तो अपनी परीक्षा ही देकर लौटा हूँ।"

वे बोलीं, "अच्छा तो है! अपनी परीक्षा देने के बाद अब मेरी परीक्षा लेने की सोचते आये!"

मैं तो एकदम सकपका गया। सचमुच जब चला था यहाँ के लिए तो मेरे मन में और-और विचार चक्कर काट रहे थे। पर अब तो उन विचारों के लिए मुझे स्वयं ही अपने ऊपर हँसी आ रही थी।

आजीमाँ कहने लगीं, "मैं सब समझ गयी बेटा ! इस आजीमाँ का भगवान् पर विश्वास है या नहीं, यह परखने के लिए तुम आये थे। इसीलिए मैं पीपल के इस चबूतरे की प्रदक्षिणा कर रही थी।"

"तुमने ताड लिया था आजीमाँ ?"

"कभी-कभी ताड़ लेती हूँ, बेटा। तुम्हारे मन का सन्देह मुझे ज्ञात हो गया था। समाधान मिला तुम्हें ?"

"यह नहीं आजीमाँ। मेरा समाधान जरूरी नहीं है। पर यह भगवान् की प्रदक्षिणा तुमने अपने लिए की है न ?" मैंने सीधे ही पूछा।

उन्होंने उत्तर दिया, "भगवान् की प्रदक्षिणा भी कोई कर सकता है क्या ? मैंने केवल इस वृक्ष की परिक्रमा की है। यह मुझसे भी पुराना है न। समय के फेरे की तरह मैं भी यों ही उसकी परिक्रमा कर लेती हूँ।"

"तुम्हारा भाव क्या यह है कि भगवान् की प्रदक्षिणा कोई न करे ?"

"जो चाहते हैं, वे करें।"

"अर्थात् ?"

"अर्थात् यही कि भगवान् को जो उतना छोटा मानते हैं वे अवश्य करें।"

"आजीमाँ, मेरी एक बात का जवाब दो," मैंने अन्त में उनसे सीधे प्रश्न किया। "मैं बड़ा ज़रूर हो गया हूँ, फिर भी बुद्धि तो जितनी है उतनी ही है। समझ भी कच्ची है। तुम मुझे ठीक से समझा दो तुम भगवान् पर सचमुच विश्वास करती हो ?"

"बेटा, भगवान् तो हमारे विश्वास में है। इस वृक्ष को लगानेवालों ने भी विश्वास ही तो किया होगा। मेरी माँ मुझे साथ लेकर इसकी प्रदक्षिणा किया करती थीं। ठीक वैसे ही जैसे मुझे करते तुमने देखा। वे तो नित्य इससे याचनाएँ भी किया करती थीं। नासमझ रहने तक मैंने भी कुछ मनौतियाँ माँगी होंगी।"

दो क्षण वे कुछ सोचती रहीं। उसके बाद बोलीं, "पति पाने पर मैंने समझा कि यह भगवान् का ही दिया हुआ वर है। अनन्तर तो सर्वनाश ही हुआ। मैंने यह मानकर समाधान कर लिया कि जिसने दिया था उसी ने वापस ले लिया। चार दिन बाद यह भी पागलपन जान पड़ा। विश्वास भी एक तरह का पागलपन ही होता है। मैं यदि परिक्रमा करती हूँ तो उसका अर्थ यह नहीं कि मेरा स्वभाव है वह, या मेरी मान्यता है उस प्रकार की। मैं परिक्रमा केवल इसलिए करती हूँ कि उससे मन को शान्ति मिलती है।"

आजीमाँ ने मेरी ओर देखते हुए, पर दृष्टि जैसे कहीं बहुत दूर लगी थी, कहा, "सच तो, इस चबूतरे पर बैठती हूँ तो मुझे लगा करता है मानो मैं पिछली सैकड़ों पीढ़ियों के एक सिलसिले से जुड़ी हुई हूँ। उन युगों की कल्पना करने पर प्रतीत होता है कि हमसे युगों पहले और भी असंख्य मानव प्राणी रहे होंगे।

कभी यदि उन युगों में भी पूर्व के युगों की सोचने लगती हूँ तो सीधे सन्देह ही उठता है कि तब कोई जीव था भी या नहीं।"

मैं उनकी एक-एक बात को समझने का प्रयत्न कर रहा था। अचानक बैठे में वे जरा हिलीं। उसके बाद एक विलक्षण मुसकराहट होंठों पर लिये हुए कहने लगीं :

"यों तो धरती के सभी मनुष्यों ने मिलकर एक ईश्वर की सत्ता को मान लिया है। मगर पता नहीं वह ईश्वर करता क्या है! कौन उस पर यथार्थ में विश्वास करता है और कौन नहीं, इसका पता तो वह लगाता न होगा। धरती पर ऐसे भी जीव हैं जिन्हें न उसकी चिन्ता है न परवाह। किन्तु भगवान् ने तो उन्हें भी जीवित रखा है न? हम जैसे उसकी खोज करते हैं, वैसे ही उसे हमारी खोज करने की ज़रूरत नहीं। सच तो हम ही उससे प्रश्न किया करते हैं और हम ही उनके उत्तर भी दे लिया करते हैं। अपनी इच्छा के अनुरूप कुछ हुआ तो कहेंगे, 'यह तो भगवान् की कृपा है।' और यदि कोई अनिष्ट हुआ तो कहेंगे, 'भगवान् को ऐसा ही मंजूर था।"

आजीमाँ ने जिस प्रकार से सब बताया उससे मेरा समाधान नहीं हो सका। माँ के मन में सन्देह था, मेरी पत्नी के मन में भी है, और अब मुझे भी लग रहा था कि आजीमाँ का भगवान् पर वास्तव में कोई विश्वास नहीं।

मैं चुप हो गया।

यह देख आजीमाँ बोलीं, "क्यों, चुप क्यों हो गये?"

मैंने बिना संकोच उत्तर में कहा "आजीमाँ, तुम्हारी बात मेरी समझ में तो आयी नहीं।"

उन्होंने कहा, "बेटा, मैं जानी नहीं कि ठीक से समझा सकूँ। मैं तो जानती ही क्या हूँ? दो दिन के लिए बाज़ार देखने आ गयी हूँ!"

"मतलब, आजीमाँ?"

"हाँ बेटा, बाज़ार में आनेवालों को अपना लेना-देना निबटाकर चलते बनना होता है। वह न करके यदि जिस-तिस के साथ बातों में लगे तो, जानते हो, जिस काम के लिए आये होते हैं उसे ही भूल बैठते हैं। सब कोई, तुम और मैं भी, यही तो करते हैं। भगवान् का आदि-अन्त कुछ जानते नहीं, फिर भी कहेंगे कि जानते हैं। हमारी समझ में आ सके, ऐसा वह विषय नहीं, तो भी बतावेंगे उसकी इच्छा ऐसी है, वैसी है। बच्चों का खेल है क्या! वही जानें अपनी इच्छा! कोई और कैसे जान सकता है?"···

"पर आजीमाँ, बड़े-बूढ़े तो कहते हैं यह सब उसकी लीला है!"

"मान लिया उसकी लीला है। उसके बाद?"

"अपनी इच्छा से नचाया करता है वह।"

घर के चबूतरे पर आजीमाँ बैठी थीं। पीपल वाले चबूतरे से अभी ही आयी होंगी। मैं चलने को हुआ तब उन्होंने तो देखकर नहीं पूछा कि कहाँ चले, मैंने स्वयं कहा, "ज़रा जन्ना के यहाँ होकर आता हूँ।"

सुनकर वे इतना ही बोलीं, "अच्छा ! जन्ना के यहाँ ?"

मैंने पांव उठाया ही था कि उनका होंठों-होंठों में बुदबुदाना कानों में पड़ा, "घर ही दीख मिलेगा।"

मैदान के किनारे-किनारे पौन मील चलकर उसके घर पहुँचा तो मालूम हुआ जनार्दन घर पर नहीं है। एक क्षण को भी बिना रुके मैं लौट पड़ा और इधर-उधर घूमता हुआ तीसरे पहर घर पहुँचा।

आजीमाँ उसी चबूतरे पर बैठी थीं। देखते ही मैंने कहा, "तुमने ठीक कहा था, आजीमाँ। वह नहीं मिला, घर ही दीख मिला। मैं आपकी बात समझे बिना ही चला गया था।"

कुएँ की जगत पर जाकर हाथ-मुँह धोया, फिर सन्ध्या-वन्दन करके घर में आया। आजीमाँ सामने खम्भे के सहारे चौकी पर बैठी थीं। हाथ में कुछ था उनके और आप से आप बड़बड़ा रही थीं। मेरे आने की आहट भी शायद उनके कानों में नहीं पहुँची। मुझे कुतूहल हुआ कि सुनूँ वे कह क्या रही हैं। इसलिए पीछे को सरककर थोड़ी दूर पर खम्भे की आड़ में बैठ गया। वे जैसे किसी से कह रही थीं :

"हाँ-हाँ, मैं जानती हूँ तुम इसे बहुत चाहते हो। इस पनडब्बे को तुम भूले नहीं। कैसे भूलते ! उसने तुम्हें दिया जो था ! कितना-कितना उसने भी तो किया होगा इसे बुनकर तैयार करने में ! जंगल से बेत लायी, उसे चीरा, सँवारा। फिर बुनकर तुम्हें दिया : पान-सुपारी रखने के लिए ! तुम समझते हो वह तुझे प्यार नहीं करती ? नहीं। वह भी भली ही है।"

"क्यों, नाराज़ क्यों होते हो ? इसलिए कि तुम्हें ठुकराकर चली जानेवाली को मैंने 'भली' कहा ? तुम्हारे घर वह तुम पर रीझकर आयी थी। लापरवाह तुम थे। तुमने मर्दानगी का घमण्ड दिखाया। याद है क्या कहा था तुमने ! हँसी-हँसी में ही सही, तुमने कहा था, 'मैं तेरे रूप पर रीझनेवाला नहीं, अपने घर जो आता है उसे कोल्हू के बैल की तरह काम में खटना ही पड़ता है !' नहीं कहा था ?

"उसने उत्तर दिया था, 'खटने से मैं भागनेवाली नहीं।' और उसने कड़े-से-कड़े काम से भी कभी जी नहीं चुराया। इस पर भी, रामण्णा तुमने उसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। उसे तन ढँकने के लिए कभी साड़ी का एक टुकड़ा भी लाकर दिया ? वह स्त्री नहीं थी क्या ? उसे अगर नया कपड़ा या गहना पहनने की इच्छा हुई तो उसमें कौन अचरज ? तुम लंगोटी में कोल्हू चलाते थे, वह कैसे नंगी रहती ? हो सकता है तुम्हारे इन व्यवहारों से तंग आकर उसने अपना दुखड़ा कहीं

रोया हो और किसी ने उसे कोई पट्टी पढ़ा दी हो ! वह तो केवल तुम्हें डराने को गयी थी। तुमने खोजा भी होगा बाद को। पर तब तक तो गाय जैसे बाघ की मांद में पहुँच गयी थी।"

मैं आजीमाँ का एक-एक शब्द सुन रहा था। तो यह थी आपबीती रामण्णा और नागी की ! आजीमाँ उसी तरह बड़बड़ाये जा रही थी :

"न जाने कब से शीनप्पा की उस पर नजर थी। एक ही गाँव के तो थे दोनों : शीनप्पा भी, नागी भी। एक दिन मायके आयी वह। बस, पता नहीं कैसे बहकाकर कहाँ ले गया और क्या-क्या उसे लालच दिये। तुम्हें जब मालूम हुआ तब जाकर तुम्हारी मर्दानगी ढीली हुई, घमण्ड उतरा और आँखें खुलीं। मगर तब तक तो सब कुछ हो चुका था। नागी उस शीनप्पा के जाल में फँस चुकी थी।

"फिर भी रातोंरात तुम गये। नागी से विनती की। उसने कहा, 'नहीं, मुझे अब भूल जाओ। जाओ।' उसने यह रोष में नहीं, रंज के मारे कहा था। मन में उसे बहुत पछतावा था। न होता तो यहाँ तक न कह उठी होती, अपने रोष और गर्व के कारण ही तो इस गड्ढे में गिरी ! फिर भी तुम्हारा मन बड़ा विशाल है, रामण्णा। शीनप्पा तो था ही ऐसा। जाने कितने परिवारों का सत्यानाश कर चुका है। आये दिन किसी को उड़ा लाता और चार दिन बाद ठोकर मार देता। छुटपन में इधर भी कभी-कभी आता। घर में पाँव रखता तो जैसे लू की लपट झुलसा जाती मुझे। नागी की भी दुर्गति की उसने। दो बच्चे हुए। फिर घर से ही निकाल दिया।

"मैं जानती हूँ, तुम समझ सके होते तो यह सब न होने पाता। उसे जाने ही न देते। इसीलिए हठ ठाने बैठे हो कि दूसरा ब्याह नहीं करूँगा, वही आये तो ठीक। यों किसी बात की तुम्हें कमी नहीं। चालीस की उम्र भी बहुत नहीं होती। दूसरी स्त्री मिल सकती है। पर नागी जैसी न होगी वह। यों किस बात की कमी है तुम्हें। बहिन-भाई, भांजे-भतीजे सब हैं। मेहनत भी करते हो तुम। फिर भी जीवन जैसे पेरे हुए गन्ने की खोई हो।"

आजीमाँ बोलते-बोलते अपने में खो रहीं। हठात् डूबे-डूबे स्वर में बोलीं, "कहते हैं जगत ईश्वर की माया है। मैं भी मानती हूँ पुरुष-नारी के संयोग से ही यह जगत बना। ये दोनों न होते तो सारा संसार बंजरभूमि होता। जाने क्या है उसमें ! पुरुष और नारी की सृष्टि से ही यहाँ अपार दुख-सुख पनपे, राग-द्वेष बढ़े। ऐसा हठ भी जीवों में अंकुरित हुआ कि जीवन-सागर में रहते हुए ही इसे तैरकर पार करना है। इसलिए अनुभव होने लगा कि जीवन नाम का कोई [illegible] सचमुच है।"

अपने कानों पर विश्वास नहीं हो रहा था मुझे। कितना [illegible] आजीमाँ ! रामण्णा का नाम निकला उनके मुँह से तब समझा कि [illegible]

कह रही हैं। मामा का नाम भी पहली बार सुना। बीस साल पहले की कितनी ही घटनाओं का सिर-पैर समझ में आ गया। मेले वाली नागी जैसे आँखों आगे आ खड़ी हुई। अब तो दोनों बच्चे बड़े हो गये होंगे। मामा के और भी कई काण्ड सुने थे। अब तो सारी ज़मीन-जायदाद उड़ा चुके हैं। बची-खुची छोटे भाई के हाथों बेचकर पता नहीं कहाँ चले गये हैं, बीते बरसों की कितनी-कितनी टूटी-बिखरी कड़ियाँ आजीमाँ के बड़बड़ाने से आज अचानक जुड़ गयी थीं और कई भूले-बिखरे नाते अपने घराने से सटे हुए जैसे जान पड़े।

मुझे लगा मौक़े से एक बार मामा के गाँव जाना अच्छा रहेगा। पता लग जायेगा। नागी पर आगे क्या बीती। नागी की प्रतिज्ञा की भी मन में चिन्ता थी। पता नहीं क्या कर बैठी हो! हठी तो थी ही, मन में ठाने हुए को पूरा करने वाली भी थी। इतने में किसी के आने की आहट सुनायी दी। उसके साथ ही आजीमाँ भी बुदबुदायीं:

"मालूम होता है रामण्णा लौटकर आया। अपनी नागी का दिया हुआ यह पनडब्बा लेने आया होगा। यहाँ छूट गया था। अच्छा है!"

आहट रामण्णा की ही थी। मैं वहीं चबूतरे पर बैठा था। पत्नी लालटेन रख गयी थी। रामण्णा का चेहरा देखा। मानो कुछ बड़ा अनमोल कहीं खो गया हो और उसे पा जायेगा तो क्या-क्या नहीं पा जायेगा! मैंने पूछा : "क्यों रामण्णा, लौट कैसे आये?"

"मालिक, अपना पनडब्बा तो यहाँ नहीं भूल गया? कहीं बच्चों के हाथ न लग जाये?"

"कैसा था?"

मेरा बोल सुनते ही आजीमाँ बोलीं, "तुम यहाँ क्या कर रहे थे बेटा?"

मैंने धीरे से उत्तर दिया, "यों ही बैठा था आजीमाँ।"

"लो, यह है पनडब्बा। दे दो इसे। यही तो एक दौलत बची है इस बेचारे के पास।" आजीमाँ ने पनडब्बा मेरी तरफ़ बढ़ाया।

"तुम्हारे हाथ कैसे लगा यह, आजीमाँ?"

"तुम्हारे मुन्ना के हाथ में था। कुछ देर दोनों यहाँ खेलते रहे। फिर इसे यहीं डालकर चले गये। मैंने क्या चीज़ है यह देखने के लिए उठाया तब जान पड़ा कि इसमें एक रामायण की कथा ही समायी हुई है। दे दो, वह चला जाय!"

मैंने सहज ही बेत की पतली-पतली तीलियों से बुने हुए उस पनडब्बे को खोलकर देखा। उसमें पान-सुपारी कुछ न था।

रामण्णा हँसते हुए बोला, "वह कोई बड़ी चीज़ नहीं, मालिक। असल चीज़ तो यह पिटारी है। यह खो गयी होती तो......"

मैंने पूछा, "क्यों, पान-सुपारी और चूने-तमाखू की डिबियाँ इसमें न थीं?"

"यों मालिक; नहीं है अब तो कोई बात नहीं।` मुझे अपनी पिटारी चाहिए थी।"

"डिबियाँ कहीं यहाँ गिरी होंगी तो दिन में खोज देंगे। ले जाना। पान-सुपारी चाहिए तो दें ?"

"नहीं, मालिक, नहीं।"

"बहुत बातें करते हो बेटा ! मैंने कहा न इसे, दे दो इसका पनडब्बा !" उनका स्वर कड़ा हो आया था।

मैंने बढ़कर दे दिया। उसने दोनों हाथ पसारकर झुकते हुए ले लिया। "बड़े अच्छे भाग्य थे मेरे !"

रामण्णा चला गया तो मैंने आजीमाँ से पूछा, "आजीमाँ, इस मामूली-सी चीज़ के लिए आपने किसी विशेष कारण से डाँटा मुझे ?"

आजीमाँ हँस दी, "हाँ बेटा, रामण्णा बड़ा भला आदमी है। अभागा अकेला हो गया। प्राण न रह जायें तो देह की क्या दशा होती है बेटा ?"

"सड़ने लगती है और एक दिन ठठरी भर रह जाती है।"

"यही दशा इसकी और इसके संसार की हो गयी है। नागी आयी बहू बनकर तब यह पनडब्बा उसने बुनकर दिया था। यह भूल नहीं पाता इसे। इसीलिए अब दौड़ा-दौड़ा आया। मरते दम तक छाती से लगाये सोया करेगा। तुमने अपने हाथ में लिये रहकर इस अभागे को उतनी देर इससे वंचित रखा। इसीलिए मैं नाराज़ हुई बेटे !"

"समझा आजीमाँ, इतनी देर तुम अपने आपमें क्या बुदबुदा रही थीं और क्यों ! रामण्णा को लक्ष्य करके ही तुमने कहा होगा। यहाँ तक कह गयीं तुम तो कि पुरुष और नारी की सृष्टि होने से ही तमाम दुखों और सुखों की सृष्टि हो गयी।"

"मैंने कहा बेटा ! मुझे तो ऐसा ही लगता है। लेकिन तुम क्या समझते हो ?"

"आजीमाँ, मैंने खम्भे की आड़ से सब सुना है। मगर क्यों सृष्टि की रचना भगवान् ने पुरुष और स्त्री के रूप में की, क्यों इस मायाजाल में समूचे जगत को फँसा दिया . यह सब मेरी समझ में नहीं आ सकता। इसीलिए शायद ज्ञानी लोग कहते आये हैं कि माया-मोह से पिण्ड छुड़ाये बिना मुक्ति सम्भव नहीं।"

"ज़रूर कहते हैं ये। पर कहते होते भी माया का अर्थ उन्हें नहीं ज्ञात। ज्ञान बघारने से ही कोई ज्ञानी या बुद्धिमान नहीं बन जाता, बेटा ! इन ज्ञानियों ने ही राम-कृष्ण और शिव और ब्रह्मा को माया के जाल में फँसाया और ये ही उपदेश करते हैं कि माया से मुक्त होने पर ही मुक्ति मिल सकती है। किसकी मुक्ति बेटा ? कैसी मुक्ति ? मुझे तो सुन-सुनकर हँसी आती है।"

आजीमाँ कहती गयीं, "वैष्णव दास-पन्थियों ने घर-बार छोड़-छाड़कर दिन-रात भक्ति के गीत गाये। कितने भ्रम में थे ये लोग? मुक्ति के लिए विनती भी उनसे की जो स्वयं वाम पार्श्व में देवी से युक्त हुए वैकुण्ठ में या कैलाश पर विराजमान थे! वे देंगे मुक्ति जो स्वयं माया-मोह में लिप्त हैं! क्यों आवश्यक हुई उनके लिए देवियाँ? क्यों नहीं ये अपने से ही लोक की सृष्टि और स्थिति और उसका लय करते रहते? क्यों तीन कार्यों के लिए देवता भी तीन आवश्यक हुए? क्यों स्थिति और लय के लिए पुरुष और प्रकृति दोनों ही अनिवार्य हुए?"

आजीमाँ की विचार-सरणी ने मुझे चकित कर दिया। लोग इन्हें पागल समझते हैं तो ठीक ही तो समझते हैं! मैंने बात को स्पष्ट करने के उद्देश्य से पूछा, "तुम्हारा आशय क्या यह है आजीमाँ, कि सृष्टि की रचना ही न होगी यदि पुरुष और स्त्री दोनों न हों?"

एक क्षण को आजीमाँ गम्भीर होती जान पड़ीं। उसके बाद बोलीं, "क्यों? गोड़ी और पांगरा के वृक्ष देखे हैं? और नागवल्ली? छोटा-सा टुकड़ा काटकर कहीं रोप दो: दूसरे पौधों की तरह चल पड़ते हैं। कई निम्नस्तरीय जीव भी होते हैं जिनमें नर मादा का भेद नहीं हुआ करता। एक ही जीवाणु फूट कर दो बन जाते हैं।"

"लेकिन मनुष्य को तो इस प्रकार जन्म पाते न कहीं देखा न कभी सुना!"

"हाँ, पर माया भी तो मनुष्यों को ही व्यापती है, पेड़-पौधों को नहीं! कोई तो पेड़-पौधा भगवान् से कभी कुछ नहीं माँगता; माँगता रहता है तो मनुष्य ही! पर तब एक को व्यापे और दूसरे को नहीं, यह तो माया का लक्षण होता नहीं!"

"तुम कहना क्या चाहती हो आजीमाँ? पहले यह बताओ कि भगवान् हैं या नहीं?"

"क्या मैं नहीं हूँ? या तुम नहीं हो?"

"हैं; तो?"

"तो हमारे लिए उसका अस्तित्व है।"

"अर्थात् तुम भगवान् पर विश्वास करती हो?"

"बेटा, विश्वास करने वालों के लिए ही उसकी सत्ता है। पेड़-पौधों, मिट्टी-पत्थर में विश्वास करने की शक्ति नहीं। इसलिए न भगवान् है इनके लिए न शैतान।"

"तो भी उनके लिए कोई तो ईश्वर होगा ही!"

"कोई अगर हो तो पेड़-पौधे ही बता सकते हैं। क्या बतायेंगे वे यह तो हम समझ भी नहीं सकते। हम तो अपनी ही जान सकते हैं। एक बात, किन्तु, सबके लिए समान है। आस्तिक के लिए भी, नास्तिक के लिए भी। जन्म होने के बाद

मरना ही पड़ता है। मृत्यु ही एक मात्र सत्ता है, इतना मान लें हम तो पर्याप्त है।"

आजीमां की मुख-मुद्रा विरसग-सी हो आयी। आगे कहा उन्होंने, "भगवान् ने सृष्टि की रचना क्यों की, यह तो भगवान् से ही पूछा जाये! हम पूछ सकते हैं। पर उससे सृष्टि की रचना तो बन्द होने वाली नहीं! क्यों न फिर इसके बदले हम उसकी सृष्टि के सौन्दर्य को देखा करें। जो सत्य है उसे मानने में तो हानि है नहीं। चार दिन के लिए आये हैं, बाद को तो चल ही देना है, बेटा, शेष सारा विवाद बुद्धि से परे का विषय है। आखिर, मेरे पिता ने क्या मुझसे पूछकर मुझे जन्म दिया था? और निश्चय ही पिता को भी भगवान् ने पूछकर जन्म न दिया होगा।"

मेरे भीतर उथल-पुथल मची हुई थी। अब तक जो सोचता-मानता आया उसका तो लेश भी आजीमां के विचारों में दिखाई न पड़ा। उलटे, लगा ऐसा भी कि उनकी तर्क-पद्धति को शायद मैं ही ठीक से नहीं समझ रहा था। इतना बिलकुल प्रत्यक्ष था कि उनके विचारों में पागलपन की छाया तक कहीं न थी। हो सकता है उनके अन्तर्मन में कोई ऐसी सूक्ष्म चिन्तनधारा विकासमान थी जो मेरी बुद्धि और चेतना से परे थी।

यह भी निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता था कि अपने आयुष्य का अधिकांश उन्होंने कोरे गूंगेपन में नहीं बिताया। उनकी वाचा इधर कुछ वर्ष पूर्व ही खुली। पर उनके स्वगत भाषण मुझे या किसी और को उपदेश देने के लिए ही किये गये, यह मानने को मैं तैयार नहीं।

इतने में भोजन का बुलावा आ गया। मैं उठ पड़ा। आजीमां तो एक वेला, दिन को ही भोजन करती हैं। रात के समय कभी बहुत इच्छा हुई तो दूध या मूंग की दाल ले लेती हैं। दिन को भी उनका आहार इतना स्वल्प रहता है कि उनके इस सुदीर्घ आयुष्य को देख अचरज होता है।

भोजन के बाद मैं सोने के लिए जा लेटा। मगर विचार तो एक के बाद दूसरा घेरता ही रहा। कैसे पनडब्बे को छूने मात्र से आजीमां उतना सब जान गयी? कैसे उन्हें पीछे की राह चले आते रामण्णा की आहट मिल गयी? वे क्या औरों के मन तक की सूंघ पा जाती हैं? जितना ही सोचता उतना ही और उलझता।

तब? आजीमां ही किसी दिन प्रसन्न मुद्रा में हों तब उनसे ही कुछ प्रकाश मिल सकता था।

रात बीती। सवेरा हुआ।

पत्नी ने चूने और तमाखू की दो डिबियां लाकर सामने रखीं। मुझे समझते देर न लगी। बच्चे जब खेल रहे थे तब पनडब्बे से कहीं निकलकर गिर गयी

होंगी। मैंने फिर पत्नी को पूरी कहानी सुनायी : रानण्णा क्यों आया था और जाने के बाद क्यों फिर लौटा था।

दोनों डिबियाँ एक आदमी के हाथ मैंने उसके पास भिजवा दीं।

तीन

रानण्णा का पनडब्बा भेज देने के बाद न जाने क्यों एक उदासी-सी मन पर छा आयी। हो सकता है आजीमाँ से उसके बारे में जो सब सुना वही इसका कारण हो।

रानण्णा की कहानी सुनकर मुझे उसकी पत्नी नागी की भी याद हो आयी। दिनों पहले की वह समूची घटना भी आँखों आगे जी उठी जो गाँव के एक मेले में मेरे मित्र के उसकी ओर इशारा करने पर घटी और जिसका एक लघु अंश मुझे भी होना पड़ा था। पर कितना-कितना सोचने पर भी उसकी सूरत-शक्ल ध्यान में नहीं आयी।

यों मित्र का बताया जो कुछ स्मरण था और अब आजीमाँ के मुँह जो सब सुना, उसके आधार पर मैंने नागी की एक सलोनी-रूपवती नारी-मूर्ति की कल्पना की। लेकिन फिर जैसे ही ध्यान आया कि वह बेचारी तो भूख की ही मारी हुई नहीं, काल की भी मारी हुई थी, मेरी वह सारी कल्पना गहरा पड़ी। आँखों आगे तब टिकी रह गयी एक ऐसी हाड़-माँस और प्राणमय नारी की शक्ल जिसके अंग-अंग को दुर्दिन और दुर्भाग्य ने निर्मम होकर अपना ग्रास बनाया था।

मन फिर अनिवार्यतः मामाजी के बारे में सोच चला। शीनप्पा नाम था उनका। आजीमाँ के ही मुँह उस दिन सुना। मुझे स्वयं उनकी कोई याद नहीं। आजीमाँ ने ही दो अवसरों पर थोड़ा-थोड़ा बताया है। मैं तो उनके गाँव भी कभी नहीं गया। जाता भी कैसे ! सुना था, उनकी बहिन के देहान्त होने के थोड़े ही दिनों बाद तो पिताजी मेरी माँ को ब्याह लाये थे। इसके बाद मामाजी और उनके गाँव आदि से सम्पर्क ही नहीं रह गया।

मगर उनका घर इरिगे में है। मैंने भी कहीं सुना, और आजीमाँ ने तो उस दिन बताया ही। एक और बात भी कानों में पड़ी थी। इरिगे से थोड़ी दूर पर एक स्थान कन्नरपाल है। यहाँ कोई श्रीनिवासय्या नाम के सज्जन रहते थे। बड़ा लम्बा-चौड़ा कारबार था इनका। इन्होंने धन्धा जमाने के लिए कुछ ऋण

लिया या किसी से : पर न धन्धा जमा पाये न ऋण चुका पाये। अन्त में घर-द्वार का बचा-खुचा भाइयों के हाथ बेचकर कहीं और चले गये।

कौन जाने यही वे मामाजी हों। आजीमाँ से जो छिटपुट सुना उससे यह मेल भी खाता है। हो सकता है इरिगे से उठकर कम्मरपाल जा बसे हों। पर यह सब मेरा अनुमान मात्र ही है।

क्यों न एक बार हो आऊँ वहाँ ? बहुत दूर भी नहीं है। बस कौआ उड़ता जाये तो यही दो कोस के लगभग। यों पहाड़ी इलाका है, और मैं जाता भी तो पाँव-पैदल। इसलिए पाँचेक कोस जरूर पड़ता। जाकर लौटते शाम हो ही जाती। कोई जान-पहचानी वहाँ मिल जाता तो दोपहर के भोजन की सुविधा हो जाती, नहीं तो सारा दिन यों ही बीतता और रात को घर आकर ही भोजन की जुगाड़ लगती।

एकाएक ध्यान आया, जन्ना के मुँह एक दिन सुना था कि उसके नानाजी कम्मरपाल रहते हैं। बस, उसी दम उठकर मैं जन्ना के घर की ओर चल दिया।

हमारे गाँव में अपने लोगों के आठ-दस घर हैं। पर एक-दूसरे के यहाँ आने-जाने का चलन जैसे है ही नहीं। अपवाद है तो इतना ही कि थोड़ी दूर रहते जन्ना के यहाँ कभी मैं चला जाता हूँ, कभी वह हमारे यहाँ आ जाता है। ज्यादातर तो मैं ही जाता हूँ। कल भी गया था। महाशय घर नहीं थे।

आज मैं चला तो मुझे लगा कि पाँवों में एक विशेष फुरती है। मगर कुछ ही दूर गया था कि ध्यान आया बिना नहाये-धोये जाना शायद ठीक न रहे। सो वहीं से लौट पड़ा और जल्दी-जल्दी नहा-धोकर, जल्दी-जल्दी पूजा-पाठ करके, और ये देवी सीता जरूर सुन लें इतनी जोर से घण्टा बजाकर मैं फिर निकला।

जल्दी ही जन्ना के यहाँ पहुँच गया। सौभाग्य से आज महाशय घर पर ही थे। बरामदे में खम्भे से पीठ टिकाये बैठे कोई पुस्तक पढ़ रहे थे। मुझे देखते ही बोला :

"अरे, सुना तुम कल भी आये थे ! गाँव आये मुझे काफी दिन हुए, फिर भी नानीमाँ से मिलने नहीं गया था। कहीं कोई कुछ सोच न उठे, इसलिए कल उनके यहाँ चला गया था। बैठो-बैठो।"

"कहाँ रहती हैं नानीमाँ ?" मैंने बैठते हुए पूछा।

"कम्मरपाल। तुम्हें बताया था एक दिन !"

"हाँ-हाँ ! उनके कोई सम्बन्धी भी रहते हैं वहाँ ? तुम्हारे नाना या कोई और ?"

"हाँ, नाना थे न ! पर अब वे नहीं रहते वहाँ।"

"अच्छा ! कहाँ रहते हैं तब ?"

"कोई ठीक नहीं। उनका तो अब न कोई घर रहा न गृहस्थी। क्या बताऊँ, एक पूरा महाभारत है उनका भी। कभी बहुत पैसेवाले थे। किसी बात की कमी

नहीं थी। मगर उनकी ग्रहगति में कुछ और ही था। युवावस्था में ही वे भटक गये। हर तीसरे-चौथे दिन नया पंछी फँसा लाते। किसी को यहाँ रखते, तो किसी को बैंडूर, या फिर सागर। इस तरह अंधाधुन्ध मौज-विलास में सब कुछ उड़ा डाला। जो थोड़ी-सी भू-सम्पत्ति बची उसे भाइयों को बेचकर कहीं चले गये। इन्हीं भाइयों में से एक के पास मेरी नानीमाँ रहती हैं।"

बड़े गिरे हुए स्वर में जनार्दन आगे कहता गया, "दो बेटे थे उनके। वे अब जीवित नहीं। एक बेटी ही है जो मेरी माँ है। उनकी पत्नी, मेरी नानीमाँ हुई यह भी, गाँव में ही है। इन्हें नानाजी साथ नहीं ले गये। सुना जाता है गाँव से वे सोरब गये। वहाँ कोई धन्धा शुरू किया। चला नहीं। और जिन लोगों से माल लेते थे उन सबको बेवकूफ़ बनाकर, एक दिन रफ़ूचक्कर हो गये। कहाँ गये, कहाँ रहे : बरसों पता नहीं चला। अब सुनते हैं चित्रदुर्ग के पास कहीं होटल खोल रखा है।"

जनार्दन अजीब तरह से मेरे मुँह की ओर देख रहा था। मैंने पूछा :

"मगर तुम्हारी नानीमाँ से भी कभी मिलने नहीं आते क्या ?"

"मेरी नानीमाँ तो दूर, अपनी पत्नी को ही जो बिसरा दिया है ! उनके छोड़े ऋण को छोटे भाइयों ने जैसे-तैसे करके चुकाया और अब किसी तरह अपना घर चलाते हैं। नानीमाँ की सारी उम्र दुर्भाग्य को ढोते कटी, नानाजी ने एक बार भी आकर उन्हें ले जाना चाहा होता तो ये खुशी-खुशी जातीं। दिनों उनकी राह में दीये जलाये। नित्य बराबर अपने देवरों की चिरौरी करतीं कि उनका पता लगा दें। देवर सब तरह समझाते कि जो युवावस्था में अपना न हुआ वह क्या ढलते दिनों में इधर की सोचेगा ! मगर नानीमाँ तो नानीमाँ ! उनकी लौ टूटी नहीं।"

दुखी स्वर में जनार्दन ने आगे बताया, "सुना था, उन दिनों मेरी माँ का विवाह होने को था तब कहीं से पता पाकर नानाजी को बुलाने गये थे। उन्होंने हामी तो भरी, आये नहीं। अब तो बस नानीमाँ के लिए हम लोग ही सब कुछ हैं। उन्हें यहाँ ले आने की भी बहुत कोशिशें कीं। उनका हर बार एक ही उत्तर हुआ, 'ना, बेटा, यहाँ से कैसे जाऊँ !' मैं जब भी उनसे मिलने जाता हूँ वे बहुत प्रसन्न होती हैं। पर नानाजी की आशा उनके जी से ज्यों की त्यों बँधी है। कल गया तो बोलीं, 'तुम्हारे नानाजी चित्रदुर्ग में या जगलूर में कहीं हैं, एक बार देख आओ न बेटा कैसे हैं ?' मैं हाँ-हूँ करके टाल आया, मगर सुब्बा, कल को ही अगर मैं फिर जाऊँ तो नानीमाँ फिर यही कहेंगी !"

मैंने नहीं समझा था कि नानाजी की कहानी इतनी मर्मस्पर्शी होगी। इसीलिए जन्ना को बीच-बीच में कुरेदता गया। पर अन्त तक आते-आते उसका गला तो भर्रा ही उठा, मेरी आँखें भी भीग आयीं। यह जानकर मेरी व्याकुलता और

वही कि जन्ना की नानीमाँ ही मेरे मामा की पत्नी हैं, उन मामा की जिन्होंने नागी के जीवन को राम-धूल में भी गया-बीता बना दिया। अपने इन मामाजी को मैंने नहीं देखा, न ही जन्ना ने अपने इन नानाजी को। मगर न जन्ना भूला है न अब मैं भूलूँगा कि उन्हीं की बेटी के विवाह में उन्हें बुला लाने के लिए उनका छोटा सहोदर नरसिंहय्या गया और उसकी सारी मनावनों के उत्तर में उन्होंने आने की 'हाँ' तो भरी पर आये नहीं! और मुहूर्त के अन्तिम क्षण तक उनकी प्रतीक्षा करने के बाद कारज उनके बिना किया गया।

इन मामाजी का धन्धे में दो-दो बार दिवाला निकला, यह स्वाभाविक ही था। यह भी स्वाभाविक होगा कि उनकी यह समूची कहानी सुनने-जानने पर नागी को आन्तरिक सन्तोष हो, उसके जलते घाव-से दुखते जी को एक चैन मिले। और यह भी स्वाभाविक होगा कि वह अपने उन दोनों लड़कों को इस समय ले जाकर उनके सामने खड़ा कर दे। दोनों लड़के अब तरुणाई में पाँव धरते होंगे। बिलकुल स्वाभाविक होगा कि अपने उस प्रवंचक पिता को देखने पर इन दोनों की अपनी भी कुछ प्रतिक्रिया हो और यह नागी की प्रतिकार भावना से भी उग्र हो। कठिनाई इनके आगे एक थी : उनका ठीक ठिकाना अज्ञात-जैसा था।

मन को उधर से हटाने के लिए मैंने जनार्दन से उसके हाथ की पुस्तक की ओर संकेत करते हुए पूछा, "कौन सी पुस्तक है जन्ना?"

उसने पुस्तक मेरी ओर बढ़ा दी।

मैंने देखा वह एक उपन्यास था। समरसेट मॉम का, उसी क्षण मुझे लगा कि इन उपन्यासों से हमारा क्या वास्ता। जो कहानी अभी-अभी सुनी, और जिसे टुकड़े-टुकड़े बनते देखा और जाना है, वह कितनी अधिक विलक्षण है इस लिखी हुई कहानी की तुलना में।

मैंने पुस्तक लौटा दी।

जन्ना कहने लगा, "तुम आ गये, मुब्बा, यह अच्छा हुआ। मैं तो गाँव के जीवन से तंग आ गया हूँ। मैसूर रहनेवालों के लिए तो बस एक जेल समझो। आसपास का पहाड़ी आँचल मन को मुग्ध करता है। मगर बात करने को कोई साथी भी तो चाहिए। वह यहाँ कहाँ! ले-देकर एक तुम हो। सो तुम भी कभी-कभार ही आते हो। यहाँ के और लोग जब-तब आते हैं। पर उनके साथ बैठकर बात करने का जी नहीं होता। इसीलिए सबसे निगाह चुराये-चुराये रहता हूँ। सारा पढ़ा-लिखा भूलकर एक और गावदी! नहीं न?"

"हाँ, लगता मुझे भी ऐसा ही है।"

"मगर आखिर क्यों? क्यों पढ़ाई-लिखाई से एकदम ही नाता तोड़ो? न सही कविता-उपन्यास, पेपर ही मँगा लिया करो। मूडूरु के बाहर भी दुनिया है, यह तो जान सकोगे।"

"उससे लाभ ? उस दुनिया को हमारे अस्तित्व की चिन्ता है क्या ? नहीं न ? तब हमें उसकी चिन्ता क्यों हो ? फिर, कभी कुछ जानने की ज़रूरत पड़ी ही, तो तुम जो हो ! अच्छा बताओ तुम्हारी इस बाहरी दुनिया की लम्बाई-चौड़ाई और मोटाई कुछ बढ़ी या उतनी ही है ?"

जनार्दन मेरे परिहास पर मुसकराने लगा, "बत्, की न व्यर्थ सारी पढ़ाई-लिखाई ! ख़ैर, छोड़ो इस प्रसंग को। यह बताओ घर में कुछ और तो काम नहीं तुम्हें आज ?"

"होता तो तुम जैसे काठ के कुन्दे के पास क्यों बैठा रहता ?"

"ठीक तब। अभी खाना खाकर थोड़ा आराम कर लें। उसके बाद पूरब ओर की पहाड़ी पर चलेंगे या जंगल में ही घूमेंगे ! घाटी कितनी दूर होगी यहाँ से ?"

"यहाँ से ? कोई दो मील पर हिण्डुगान आता है, उसके आगे तलहटी, और फिर घाटी। गाँव के लोग तो घाटी तक जाते-आते ही रहते हैं। शिकार शायद नहीं मिलता।"

"अच्छा ! घाटी में बाघ-आघ नहीं है क्या ?"

"अपने बचपन में तो अकसर सुना करता था कि अमुक की गाय को चरते से बाघ उठा ले गया, पर अब तो ऐसा कुछ बरसों से सुनाई नहीं दिया।"

जन्ना ने आगे कहा, "मगर माँ कहती है एकाध बाघ अब भी पाया जाता है उधर।"

"हाँ, ठीक कहते हो। एक दिन शाम को आजीमाँ बैठे-बैठे हठात् बोल उठी थीं : 'बाघ आ रहा है।' उन्होंने गन्ध से ही पहचान लिया था। उनकी नाक और कान बहुत तेज़ हैं। बिना बाघ की गन्ध पाये उन्होंने नहीं कहा होगा।"

"किन्होंने नहीं कहा होगा ? मूकज्जी ने ?" जनार्दन के स्वर में व्यंग्य झलक आया, "उन्हें तो कहीं भी बैठे कुछ भी दीख सकता है ! सुना है तुम्हारी आजीमाँ छुटपन से ही अजीब-अजीब बातें और अजीब तरह के व्यवहार करती आयी हैं। परेशानी नहीं होती तुम लोगों को ?"

"परेशानी ?"

"नहीं तो क्या ! पागल का घर में होना अपने में ही परेशानी की बात होती है। हमारी सुनना नहीं, अपनी ही अपनी क्या-कुछ बड़बड़ाये जाना, कभी-कभी तो बहुत कष्टकर बन उठता है।"

"पर जन्ना, हमें तो आजीमाँ से कोई कष्ट नहीं। उनमें रंचमात्र भी पागल-पन नहीं। उस तरह से देखने जायें तो जितना पागलपन हम लोगों में है उतना ही उनमें भी है।"

जनार्दन ठठा पड़ा।

मैं उसका भाव समझ गया। फिर भी हँसने का कारण जानना चाहा।

हँसते-हँसते बोला वह, "जान पड़ता है यहाँ पागलों और सन्तुलित लोगों में अन्तर ही नहीं है। कहीं कोई पेड़-पत्थर या पोखर दिखा कि बस ले उड़े : यहाँ भीमसेन की पाकशाला थी, यहाँ पाण्डवों के मन्दिर की वेदी, और यह पोखर जहाँ रावण ने स्नान किया था ! ऐसी-ऐसी अनगिनत कहानियाँ माँ से सुनता आया हूँ। पर नाम को भी तथ्य या किसी में ? घाटी की ही एक गुफा के लिए बताया जाता है कि यहाँ विश्वामित्र ने तप किया था और उनके होमकुण्ड की राख अब भी पड़ी है ! क्या समझे कोई ऐसी-ऐसी गपोड़ें सुनकर ?"

मुझे स्वयं इस प्रकार की बातों में विश्वास नहीं था, तो भी जन्ना से बोला, "ठीक है विश्वामित्र न सही, पर गुफा तो जहाँ की तहाँ होगी ! हो सकता है वहाँ राख भी पड़ी हो ! बिना आधार के कहानी चल ही कैसे पड़ती ?"

जनार्दन फिर धीरे से हँसा, "भाई, इसीलिए तो मैंने कहा चलो घाटी तक हो आयें। गुफा होगी तो देख भी आयेंगे। मैं तो घर पड़े-पड़े ऊब गया हूँ।"

"हाँ चलो," मैंने तत्पर होते हुए कहा, "जहाँ जनमे और रहते हैं वहाँ की जानकारी तो रहनी ही चाहिए। गुफा अगर है तो छिपी नहीं रहेगी। कब की है, कैसी है, यह और बात। सुनते तो यह भी हैं कि हमारा गाँव किसी युग में एक बहुत बड़ा नगर था। कौन जाने जैसे अजन्ता और एलोरा की गुफाएँ एक युग को उजागर कर गयीं, उसी तरह किसी विगत में यहाँ भी कोई जाति बसी रही हो और उसके चूल्हों की राख अब तक पड़ी हो ! कुछ भी वहाँ देखने को मिल गया तो हमारी तो शोध-खोज मानी जायेगी वह !"

"ठीक रहा तब," उत्साह के साथ जन्ना बोला, "खा-पीकर ही निकल चलते हैं, तभी साँझ होने तक लौट सकेंगे। अच्छा यह होता कि उधर का जानकार कोई साथ रहता। तब ठीक से देख भी सकते और भटक जाने का डर भी न रहता !"

जल्दी-जल्दी खाकर दोनों चलने को हुए तो जनार्दन की माँ चकित हुईं। जनार्दन ने समझाया, "घर पड़े-पड़े ऊब गया हूँ माँ; सोचा सुब्बा के साथ थोड़ा घूम आऊँ। शाम तक लौट आऊँगा।"

जनार्दन को साथ ले पहले मैं अपने घर आया। जनार्दन बाहर ही रुका रहा। उसे भय था कि आजीमाँ कोई कहानी छेड़ बैठी तो बेकार समय जायेगा।

यहाँ से हम दोनों पूरब ओर की झाड़ियाँ पार करके जंगल की राह चलते हुए दो मील आगे कुडुवियों की बस्ती में पहुँचे। यहाँ मेरा एक पहचानी अण्णु-नायक रहता था। पुकारने पर वह झोपड़ी से बाहर आया और सारी बात सुनकर बोला, "आप लोग इधर से चलिये, मैं पीछे-पीछे आ रहा हूँ।"

आधेक मील गये होंगे हम कि अण्णु भी आ मिला। उसके हाथ में एक तलवार थी और बग़ल में बन्दूक।

मैंने कहा, "तलवार लेते आये यह तो अच्छा किया, मगर बन्दूक की क्या जरूरत थी ?"

उसने उत्तर दिया, "रास्ते में कहीं कोई शिकार मिल गया तो यह सार्थक होगी।"

"अच्छा, इधर बाघ-आघ लगता है क्या ?"

"ठीक तो नहीं कहा जा सकता, पर हिरन-विरन तो मिल ही सकते हैं। तब जरूरत इसी की होगी।"

मैंने अण्णुनायक को बताया कि हम लोग शिकार के लिए नहीं, नागनकालु के पास जो कोई ऋषि की गुफा है उसे देखने निकले हैं।

अण्णुनायक बोला, "हाँ-हाँ, घाटी के निचले स्तर पर गुफाएँ तो कई हैं। मैंने छुटपन में देखी थीं। दिक्-दिशा भी मुझे याद है उनकी। एक के पास तो राख का ढेर भी पड़ा था।"

"हाँ-हाँ, वही गुफा तो देखनी है," जनार्दन और मैं दोनों एक साथ बोले।

अण्णुनायक गुफाओं की दिशा में बढ़ने लगा। कोई नियत रास्ता तो था नहीं, जिधर से वह बढ़ता जाता वही रास्ता ! सारे में पेड़-पौधों और ऊँची-नीची घास का जंगल था। कहीं पौद को हाथ से हटाता हुआ और कहीं तलवार से काटता हुआ अण्णु आगे-आगे चलता चला जा रहा था। उसके पीछे मैं था, मेरे पीछे जनार्दन। अण्णु न होता तो हम लोग सौ गज़ भी न बढ़ने पाते।

लगभग एक घण्टा चलकर हम लोग पहाड़ की पीठ तक तक पहुँच पाये। अण्णुनायक हमें वहीं ठहराकर एक ऊँचे से पेड़ पर चढ़ गया और वहीं से पुकार-कर बोला, "हम लोग काफ़ी नज़दीक पहुँच गये है, बाबूजी ! यहाँ से मुझे घाटी भी दिख रही है और वह राखवाली गुफा भी। वही होगी गुफा !"

नीचे उतरकर ठीक गुफा को लक्ष्य करके बढ़ने लगा वह। पीछे-पीछे हम दोनों। पर अब आगे बढ़ना कठिन हो आया था। घाटी की उस कन्दरा के पास पहुँचे तो पाँव एक बार को बँधकर रह गये। सब कहीं घनी लतर-पतर ! जैसे उलझाकर तह पर तह जमा दी गयी हों। अण्णु तो पकड़-पकड़कर उतरता जा रहा था, हम तो यहाँ देखते रह जाते कि किस लतर को पकड़ें और कहाँ से !

जैसे-तैसे उतरे तो नीचे एक छोटा-सा झरना दिखाई दिया। पहाड़ से बहते आते पानी की धार कितनी तेज़ थी ! इसी के साथ-साथ अब आगे बढ़ना था। अण्णु के लिए तो मामूली बात थी। पीठ पर तलवार बाँधे और हाथ में बन्दूक लिये वह जिस तरह उछल-उछलकर चलता जा रहा था, उसे देखकर बरबस यही लगता कि यह बिलकुल किष्किन्धापुरिया है ! मगर भीगे पत्थरों पर बिना फिसले पाँव रखते हुए ढाल पर चलते जाना हमारे लिए एक मुसीबत बन गयी। सामने ठण्डे पानी से भीगी हुई मोटी-मोटी रेत बिछी थी, चारों तरफ़ केवड़े और बाँस के

पेड़ थे, और हवा तो इतनी ठण्डी कि कहा न जाये। धूप का कहीं निशान तक नहीं, शायद वहाँ पहुँच ही न पाती हो।

अप्पुनायक ने बताया गुफा कहीं यहीं आसपास में है। इधर-उधर निगाह दौड़ाते हुए बढ़े तो हाथी की पीठ जैसे बड़े-बड़े शिलाखण्ड पड़े दिखाई दिये। कितने चिकने और कैसे गोलाकार सपाटे! थोड़ा आगे जाने पर एक गुफा नजर आयी। यह नैसर्गिक गुफा थी। जरूर किसी युग में कोई न कोई यहाँ रहा होगा! भीतर समतल भूमि थी और बड़ी ही शान्ति। अप्पुनायक 'मैं अभी आया' कहकर एक ओर को चला गया। हम दोनों वहीं बैठकर थकान मिटाने लगे। रह-रहकर यह जरूर ध्यान हो आता कि घर से कुछ खाने की चीज साथ लेते आते तो अच्छा रहता। बातों से ही तो पेट भरता नहीं!

गुफा में इधर-उधर निगाह दौड़ाते अचानक एक कोने में राख की ढेरी जैसी पड़ी दिखी। मैं उठने को हुआ कि तभी पीछे से आकर अप्पुनायक बोला, "बाबूजी, इस तरह की चार-पाँच गुफाएँ हैं यहाँ। सबको देखने का अब समय नहीं है। आइये, पहले उस राख के ढेर वाली बड़ी गुफा को देख लें!" और आगे-आगे अप्पुनायक, पीछे-पीछे हम दोनों, इस गुफा से बाहर निकले।

थोड़ी दूर पर चार-पाँच नैसर्गिक गुफाओं की एक पाँत की पाँत नजर आयी। सभी काफी ऊँचाई पर थीं। और भी आगे बढ़े तो एक महाकाय शिला-समूह दिखाई दिया। पर्वत-खण्ड कहना इसे शायद अधिक उपयुक्त होगा। सामने मधु-मक्खियों के छत्ते ही छत्ते लगे हुए थे। इतना विशाल और ऊँचा शिला-समूह था वह कि पूरा तनकर चलने पर भी सिर से कई हाथ ऊपर रहता था। इसके दूसरे छोर तक पहुँचने पर आदिवासी गुफा आ गयी। इसके सामने तब इतना गहरा और चौड़ा खड्ड भी था कि वन्य जन्तु गुफा तक पहुँच न पाते।

असाधारण बड़ी थी गुफा। काफी भाग मिट्टी और पत्थर से भरा हुआ था, फिर भी इतना स्थान रहता था कि सैकड़ों लोग उसमें बैठ सकते थे। जहाँ-तहाँ राख की ढेरियाँ पड़ी थीं। इससे स्पष्ट था कि यहाँ दीर्घकाल तक कोई बस्ती रही। भीतर की ओर चलने पर कुछ और गुफाएँ दिखाई देती थीं। मैं कुतूहलवश राख की एक ढेरी को [illegible] की नोक से कुरेदने लगा। अचानक मैं यह देखता कि उस में से कुछ मिट्टी के बरतनों और हड्डियों के टुकड़े निकले और साथ ही कई छोटे-छोटे [illegible] [illegible]। लगता कि ये हड्डियों के टुकड़े [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible]।

इतना सुनकर मैं [illegible] [illegible], जब [illegible] [illegible] शिकार और बहुत-सा [illegible] [illegible] [illegible]! [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] गुफा [illegible], और [illegible] [illegible] [illegible] हाथ से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] को कुरेदने लगा। [illegible] का एक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।'

अव तो मेरी सहज शोधकर्ता की प्रकृति जाग उठी। कितना दुर्लभ होता है शोध कर पाने का सौभाग्य और कितनी धवल उपलब्धियों की कीर्ति ! मेरा मन चंचल हो उठा। अण्णा से उस हड्डी को लेकर मैंने भी ध्यान से देखा। फिर आपसे आप निगाह उस गढ़े की ओर गयी जो हड्डी के निकाल लेने पर राख में वना रह गया था। मैं चमत्कृत-सा हो उठा जव वहाँ कुछ कौड़ियाँ भी पड़ी दिखीं। मैंने कुछ को उठाकर जेव में रख लिया।

छुरी लेकर मैं स्वयं वहाँ कुरेदने-खोजने लगा। थोड़ी देर वाद मिट्टी से लथ-पथ एक लम्वा-सा ठूँठ मेरे हाथ लगा। काफ़ी भारी था वह। अण्णुनायक को दिखाते हुए मैंने कहा, "यह तो किसी पुराने पेड़ की जड़ लगती है : देखो तो !"

अण्णुनायक ने हाथ में लेकर ध्यान से देखा। दो-तीन वार हाथ में हलके से उछालकर उसके वज़न का भी अन्दाज़ करना चाहा। उसके वाद वोला, "वावूजी, पेड़ की जड़ इतनी भारी नहीं हुआ करती। मुझे किसी जानवर का सींग लगता है यह। हो सकता है सारंगा का हो।"

"पर सारंगा का सींग क्या इतना छोटा होगा ?" मैंने पूछा।

"यह टुकड़ा है, वावूजी, पूरा सींग नहीं।"

कई और चीजें भी इसी तरह कुरेदते-खोजते हाथ आयीं। मैंने सवको संभाल-कर अपने कपड़े में वाँध लिया।

तभी एकाएक समय का ध्यान आया। अपने स्थान से हम काफ़ी दूरी पर थे। रास्ता भी सीधा और सरल न था। मगर गुफाओं को देखने की उत्सुकता और राख में दवी एक-एक चीज़ पर जगते कुतूहल में कितना समय निकल गया, इसका पता ही न चला। अव वोध हुआ। मैंने कहा :

"अच्छा यह रहता कि घर से सवेरे ही चल दिये होते और साथ में कुछ खाने का सामान भी ले आते, फिर तो यहाँ रात भर रुक सकते और ठीक से सव देख सकते।"

सुनकर जनार्दन चौंका, "क्या ? रात भी यहाँ गुज़ारने की सोच रहे हो ?"

अण्णुनायक भी वोला, "नहीं वावूजी, अव वापस चलिये। जंगल का रास्ता है, कहीं भटक गये तो मुश्किल में पड़ जायेंगे। अभी ही इतनी देर हो गयी है कि अँधेरा पहाड़ के ऊपर पहुँचते-पहुँचते घेर लेगा।"

मेरा मन हिलने तक को राजी न था। वस यही करता कि आ गया हूँ तो रुककर आसपास की गुफाओं को भी थोड़ा-वहुत देख लूँ। वहाँ भी कुछ न कुछ ज़रूर होगा। गाँव के वड़े-वूढ़ों का कहा भूलता न था कि इधर कभी ऋषि-मुनि लोग रहा करते थे।

इस वात का समर्थन अण्णुनायक ने भी किया, "हाँ वावूजी, एक जुग में यहाँ रिसी लोग रहते थे यह तो मैं भी सुनता आया हूँ। यह गुफा तो, वावूजी, जहाँ है

उसे घाटी का आँचल समझिये। बीचवाले वन में तो आज भी मुनि लोग तप में लगे रहते हैं। हम जैसे को तो वे महापुरुष दिखाई भी नहीं देते।"

कुछ देर अप्पुनायक अपने में डूबा रहा। फिर अचानक बोला, "मगर यहाँ तक आने पर भी मुझे तो कुछ मिला नहीं!"

जनार्दन हँसा, "हाँ, व्यर्थ को बन्दूक ढोये रहे!"

"नहीं बाबूजी," अप्पुनायक ने प्रतिवाद के भाव में कहा, "बिलकुल व्यर्थ तो नहीं। जंगल की बात है, कोई भी जानवर सामने आ जाये तो इससे डराया तो जा सकेगा!"

जनार्दन ने फिर पूछा, "क्यों, ऐसे किसी प्राणी से सामना होना क्या सचमुच सम्भव है?"

"कैसे कहूँ बाबूजी! पर साँझ का समय है। हिरन या सारंग या कोई और ही जानवर सामने पड़ सकता है। सारंग और बारहसिंगे तो हमारी झोपड़ियों तक कभी-कभी आ जाते हैं।"

सुनते ही जनार्दन बोल उठा, "इस जंगल में कालिय सर्प भी तो रहते हैं, कहीं किसी से सामना हो गया तब तो बस—"

"कालिय? हाँ, कौन जाने मिल ही जाये! पर अब जल्दी चलिये। कहीं कालिय के द्वारा मरण-योग है तब तो कोई नहीं बचा सकेगा। लेकिन बुरा भाव लेकर तो हम इधर आये नहीं। हमसे क्यों शत्रुता होगी उसे? फिर भी अब बिलकुल मत ठहरिये, और पाँव को ज़ोर-ज़ोर से पटकते हुए चलिये। पाँव की आहट और पत्तों की चरमराहट से साँप भाग जाता है। चलिये—"

अप्पुनायक आगे-आगे चला। उसके पीछे मैं। मेरे पीछे जनार्दन। वही आने समय का क्रम। गुफा में मिले सामान की पोटली मेरे हाथ में थी, छोटी-छोटी चीज़ें जेब में।

झरने के किनारे पहुँचे तो मैंने रुककर झट से पोटली खोली और उस ठूँठ को निकाला जिसे मैंने पेड़ की जड़ समझा था और अप्पुनायक ने किसी जानवर का टूटा सींग। रगड़-रगड़कर धोने पर वह सचमुच ही सींग निकला: हिरन का सींग।

अप्पुनायक देखते ही गिड़गिड़ाने लगा, "हुजूर, यह मुझे मिल जाये। मैं शहर में आचारी से इसका छुरी का दस्ता बनवा लूँगा।"

"अप्पुनायक," मैंने समझाते हुए कहा, "इसे अभी मेरे ही पास रहने देना है: हम सबको यहाँ आने की वह याद रहेगा। मैं तो जल्दी ही फिर आने वाला हूँ।"

"ज़रूर आयें, साब, उसमें क्या है। यहाँ तो और दो-चार बार देखा जाऊँगा। मगर पश्चिम तरफ़ तो देखिये ज़रा। सूरज डूब चुका है। अब शीघ्र पहुँचना होगा।"

आगे उतराई थी। इसलिए बहुत कठिनाई न हुई। लेकिन थोड़ी दूर जाने के बाद, पता नहीं क्यों, हम दोनों चलते से रह-रहकर फिसल जाते। अण्णु ने देखा तो हमें रोककर झट एक पेड़ से दो डण्डे जैसे काट लाया। इनके सहारे हम उसके पीछे-पीछे बढ़ चले।

अण्णु का गांव आया तो अँधेरा खूब घिर चुका था। ऊपर से थकान और भूख बेहाल किये हुए थीं। जनार्दन तो आँखों ही आँखों कह तक उठा कि इस अँधेरे में मीलों पेट मुकुन्द का जंगल पार कर पाना अपने तो बस का है नहीं भाई। मैं संकेतों द्वारा उसका धीरज ही बँधा सकता था।

तब तक हम लोग अण्णु की झोपड़ी के आगे पहुँच गये। आसपास से उसके दो-एक साथी भी निकल आये। हम दोनों की स्थिति का अण्णु को भीतर-भीतर बोध था, या जनार्दन का भाव उसकी दृष्टि से नहीं चूका। उसने आगे बढ़कर बड़ी विनम्रता से कहा, "उधर कुँआ है, बाबूजी, मुँह-हाथ धो आयें। घर में और तो कुछ है नहीं, केले रखे हैं। खाकर पानी पी लें।"

मैंने जनार्दन का, जनार्दन ने मेरा मुँह देखा। अण्णु ने अपनी बात दोहरायी। झोपड़ी के द्वार में खड़े एक युवक की ओर इशारा करते हुए आगे कहा, "यह मेरा छोटा भाई यहां है। मैं तब तक आप दोनों के लिए एक-एक मशाल बना लाता हूँ। जंगल के उस पार तक मैं पहुँचा आऊँगा, आगे मशालों के उजाले में खेतों के किनारे-किनारे जाने में कठिनाई न होगी।"

कुँए पर से आकर झोपड़ी के आंगन में रखे गये काठ के पटलों पर हम दोनों बैठ गये। एक बड़े-से पत्ते पर केले आये। खाकर हमने भरपेट पानी पिया।

इस बीच अण्णु मशालें बनाकर ले आया था। मैंने कहा, "जाओ, तुम भी खा-पी आओ। इसके बाद चलें।"

उसके यह कहने पर कि वह लौटने पर ही खायेगा, मैंने सुझाया, "चलो, तब हमारे यहां ही खा-पीकर रात को सो रहना। दिन भर के थके हुए तो तुम भी हो!"

अन्त को वह भीतर गया और जल्दी से कुछ खाकर बाहर आया। उसका छोटा भाई तैयार खड़ा ही था। और फिर आगे-आगे अण्णु, उसके पीछे हम दोनों, और हमारे पीछे उसका छोटा भाई। एक मशाल अण्णु के हाथ में, दूसरी उसके भाई के। और हम लोग भरसक तेज चाल से जंगल को पार करने लगे।

एकाएक जनार्दन पूछ उठा, "अँधेरे में इन पेड़-पौधों में से कहीं कोई सांप-वांप तो नहीं निकल आयेगा?

मैं होठों ही होठों मुसकराया। तत्काल समझ गया कि जनाब को इतनी देर से थकान और भूख ने ही नहीं, भय ने भी सता रखा था। प्रकट में बोला, "घबराओ नहीं, चले चलो।"

अण्णुनायक अपनी थकान का आभास तक न देते हुए लपका चला जा रहा था। मैं बीच-बीच में मुंह उठाकर उसकी तरफ देख लेता और फिर मशालों के मद्धिम उजाले में बढ़ने लगता। कई बार इधर या उधर सूखी पत्तियों में मुर-मुराहट-सी होती। उसके साथ ही मेरी बाँह पर जनार्दन की पकड़ कस उठती। अन्त को जंगल पार हुआ और हम खुले मैदान में आये।

जनार्दन ने खुलकर साँस ली। उसके मुंह से निकला, "बस, अब ठीक ! अब भय नहीं रहा। मेरे तो प्राण ही सूख रहे थे।"

मैंने हलके-से झिड़का, "इतने डरपोक हो तो आये ही क्यों !"

"क्या बताऊँ, गुफा को देखने का लालच मेरे मन में भी था ! पर अब लगता है कोई भी तो विशेषता वहाँ नहीं है।" उसने उत्तर दिया।

सुनकर अजीब सा लगा मुझे। मैंने कहा, "किस तरह की विशेषता देखना चाहते थे तुम वहाँ ?"

"किस तरह की क्या, वहाँ तो किसी तरह की भी कुछ न थी ! पहाड़ों में जैसी गुफाएँ होती हैं, वैसी ही यह भी थी। राख जरूर थी वहाँ, पर उसमें कौन सी विशेषता ! कभी कोई जनजाति वहाँ रहती होगी। उसके खाये-पकाये की राख होती ही ! गाँव के भोले लोगों ने उठाकर कहानियाँ गढ़ दीं !"

"मगर मित्र !" उसकी ओर देखते हुए मैंने कहा, "सिर्फ राख ही नहीं पड़ी थी वहाँ। राख तो धरती-मिट्टी में पड़ी-पड़ी कभी की कड़ी हो चुकी थी। मगर उन कड़ी-कड़ी परतों में जो चीजें दबी पड़ी थीं, विशेषता तो उनकी थी।"

"क्या आता-जाता है उन चीजों से !" जनार्दन ने मुंह बिचकाया।

एक झटका-सा खाकर मेरी दृष्टि उसकी ओर को उठी। मैंने उससे कहा, "हाँ भाई, तुम्हारे लिए तो उपन्यासों को छोड़ कहीं कुछ होता ही नहीं ! किसी युग में कोई जनजाति वहाँ रही, इसकी भी कोई अर्थ-संगति तुम्हारे लिए नहीं।"

"अरे, पर उसमें अर्थ-संगति की बात भी तो हो ! आज हम यहाँ रहते हैं, उस काल में लोग वहाँ रहते होंगे ! बस !"

"हाँ बस ! तुम्हें तो कोई बाघ या कालिय दिख जाता वहाँ तब कुछ विशेष बात होती।"

"तो भी क्या होता। अण्णुनायक के पास बन्दूक जो थी !"

"वह बन्दूक ! वह तो बहुत से बहुत बन्दर को मार सकती है।"

"हैं !" जनार्दन चौंका, "बन्दर मारने की थी वह ?"

मैंने अण्णुनायक को सम्बोधित करते हुए कहा, "क्यों, है न अण्णु ? इन्हें तो वहाँ बाघ या कालिय से सामना पड़ा होता तब लगता कि हाँ इन गुफाओं में भी…"

जनार्दन का मुंह पीला पड़ आया था। किसी तरह बीच में ही बोला, "अच्छा

अब तो उनका नाम मत लो।"

मैं हँस पड़ा, "नाम लेने से ही कालिय नहीं आ जायेगा! इस तरह घबरा क्यों रहे हो?"

मुझे लगा उसके सामने यों बाघ या कालिय का नाम ही नहीं लेना चाहिए था। अब डर के मारे रात भर इसे नींद भी नहीं आयेगी।

ख़ैर, हम लोग पहले जनार्दन के घर पहुँचे। वहाँ उसे छोड़, मैं अपने घर की ओर चला। अण्णुनायक और उसका छोटा भाई मेरे साथ थे।

काफ़ी रात हो चुकी थी जब घर पहुँचा। मेरी पत्नी चिन्ता करती बैठी थी। आश्वस्त करके बाहर आया तो अण्णुनायक बोला,

"बाबूजी, हम दोनों अब चलें। पर मशालें तो जल चुकीं, थोड़ा घास-फूस दे दें, इन्हें ठीक करलें।"

मैंने काफ़ी-सा फूस लाकर दिया।

तभी मेरी पत्नी ने कहा, "इन लोगों से खाना यहीं खाकर जाने को कहें। खाना तैयार है।"

"खाना तैयार है!" मैं चौंका, "पर तुम्हें पता कैसे चला कि ये दोनों यहाँ आयेंगे?"

"आजीमाँ ने बताया।"

मैं सुनकर चकित रह गया। पत्नी तब कहने लगी, "अँधेरा जब घिर आया तो मेरी चिन्ता बढ़ने लगी। दो बार मैं द्वार तक आ-आकर देख भी गयी। जाने कैसे समझकर एकदम से आजीमाँ मेरे पास को आयीं और बोलीं, 'चिन्ता क्यों करती है री, थोड़ी देर में आ जायेगा।'

"मेरे मुँह से इतना ही निकला, 'रात हो आयी, जंगल-पहाड़ का रास्ता है, न जाने अकेले कहाँ गये हैं?' और वे अपने आपसे बड़बड़ाते हुए बोलीं, 'घबराने की बात नहीं है। उसके साथ और भी कोई है। उनके लिए भी खाना तैयार कर ले।' और मैंने कर लिया।"

आजीमाँ की इस दूरदृष्टि पर मैं सोचता ही रह गया। पत्नी से बोला, "चलो, अच्छा ही हुआ! ये दोनों बेचारे भरपेट खा लेंगे।"

मैं जानता था अण्णु ने हम दोनों के साथ यहाँ को चलते समय नामचार को ही खाया था। घर लौटने पर अब जैसे क्या करता, कहना मुश्किल था। आजीमाँ ने सचमुच ही बहुत अच्छा किया कि इनके लिए खाना बनवा लिया।

अण्णु से और उसके भाई से खा लेने को कहा मैंने तो उन्होंने बड़ा संकोच प्रकट किया। कई बार कहने पर कहीं जाकर वे बैठे। बहुत खुश थे दोनों कि उनका इतना खयाल रखा गया। खा चुके तो मैंने उन्हें पान दिया, और एक-एक चवन्नी भी देनी चाही। चवन्नी उन्होंने नहीं ही ली।

मैंने समझाया, "अण्णु, मुझे फिर वहाँ जाना है। शायद पूरे दिन रहूँ। एक से अधिक बार जाना पड़ सकता है। वहाँ की एक-एक गुफा मुझे देखनी है। तुम्हारे साथ रहे बिना वह सब होगा नहीं। यह ले लो तुम!"

"बाबूजी, एक बार नहीं, आप चाहेंगे तो हम दस बार आपके साथ जायेंगे। एक भी शिकार कभी मिल गया तो हमारे लिए वह पसा भी होगा और बहुत-कुछ और भी। इस बार ही वहाँ मधुमक्खियों के कई छत्ते लटकते देख आया हूँ। अगली बार उन्हें उतार लाने के इन्तज़ाम में जाऊँगा। आपके थोड़ा-सा काम आने के पैसे लूँगा? ना बाबूजी!"

"ठीक है अण्णुनायक, जब भी उधर जाने की रखो, मुझे बता देना। मैं ज़रूर चलूँगा।"

"ज़रूर बाबूजी, मगर अब चलें तो उन्हें साथ मत रखें। बहुत डरपोक हैं। जगल में तो शेर-मारग और सर्प सभी होंगे। वे साथ हुए और किसी भी जानवर के सामने पड़ने पर उन्हें भागने की सूझ उठी तो लेने के देने भी पड सकते हैं।"

"हाँ, हाँ सकता है ऐसा। पर जनार्दन का अपना दोष बहुत नहीं है। यहाँ जनमा ज़रूर वह, पढ़ा और रहा ज्यादातर शहर में। वहीं से यह डर बैठ आया। अब अगर साथ चलने को हम कहेंगे भी तो भी वह आप ही नहीं जायेगा।"

अण्णुनायक और उसका भाई चले गये। बच्चे पहले ही सो गये थे, इस बीच आजीमाँ भी सो गयी होंगी। थकान के कारण मुझे भी गडगप्प नींद आयेगी यह सोचता हुआ मैं भी बिछौने पर जा लेटा। मगर नींद नहीं आयी तो नहीं ही आयी। सारी करवटें बदली, मगर हर तरफ सामने वही गुफा, पथराती हुई राख की ढेरी, आस-पास का पहाड़ी इलाका, वही झरना, ऊँचे-ऊँचे पेड़। जैसे अब भी वहीं बैठा था मैं, वहीं देख-घूम रहा था।

एक बार दिखा कि गुफा लोगों से भरी है। बहुत दिन पहले इतिहास की एक पुस्तक में बौद्ध देवालयों और उस काल की गुफाओं के बारे में पढ़ा था। उस समय की धारणाएँ शायद मन पर अंकित हुई बनी थीं, इसीसे बिछौने पर पड़े-पड़े इस गुफा में वे दृश्य दिखते चले आये और भगवान् बुद्ध की मूर्ति तक विराजमान दिखाई दी। इतना ही नहीं, भिक्खु समूह के कण्ठ से 'बुद्धं सरणं गच्छामि! सघं सरणं गच्छामि!' मन्त्र भी निकलता हुआ वहाँ सुनाई दिया।

अकस्मात् यह दृश्य विलुप्त हो गया। मैं किसी और ही गुफा में था। बिलकुल अकेला। सामने की कन्दरा में एक बाघ बैठा था। जैसे कब-कब से ध्यान लगाये हुए। मुझे देखकर, गुर्राता तो, कभी-कभी गरज भी पड़ता, मगर इस तरफ पहुँच नहीं सकता था। हठात् मैं गुफा में नहीं, उसी पहाड़ी पर था और बाघ मेरी तरफ को बढ़ता चला आ रहा था। एक हुंकार मेरे कण्ठ से निकली। मैंने झपटकर पास के वृक्ष से एक मोटी-गाँठदार शाखा तोड़ी और जैसे ही वह मेरे ऊपर झपटा,

मैंने इसे गदा की तरह घुमाकर उस पर प्रहार किया। बाघ नीचे गिरा, कुछ देर छटपटाया, फिर निष्प्राण हो गया।

अब मुझे भूख लगी थी। भयंकर भूख। देखा तो सामने एक ओर आलू-शलगम जैसे किसी कन्द का ढेर लगा था। मैंने बढ़कर, जितने उठा सकता था, दोनों हाथों में भर लिये। फिर चकमक से आग जलाकर सूखे पत्तों पर उन्हें भूना और खाने बैठा। कितना स्वादिष्ट था वह आहार! खा ही रहा था कि मैंने अचकचाकर देखा उस गुफा में से दस-बारह मानव-मूर्तियों ने निकलकर मुझे चारों ओर से घेर लिया है। इनमें कुछ पुरुष थे, कुछ स्त्रियाँ, पर किसी की भी देह पर ढकने को कुछ जो हो! नहाने से भी वे बिलकुल अपरिचित जान पड़ते थे। इतने गन्दे और घिनौने थे वे कि उनकी ओर देखना तक असह्य था।

मुझे तत्काल लगा वह कन्दशाक अवश्य ही इन लोगों का था जिसमें से लेकर मैंने भूना और अब खा रहा था। ज़रूर अब ये लोग मुझे भूनकर या शायद कच्चा ही खायेंगे! उनकी आँखों में भेड़िये और बाघ उछल पड़ने के लिए तड़प रहे थे। मैं काँप गया। तभी आपस में उनके कुछ इशारे हुए और न जाने किस भाषा में किसी-किसी ने कुछ बात भी की। मेरी घबराहट इतनी बढ़ गयी कि मैं घिघिया-सा उठा और अपनी अन्तिम प्राण-लीला देखती पलकें आप से आप मुँद गयीं। अचानक भान हुआ जैसे उनमें से एक-एक जन सावधानी से मेरे निकट आया और चूमकर पीछे हट गया।

मेरी पलकें खुल गयीं। सामने उनका मुखिया खड़ा था। अजानुबाहु, भीमकाय, उधर से ही आया लगता था जिधर से मैं आया था। सबकी तरह यह भी निपट नंगा था; कन्धे से ज़रूर बाघ की खाल झूल रही थी। इसके आते ही सब लोग पीछे को हट चले थे। मैंने अपने बचने के लिए उससे सहायता माँगी। शुद्ध अँगरेज़ी में उसने उत्तर दिया, "हैव नो फ़िअर, दे आर माई पीपल।" मैं हैरान रह गया। मैंने समझा था ये सब नरभक्षक होंगे। कौन जाने हों भी। पर तभी उस मुखिया ने मेरी ओर पीठ की। बाघ की खाल से रक्त चू रहा था। मुखिया ने खाल की ओर इशारा करते हुए कहा, "आपके इस उपहार को पाकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। यह बाघ हम लोगों को बहुत दिनों से सता रहा था। आपने उसे केवल हाथों से मारकर हम पर बड़ी कृपा की है।"

और यह कहते हुए उसने मुझे एक सींग का टुकड़ा दिया। जानते हैं कौन-सा था यह टुकड़ा? वही जो मैं शाम को गुफा में से उठा लाया था। मेरे हाथ में देते हुए मुखिया ने मुझसे कहा, "इसे सँभालकर अपने पास रखो। इसके द्वारा मेरी सम्पूर्ण शक्ति तुम्हें प्राप्त होगी।"

मैं पूछ उठा, "अपनी पूरी शक्ति मुझे दे दोगे तो फिर तुम क्या करोगे?"

"मैंने अब इस बाघ की शक्ति पा ली है। तुम्हारे हाथों मारे गये बाघ की

शक्ति मुझे मिल गयी है और मेरे इस सींग की शक्ति तुम्हें। ऐसा-वैसा सींग नहीं है यह। इसमें मेरी मन्त्र-शक्ति भरी हुई है।"

फिर उसने मेरे कान में कुछ कहा। मैं उसी का जप करता हुआ वहीं बैठ गया। कितनी देर बैठा रहा, नहीं जानता। मेरी पत्नी सीता बिस्तर के पास खड़ी हुई जगा रही थी, "उठिये! उठिये भी, धूप चढ़ आयी! कल बहुत थक गये थे, इसीलिए अब तक सोये रहे। अब उठिये!"

"उठिये? अरे, मैं तो सोया ही कहाँ! सारी रात जागता रहा हूँ!"

और मैं बिस्तर से उठ गया।

चार

सोये-सोये की उस विचित्र प्रज्ञावस्था से जागकर मैं सीधे मुँह धोने चला गया। अच्छी तरह से मुँह धोया, और बिलकुल जाग्रत भी था मैं, फिर भी भान यही होता रहा कि अब भी सपना ही देख रहा हूँ। यह सोचकर कि सिर पर दो-चार घड़े ठण्डा पानी पड़ते ही यह भ्रान्ति दूर हो जायेगी, मैं कुएँ पर पहुँचा।

एकाएक मुझे उन चीज़ों का ध्यान आया जिन्हें गुफा से लाया था। मैं इनके विषय में अधिक से अधिक ज्ञान पाने के लिए उत्सुक था। सच तो, ये हाथ लगीं तभी से मैं अपने को एक पुरावशेष-अन्वेषक और शोधकर्ता समझने लगा था। गुफा से लौटकर घर पहुँचते ही मैंने इन चीज़ों की पोटली को, क्या जाने क्या सोचकर, बाहरवाले कमरे में सभालकर रख दिया था। हो सकता है अपने भीतर के किसी भय के कारण ऐसा किया हो। हो सकता है यह सोचा हो कि इनमें हड्डी का टुकड़ा भी है और इसे घर में ले जाना बुरा माना जायेगा।

जो हो, पोटली को वहाँ से लाकर मैं कुएँ की जगत पर बैठ गया और एक टोकरी में सब चीज़ों को डालकर पानी से धोने लगा। संयोग की बात कि सबसे पहले हाथ जिस चीज़ पर पड़ा वह मिट्टी से लथपथ वही भारी ठूँठ-सा था जिसे ठीक से देखने पर अण्णुनायक ने सारंगा या बारहसिंगे का सींग बताया था। मैंने मन ही मन सोचा कि इसे धो-धोकर चमचमाता हुआ सफ़ेद कर लूँगा। मगर कुछ भी करके इनके सींग को सफ़ेद किया जा सका है कभी? मेरे तमाम परिश्रम का फल इतना ही हुआ कि मिट्टी की जमी हुई कड़ी-कड़ी परतें साफ़ हो गयीं; रंग तो जैसा था वैसा ही बना रहा।

ग़ौर से देखने पर मैंने पाया कि उसे एक तरफ़ से घिसकर पतला और जैसे कुछ चिकना भी बनाया गया था। इतना ही नहीं, उस स्थान पर कुछ रेखाएँ भी उकेरी गयी थीं और कुछ-कुछ संकेत जैसे भी अंकित किये गये लगते थे। देखते ही रात वाला सपना याद हो आया। बाघ की रक्तचूती खाल कन्धे पर डाले हुए उस आदिमानव ने ऐसा ही तो सींग देते हुए कहा था कि इसमें असाधारण शक्ति है। मन्त्रशक्ति नाम दिया था उसने। और मुझे सूझा, क्यों न मैं इसे दो-चार दिन अपनी कमर में बाँधूँ और फिर देखूँ क्या होता है!

इसके बाद मैं और चीज़ों को भी एक-एक करके धोने और साफ़ करने लगा। इनमें एक टुकड़ा सफ़ेद चकमक पत्थर का भी था जिसे छुरी की शक्ल दी गयी थी। मैं पहले इतिहास का विद्यार्थी रह चुका था। इसलिए शिलायुग की इन चीज़ों को पहचानते-समझते देर न लगी। अन्य चीज़ों को भी इसी तरह साफ़ कर-करके मैं परीक्षक की दृष्टि से देखने और जाँचने लगा। दो-तीन चीज़ें ऐसी भी निकलीं जो पत्थर की हैं या हड्डी की यह समझ पाना कठिन रहा। तरह-तरह की सीपियाँ और कुछ मनके जैसे भी थे। इनमें छेद करके माला में पिरोने योग्य किया गया था।

अब रह गया था हड्डी का एक बड़ा-सा टुकड़ा। इसे मैं धो ही रहा था कि घर में से दोनों बच्चे दौड़ते हुए आये और मेरे आगे फैली पड़ी इन चीज़ों को देखने की हठ करने लगे। मैंने डाँटा भी, मगर बच्चे अपनी हठ क्यों छोड़ने लगे! हारकर मैंने अपनी पत्नी सीता को आवाज दी और बच्चों को वहाँ से ले जाने के लिए कहा। मगर वह भी तो स्त्री! उन चीज़ों के प्रति वह भी उत्सुक हो उठी। मेरे पांव के नीचे को रखी चकमक की उस छुरी को देखकर तो उसकी आँखें ही चमक पड़ीं।

खीजकर अन्त को मैं उस पर बरस ही पड़ा, "अच्छा, अब यहाँ से जाती भी हो या नहीं? बुलाया था कि इन बच्चों को ले जाओ, और तुम हो कि उलटे बेमतलब की बातों में पड़े जा रही हो! तुम जाओ यहाँ से और इन दोनों को भी ले जाओ।"

पत्नी को मेरा व्यवहार अखर गया। किट्टू और चन्द्रू को उसने बाँह पकड़-कर अपनी तरफ़ खींचा और यह कहती हुई उन्हें घसीट ले गयी, "चलो दोनों यहाँ से! हाँ! तुम्हारे पिताजी किसी अपने ही खेल में लगे हैं! जैसे कुबेर के घर से हाथ लग गये हों ये खिलौने! चलो!"

बच्चे सुबकते-सुबकते चले गये। पत्नी की प्रतिक्रिया उसके शब्दों के भाव और स्वर से प्रकट थी। कुछ क्षण मैं अनमना-सा हुआ बैठा रहा। उसके बाद धोवा-धाई का काम मैंने जल्दी से निपटाया और सब चीज़ों को ठीक से टोकरी में रखकर छप्पर के एक कोने में सावधानी से छिपा आया।

फिर देर तक नहाता रहा। काफी समय जब इसमें निकल गया तो खूब मन लगाकर पूजा-पाठ किया। पत्नी तब चिवड़ा-दही ले आयी। मैंने चुपचाप खाकर हाथ धोये और सोचने लगा कि अब आज और क्या-क्या करना है। वैसे और दिन मैं इस तरह नहीं सोचा करता था। उसकी जरूरत ही नहीं पड़ती थी। मगर कल की थकान और ऊपर से रात की अनिद्रा के कारण कुछ अजीब-अजीब-सा लग रहा था।

एक बार मन हुआ कि जनार्दन के यहाँ हो आऊँ। बेचारा थकान से दुखती देह लिये पड़ा होगा। मैं पहुँच जाऊँगा तो थोड़ी बहुत हँसी-दिल्लगी भी हो जायेगी। मगर तुरन्त ही उसकी अभिरुचि और व्यवहार का ध्यान आया। गुफा में पहुँचकर पहले तो वह भी चिहुँक पड़ा था। लेकिन उसके बाद मैं जब खुदाई करने में जुट गया तो वह निर्भाव जैसा होकर एक तरफ को जा बैठा। शाम को भी मेरा हाथ बँटाने नहीं आया। किसी युग में वहाँ कोई आदिमानव रहते थे, यह जान लेने पर भी उसमें कोई उत्सुकता प्रकट नहीं हुई।

मुझे अब याद आया तो हँसी आये बिना न रही। नहीं, उसके घर नहीं जाना है। आये तो भले वह स्वयं आये। मगर तुरन्त ही लगा कि वह आयेगा ही कैसे? उसकी टाँगें जो दुख रही होंगी। घर ही पड़ा होगा। समय काटने के लिए उपन्यास और कहानियाँ पास हैं ही। आजीमाँ तो इन सब पुस्तकों के लिए कहा करती हैं, "इन सबको पढ़ने से न कोई पुण्य होता है न कोई पुरुषार्थ ही सधता है। आखिर कहानियाँ तो कहानियाँ ही! छोटे-छोटे बच्चे अपनी नानी और दादी के मुँह कहानियाँ सुनते हैं, जिन्हें मूँछें निकल आती है वे उन्हीं कहानियों की पुस्तकें में पढ़ते हैं!"

जनार्दन साहित्य का छात्र था। उपन्यास-कहानी पढ़ता है तो पढ़ा करे। मगर मैं तो इतिहास का छात्र था। अपने को उससे अधिक बुद्धिमान भी मानता था। क्योंकि बीते युगों में अब कहाँ कैसा क्या था, क्यों था, मुझे इसका ज्ञान था। उसे तो था नहीं। उसके हिसाब से तो बीते युगों के लोग बस ऐसे ही थे जैसे कहीं किसी पेड़ से कच्चे आम टपक पड़े हों। और यों, देखें तो, यह जनार्दन खुद भी क्या ऐसे ही किसी पेड़ से टपके हुए कच्चे आम से कुछ अधिक है? टपके हुए आम को पेड़ से अपना सम्बन्ध जानने के लिए भी बुद्धि चाहिए!

पर वह प्रश्न फिर सामने था कि आज अब क्या करूँ? काम कोई था नहीं और निठल्ले बैठे रहना मेरे स्वभाव में नहीं था। मैं इसी उधेड़-बुन में पड़ा हुआ आँगन में इधर से उधर चक्कर काट रहा था। आजीमाँ भाँपे बिना न रहीं। उन्होंने पूछा:

"क्यों बेटा, आज खेत पर नहीं जाना है क्या?"

"नहीं आजीमाँ", मैंने उत्तर दिया, "कल बहुत थक गया था। रात में फिर

नींद भी ठीक से नहीं आयी। इसी से जी कुछ उदास-सा है।"

"हाँ बेटा", वे बोलीं, "थकान बहुत हो जाने पर ऐसा लगने ही लगता है। मगर इतनी देर तक कल तुम आखिर रहे कहाँ ? मुझे तो तुम्हारे लौटने का पता तक न हुआ।"

मैंने यथासम्भव सहज रहते हुए बताया, "आजीमाँ कल जनार्दन और मैं नागनकान्नु घाटी की ओर चले गये थे। बहुत दिनों से सुना करता था वहाँ कई गुफाएँ हैं। कल उन्हें ही देखने चले गये थे।"

"हाँ, मेरी माँ भी कहा करती थीं। हो सकता है कभी कोई मुनि-योगी भी वहाँ रहते हों। पर उनका तो एक ही इष्ट होता था : तपस्या करना। यह इष्ट तो घर की चारदीवारी में बैठकर भी साधा जा सकता है। उसके लिए वहाँ जंगल में जाकर रहने की कौन जरूरत थी !"

"आजीमाँ, घर में बच्चों का उपद्रव रहता है। संसार के तापत्रय के बीच रहकर तो तपस्या नहीं की जा सकती।"

"क्यों बेटा ? मैं जो इतने बरसों से और इतने बच्चों के बीच रहती हुई करती आयी, वह क्या तपस्या नहीं ? कुछ और है वह ? घर के बच्चों से मेरी तपस्या में तो कोई बाधा कभी पड़ी नहीं।

"एक और बात भी है। किसी एक ही विषय या वस्तु को लेकर बराबर उसी के बारे में सोचते रहें तो नींद आ जाती है। और नींद आ गयी तो तपस्या कहाँ रही ! बरसों-बरसों बैठकर तपस्या करनेवाले ऋषि-मुनियों को भी शायद ऐसा ही होता होगा !"

"तो आप क्या यह कहना चाहती हैं, आजीमाँ, कि ऋषि-मुनि जन इतने-इतने बरस सोये ही रहे ?"

"ऐसा मैंने कब कहा ? मैंने तो यह कहा कि मनुष्य का स्वभाव कुछ उस प्रकार का है। हम किसी मन्त्र आदि का कण्ठ-पाठ करते हैं तो ऐसा नहीं होता क्योंकि मुँह से या कण्ठ से तो वह मन्त्र निकलता रहता है पर भीतर-भीतर मन सोने लगता है। ऋषि-मुनि क्या करते थे, कैसे, यह तो वे जानें, मेरा कहना केवल इतना है कि भगवान् का ध्यान करने के लिए जंगल-वन में जाना जरूरी नहीं है। जंगल में पर्णकुटी बनाकर रहने से ही अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होती, उसे हम घर में रहकर भी प्राप्त कर सकते हैं।"

"पर, आजीमाँ, वहाँ शांति जो रहती है। घर पर तो कोई न कोई आता-जाता रहता है इसलिए ध्यान ही कहाँ लग पाता है ?"

"तो उससे क्या ? कोई घर आयेगा तो मुँह बन्द करके ही क्यों बैठेगा ?" आजीमाँ हल्के से मुसकरायीं, "जानते हो मैंने बरसों तक किसी से बात नहीं की। बोलती ही नहीं थी। इसी से मेरा नाम तक "मूकज्जी" (मूक अज्जी) पड़

गया। फिर भी दो-चार शब्द तो कभी-कभार बोलने ही पड़ जाते थे। मगर जो उपाधि मिलनी थी सो मिल ही गयी। जंगल में दूसरा कोई बोलनेवाला न होगा, यह मैं मानती हूँ। लेकिन पशु और पक्षी तो होंगे। पक्षी चहचहायेंगे ही; और पशु भी गर्जना किये बिना कैसे रहेंगे? उनसे मौन भंग नहीं होगा क्या? जरूर, घर में रहने पर खटमल काटेंगे; पर गुफा में जो चिउँटी-चिउँटे होते हैं उनसे क्या कम उपद्रव होगा?"

"तब आजीमाँ, ये लोग जाते ही क्यों थे वहाँ? या ऋषियों के वनों और पर्वत-गुफाओं में जाकर रहने की बात ही मिथ्या है?"

"नहीं, वनों और गुफाओं में जाकर रहने की बात तो मिथ्या नहीं है। पर वहाँ क्यों जाकर रहते थे, यह बताना कठिन है। मुझे उसका जो कारण लगता है उसे तुम सुनोगे तो हँसोगे।

"ऐसा कौन-सा कारण है, आजीमाँ?"

"हाँ", आजीमाँ बोली, "तुमने वह कीड़ा देखा है न जो जरा सही छूम जाने पर सिकुड़-सिमटकर ऐसे हो रहता है मानो मर ही गया हो! वह समझता है यह उपाय उसे सबसे बचाये रखेगा। बिल्ली भी दूध पीती है तो आँखें मूँद लेती है, यही सोचकर तो कि वह नहीं देख रही तो दूधवाले भी उसकी तरफ से बेख़बर रहेंगे!"

"मगर ऋषि-मुनियों को ऐसा किस बात का भय?"

"संसार का भय बेटा! भगवान् ने उन्हें संसार में रहने के लिए सिरजा। सबके साथ, सबके बीच, रहने के लिए जन्म दिया। मगर उन्हें संसार से ही भय लगा। संसार में तो सुख और दुख सभी कुछ है। पर इन ऋषि-मुनियों को दुख नहीं चाहिए, किसी प्रकार का कष्ट नहीं चाहिए, मृत्यु भी नहीं चाहिए। उन्हें चाहिए केवल सुख, शान्ति, वह भी शाश्वत रूप में!"

"किन्तु, जिसने इस समूचे संसार की रचना की, उसे भी सुख है या नहीं—यह किसी ने देखा? उसकी रची हुई सृष्टि का जब तक अस्तित्व रहता है तब तक एक क्षणांश के लिए भी उसे चैन नहीं होता। और ये मुनि लोग! इन्होंने तो बस संसार से मुँह मोड़कर भाग जाना सीखा है! इन्हें माता-पिता, पत्नी-बच्चे कोई नहीं चाहिए। लेकिन छोड़कर भाग जाने से ही क्या इनसे छुटकारा मिल जाता है?"

"कैसे मिलेगा छुटकारा आजीमाँ?"

"वह तो जन्म ही न लें तभी मिल सकता है, बेटा, पर एक बार कोख से बाहर आ जाने पर फिर तो वहीं लौट नहीं सकते, इसलिए और कोई उपाय न देख भागकर कहीं गुफा में जा बैठते हैं! संसार से दूर भाग जाना ही जैसे उनके लिए तपस्या है। लेकिन, बैठा कहाँ नहीं है यह संसार? ये वन-पर्वत और गुफा

क्या इस संसार का ही एक भाग नहीं ? जिस गुफा में जाकर ये शरण लेते हैं वही क्या इनका संसार नहीं बन जाता ? बेटा, संसार से छुटकारा पाना या संसार को छोड़ना, देह-त्याग करने जैसा होता है। और जब तक यह देह है, इस संसार का त्यागना भला कैसे ? आखिर वे ऋषि-मुनि भी फल-मूल क्यों खाते हैं ? अपने को जीवित रखने के लिए ही तो !"

आजीमाँ की ये बातें सुनकर मैं तो विस्मय में पड़ गया। हमारे यहाँ तो सभी सदा-सदा से संसार का मोह त्यागने के उपदेश देते आये हैं : और यह आजीमाँ हैं कि कुछ और ही बात कह रही हैं ! क्या कारण हो सकता है इसका ? क्या ये इस प्रकार इसलिए कह रही हैं कि संसार के सुखों से स्वयं बिलकुल वंचित रही हैं ? संसार को त्यागकर गुफा में जा रहने को माँ की कोख में लौटने जैसी बात बताना तो बड़े ही आश्चर्य की बात थी ! अपने जी की उलझन दूर करने के लिए मैंने उन्हीं से पूछा :

"आजीमाँ, मेरे समझने में कहीं भूल हो सकती है, मगर मैं कुछ पूछना चाहता हूँ। आप बुरा तो नहीं मानेंगी ? मुझे तो सचमुच इस बात की भी समझ नहीं कि पूछना भी चाहिए या नहीं।"

"नहीं, बेटा, पूछो-पूछो। जिस बात को जानते न हों उसके बारे में पूछना बुरा नहीं होता। मैं कोई ज्ञानी-पण्डित तो नहीं हूँ, फिर भी जितना जानती हूँ तुम्हें ज़रूर बताऊँगी। बहुत लोग अपने कहे को ठीक और उससे भिन्न जितना भी हो उसे ग़लत मानते हैं। मेरा ऐसा कोई आग्रह नहीं है। पूछो, क्या पूछना चाहते हो !"

"आजीमाँ, सुना है आपका बहुत छोटी उम्र में विवाह हुआ था ?"

"हाँ बेटा, मैं दस बरस की थी तभी से लाल साड़ी पहने हुए हूँ।"

"तो क्या आप दस बरस की थीं जब आपका……"

"नहीं, उससे भी पहले। मैं आठ की थी जब मेरा विवाह हुआ। विवाह के बाद मैं पति के घर भी गयी थी। वह भी मेरी तरह बिलकुल अबोध था। वह भी नहीं जानता था कि पति या पत्नी का क्या अर्थ होता है। विवाह-मण्डप में अच्छे-अच्छे कपड़े पहनकर सबके बीच बैठना हमें भी अच्छा लगा होगा। मगर वह चार दिन का ही त्योहार था। पति ने कभी मुझसे बातचीत तक नहीं की थी। हम दोनों समझते ही कुछ नहीं थे। एक बार बाद में भी उसके घर गयी थी।"

"आप उन्हें यों 'उसे'-'उसे' क्यों कह रही हैं ?"

"छोड़ो इस बात को बेटा ! 'उसे' न कहकर 'उन्हें' कहूँ तो उससे क्या फ़र्क़ पड़ता है ! आखिर हम बच्चे ही तो थे। उसके बाद दस दिन वह बीमार रहा और फिर मर गया…मर गये। मेरे माता-पिता मुझे वहाँ से यहाँ ले आये। उस

घर से मेरा नाता ही टूट गया। कौन जाने मेरे भाग्य में इसी घर का पानी बदा था!"

आजीमाँ आगे कहती गयी, "उसके बाद चार बरस और बीते, तब कहीं जाकर मुझे अपनी अवस्था का ज्ञान होने लगा। मैं कुछ-कुछ समझने लगी कि मेरा जीवन-संसार औरों की तरह नहीं हो सकता। और एक दिन जब मैं पहली बार ऋतुमती हुई तो मैं एकबारगी ही घबरा गयी। मेरी माँ तो उस दिन बहुत ही रोयी थी। क्यों रोयी वह, मेरी समझ में यह आज तक नहीं आया।"

"फिर क्या हुआ?"

"फिर बस दिन बीतते गये। मैं बड़ी होती गयी। लोक-रीति के अनुसार मेरे सिर पर केश रहना अनिष्टकर था, इसलिए मेरा सिर मुँडवा दिया गया। उसी दिन से अपने जी को मैंने धीरे-धीरे पत्थर बना लिया। दुनिया को मेरी आवश्यकता नहीं थी, सो मैंने भी उसकी चिन्ता छोड़कर अपने में ही बने रहना शुरू कर दिया। कुछ समय और बीता। मैं अपने आपको थोड़ा-बहुत समझने लगी। जब तक माता-पिता जीवित रहे, मुझे उनकी ममता मिलती रही। उनके बाद तुम्हारे माता-पिता ने भी मुझे बराबर प्यार दिया। कभी पति का अभाव खलने नहीं दिया।"

पता नहीं कैसा-सा एक भाव फिर उनकी आँखों में घुल आया। मेरी ओर देखती हुई बोली, "मेरी कोख से भले ही सन्तान नहीं हुई। पर घर में और-और बच्चे थे। वे सभी मेरी ही तो सन्तान थे! तुम और तुम्हारी पत्नी ही आखिर कौन हो! तुम्हारे बच्चे ही कौन है? सब मेरी ही तो सन्तान हो! कोख से जनमा हुआ ही अपना बच्चा नहीं होता, सारे ही बच्चे अपने बच्चे होते हैं बेटा।…"

"और भी एक बात है। मेरे देखते-देखते इस घर में कई जन बड़े हुए। कई जन आये भी, गये भी। मैंने स्त्री-पुरुषों को एक साथ रहते हुए भी देखा है। मगर मेरे लिए किसी बात का जैसे कोई अर्थ ही नहीं था। मैं औरों के सुख को देखकर कभी जली-कुढ़ी नहीं। असूया ने मुझे मानो छुआ ही नहीं। पति नहीं रहे, इसका भी मुझे दुख नहीं। और बच्चे! बच्चे तो दुनिया में बहुतों के नहीं होते। मेरे भी नहीं हुए तो क्या हुआ?"

"आजीमाँ, ऐसे में आपको संसार से ऊब नहीं हुई?"

"क्या जानूँ बेटा! जब माता-पिता जीवित थे तब भी मैंने किसी से किसी की शिकायत नहीं की। फिर जब यौवन में पाँव रखा तब अपने से ही क्या जाने क्या-न-क्या कहा। क्या कहती रहती थी, और क्यों उस तरह कहती रहती थी, इसका मुझे ही ज्ञान नहीं होता था। अब भी वही हालत है मेरी। एक दिन तो जानते हो क्या हुआ? न जाने उस दिन क्या कहा मैंने, भैया डर गये कि मेरे ऊपर शायद कोई भूत-प्रेत सवार है। माँ तब मर चुकी थी, पिता को कुछ

समझते नहीं वना। वस ओझा लोग वुलाये गये और इमली की छड़ी से मुझे खूब पीटा गया।

"मुझसे जव सहन करते नहीं वना तो मैं लाचार होकर उनकी हाँ में हाँ मिलाने लगी। एक ने पूछा, 'कौन हो तुम ?' मैंने उत्तर में कहा, 'तुम ही वताओ मैं कौन हूँ ?' दूसरा वोला, 'तुम क्या अपने उपनयन संस्कार से पहले दिवंगत हुए यज्ञनारायण हो ?' और यह कहकर सड़ासड़ पीटने लगा। मैं तो जो थी वही रही, फिर भी जाने क्यों मुझे यज्ञनारायण वना दिया गया और कैसे उनकी मार के आगे मैंने 'हाँ' भी कर दी। वह ओझा फिर भी मारता और पूछता ही गया तो मैंने अन्त में कह दिया कि मैं 'मूकाम्विका' हूँ। क्या जाने और भी क्या-क्या मुझसे कहलवाकर ओझा लोग आखिर को चले गये।

"उसके वाद मैं अठवारों उस छड़ी की निर्दय मार के घावों से तड़पती रही। अपने आपसे वातें करने का परिणाम क्या होता है, यह मैं अच्छी तरह समझ गयी। मैंने निश्चय किया कि अव कभी वोलूँगी ही नहीं, मूक रहा करूँगी। मैंने वात करना छोड़ दिया। मेरे मुँह को ताला लग गया। चालीस वरस की हुई तव तक मैं मूक ही रही। माता-पिता ने 'मूकाम्विका' नाम दिया था, सो सार्थक हुआ।

"पिता चल वसे तव कहीं जाकर मैंने एक-दो शव्द वोलना शुरू किया। कई वरस वाद जव तुम्हारा और फिर नारायण का जन्म हुआ और तुम दोनों कहानी सुनने की हठ पकड़ने लग गये तव जैसे मेरा वह अखण्ड मौन थोड़ी-थोड़ी देर के लिए टूटने लगा।"

रुककर वे आगे वोलीं, "अव भी तो अपनी ओर से मैं कभी किसी से कुछ नहीं कहती-वोलती। इससे एक लाभ भी होता है।"

"कैसा लाभ आजीमाँ ?" मुझे कुतूहल हुआ।

"हाँ, सुनोगे तो शायद तुम भी मुझे पागल या सिरफिरी समझोगे !"

"नहीं-नहीं आजीमाँ, ऐसा मत सोचिये। मेरे होते किसी ने ऐसा कुछ आपके वारे में कहा या सोचा तो उसकी खैर नहीं !"

आजीमाँ ने सिर हिलाया, "नहीं वेटा, इस तरह नहीं सोचा करते। आखिर हम किसी से वोलना या वात करना चाहते क्यों है ? अपने मन की भावनाओं को व्यक्त करने के लिए न ! मगर वोलना वन्द कर देने से एक विलक्षण फल मिला। मेरा मन ही और का और हो गया। कहीं मैं जाऊँ या कोई पहचाना जन घर में आये, किसी समय मन्दिर हो गयी या कोई नयी चीज़ कहीं छू गयी—तो मेरी सारी देह झनझना-सी उठती है। और कभी यदि आँख मूँदकर सोचने लगूँ कि ऐसा क्यों हुआ, क्यों होता है तो आँखों आगे न जाने क्या-क्या उतर आता है। कई वार तो कव-कव और कहाँ की घटी हुई घटनाएँ सामने तैर आती हैं और ऐसा जान पड़ता है मानो वह सव अभी ही हो रहा हो। स्वप्न वह नहीं होता,

क्योंकि मोते में वैसा कभी नहीं दिखाई देता। और जब भी इस तरह का कुछ होता है, मैं आपसे आप कुछ बडबडाने सी लगती हूँ। हो सकता है बचपन में भी कुछ ऐसा ही होता हो, मगर मैं सामने आने दृश्यों का अर्थ और भाव ग्रहण करने में असमर्थ रहती होऊँ। इसीलिए लोग मेरे ऊपर भूत-प्रेत का प्रभाव हुआ मानने लगे। उस बार भयंकर मार खाने के बाद से तो जब भी कोई अपना या पराया घर में आता मैं भीतर जाकर बैठ जाती।"

"आजीमाँ, क्या बहुत बुरी तरह से पीटा गया था ?"

"हाँ बेटा, याद आ जाने पर मैं आज भी काँप उठती हूँ। तुम ऐसा कभी मन करना बेटे! मेरा कोई व्यवहार अटपटा जान पड़े तो भले ही मुझे पागल समझ लेना, कुछ और कभी मत···"

मैं हँस पड़ा, "अपनी आजीमाँ को मैं ही कष्ट दूँगा क्या! मगर आजीमाँ, आपको जो कभी-कभी दिखाई दिया करता है, क्या उसी के बारे में बुदबुदाया करती हैं ?"

उन्होंने समझाया, "नहीं, ऐसा तो कभी-कभी ही होता है। और बस यों समझो कि किसी समय यदि किसी से कुछ बात करने का बहुत मन हुआ तो मैं अपने से ही बातें करने लगती हूँ।"

"इधर दो-एक दिनों में भी ऐसा कोई अनुभव हुआ क्या आपको ? कुछ दिखाई दिया क्या ?"

वे मुसकरायीं, "तुम अभी कह रहे थे रात को ठीक से नींद नहीं आयी ?"

"हाँ, बहुत थक गया था, शायद इसीलिए।"

"तुम्हारे लौटने का तो मुझे पता नहीं। गहरी नींद आ गयी थी मुझे। मगर बाद को एक बार बाहर निकली थी, तब तुम सोये हुए थे।"

"सोया हुआ था मैं!"

"हाँ बेटा, मगर जब लौटी तो सारी देह में झुनझुनी-सी मची हुई थी। नींद फिर आँखों से हवा हो गयी और एक के बाद एक दृश्य सामने आने लगा। मुझे ऐसा जान पड़ा जैसे बाहर कितने ही लोग जमा हैं। कोई भी मेरा देखा-जाना हुआ नहीं था। सभी के सभी दोखपननायक थे।"

"क्या मतलब ?"

"सभी के सभी नग्न थे। स्त्री, पुरुष, बच्चे सभी। पुरुषों के मुँह पर घनी-घनी मूँछें और दाढ़ी थी। काफी देर तक वे लोग तरह-तरह की आवाजें करते रहे। मारो-मारो। सुअर···बाघ···"

"आजीमाँ, मैंने भी रात ऐसा ही सपना देखा।" मैं एकदम से बोला।

"अच्छा!"

"जी हाँ, मुझपर तो पहले एक बाघ झपटा था। मेरे हाथ में कहीं से एक

गदा-सी आ गयी। उससे प्रहार किया उसके सिर पर, तब कहीं मरा। फिर उन नंगे स्त्री-पुरुषों की भीड़ ने एकदम से आकर मुझे घेर लिया था।" आजीमाँ कुछ सोच में पड़ीं, "मुझे और तुम्हें दोनों को एक साथ एक तरह का सपना दिखना तो आश्चर्य की बात है!"

आजीमाँ के मुँह से यह सुनकर मुझे भीतर-भीतर एक डर-सा लगने लगा। गुफा से लायी हुई चीजों को साफ़ करने के बाद पोटली में बाँधकर उसी कोठरी के तो छप्पर में छिपा आया था जहाँ आजीमाँ सोयी थीं। और उसी पोटली में वह सींग का टुकड़ा भी था जिसे उन लोगों के मुखिया ने अभिमन्त्रित बताया था। कहीं ऐसा तो नहीं कि आजीमाँ को जो कुछ दिखाई दिया उसका सम्बन्ध उस सींग के टुकड़े से हो?

आजीमाँ से पूछने का साहस मुझे न हुआ। मगर एक नया विचार मेरे मन को पकड़ चला। ज़रूर आजीमाँ में कोई विशेष शक्ति है: किसी तरह की अन्तर्दृष्टि! कोई दूरदृष्टि भी हो सकती है वह। मगर है कुछ ज़रूर। यही कारण हो सकता है कि उन्हें न जाने क्या-क्या दिखाई दे जाता है!

अब अगर यह सच है तो उन्हें जो कुछ दिखाई देता है उसमें और वास्तविक वस्तु में कुछ सम्बन्ध ज़रूर होना चाहिए। उस पोटली की ही किसी चीज़ को उनके आगे रखकर पूछता तो पता नहीं उसके बारे में ये क्या-क्या बतातीं! उस दिन रामण्णा का पनडब्बा हाथ में आने पर कितनी-कितनी बातें बता डाली थीं। क्या उस तरह किसी भी चीज़ के बारे में बता सकती हैं? रामण्णा तो यहीं का और जाना-पहचाना आदमी है: हो सकता है इन्होंने जो कुछ बताया वह यहीं किसी के मुँह सुना हो? मगर नहीं, उन्होंने तो नागी के प्रति रामण्णा के उत्कट प्रेम की बात भी बतायी थी! नागी को किस तरह शीनप्पा ने पहले फुसलाया और फिर बाहर कर दिया, यह सब भी तो बताया था। और जो कुछ इन्होंने बताया वह बिलकुल सही था, सच था।

लेकिन गुफा से लायी हुई चीज़ों का तो किसी भी ऐसे व्यक्ति से सम्बन्ध नहीं है जो जीवित हो। यह तक नहीं पता कि वे सब किस युग की हैं। आजीमाँ के आगे रखूँ तो कुछ बता पायेंगी क्या? पर जितना कुछ उन नंगे लोगों के बारे में बताया इन्होंने, वह तो ठीक ही था।

मेरी ऊहापोह दूर हो आयी थी। आजीमाँ से उस समय इतना ही कहा, "आजीमाँ आपसे मुझे बहुत कुछ पूछना है, पर इस समय नहीं, साँझ को आऊँगा।"

उस समय उनके पास से मैं चला आया ज़रूर; लेकिन विचारों का जो एक बवण्डर भीतर उठा हुआ था, न वह शान्त हो सका न उसके चलते मैं। हारकर इधर-उधर थोड़ा घूमता हुआ उसी पीपल-चबूतरे पर आ बैठा जहाँ आजीमाँ नित्य बैठा करती थीं।

मन ही मन मैं सोच रहा था कि आखिर उस गुफा में ढेर-सी राख वह आयी तो कहाँ से आयी ? नीचे-ऊपर सब कहीं तो पत्थर है, किसी ने कुछ बाहर से लाकर जलाया-पकाया होता तो गुफा में ऊपर की तरफ कालिख जमी होती ! और राख को अगर पड़ा हुआ मान भी लें, तो तमाम चीज़ें उसमें कहाँ से आ गयीं, कैसे ? लकड़ी जल गयी और ये चीज़ें बची रह गयीं : क्योंकर ? शायद गुफा के सामने कोई ऊँची दीवार रही होगी जो वर्षा के कारण अन्दर की ओर गिर गयी होगी, और कालान्तर में दीवार की वह मिट्टी फैल कर वहाँ जम गयी होगी। सचमुच, यहाँ फिर जाकर ठीक से देखना बहुत ज़रूरी है।

इस विचार ने मन को कुछ शान्ति दी। फिर मैं आपसे आप आजीमाँ के बारे में सोचने लगा। आजीमाँ अपने आसपास की दुनिया को अपने ढंग से ही देखती-बूझती आयी थीं। अपनी अनुभूतियों को उन्होंने किसी के आगे व्यक्त भी नहीं किया। कभी करने चलतीं तो सुननेवाले शायद उन पर ही हँसते। हो सकता है यह भी एक कारण रहा हो जो उन्होंने अपना मुँह ही सी लिया। परिणाम यह हुआ कि उनसे जो कुछ जानने को मिल सकता था वह अजाना ही रहा आया।

काम से काम स्त्री और पुरुष के परस्पर भाव और सम्बन्ध के विषय में उनका जो कहना था उसका मेरी दृष्टि में बहुत महत्त्व था। उनका कहना था कि यह सब प्रकृति की प्रेरणा के अधीन हुआ करता है। यही कारण था कि रामणा के प्रति उनके मन में बहुत सहानुभूति थी। इतना ही नहीं, नागी के विषय में भी उन्होंने कभी कुछ बुरा नहीं कहा। स्वयं मामाजी के सम्बन्ध में कोई असाधारण कठोर या घृणा-भरे शब्द उन्होंने व्यवहार नहीं किये। आजीमाँ ने एक बार जब पहले मामाजी को लेकर कुछ कहा था तब मैं छोटा था। यही कोई पन्द्रह का। मुझे तब समझ ही नहीं थी कि प्रेम क्या होता है या काम-भाव किसे कहते हैं। अब इस विषय की मैं ज़रूर टटोलना चाहता था। मैं किसी भी उपाय से उनके विचार जानने को उत्सुक था।

सच तो यह कि मेरे मन में एक गहरी ऊहापोह इस बात की निरन्तर चला करती थी कि आजीमाँ इतने सुदीर्घ काल से इस काम-वासनाओं भरे संसार में रहती आयीं, तो क्या इनके चित्त को किसी प्रकार की अशान्ति ने कभी नहीं घेरा ? इनके वैधव्य और विरक्त जीवन में कभी कोई हलचल नहीं उठी क्या ? क्या भरे यौवन-काल में भी इच्छाओं और कामनाओं ने नहीं सताया ? अनेक प्रश्न इस प्रकार के रह-रहकर भीतर से कुरेदा करते। हर बार सामने आकर यही समस्या अड़ जाती कि उनसे ही पूछे बिना चलेगा नहीं, मगर पूछूँ तो कैसे पूछूँ !

दोपहर हुआ। मैं खाना खाकर सो गया। उठने पर कुछ और न सूझा तो उस पोटली की चीज़ों को ही फिर से उलट-पुलटकर देखने की सोची। मगर

मुश्किल यह कि बच्चे वहीं आसपास में थे, फिर पत्नी किसी भी काम से किसी भी क्षण ठीक इधर भी आ सकती थी और मुझे फिर इन चीजों में लगा देखती तो स्वभावतः चिढ़े बिना न रहती। मैंने इसलिए पोटली को संभालकर फिर जहाँ का तहाँ रख दिया और चुपचाप जनार्दन के यहाँ को चल पड़ा। दूर नहीं जाना पड़ा मुझे। बीच में ही मिल गया वह। किसी तरह लँगड़ाता-लँगड़ाता चला आ रहा था। पास आया तो देखा कि पैर के अंगूठे में मरहम-पट्टी!

मैंने पूछा, "क्यों भाई, क्या हुआ यह? ऐसे क्यों चल रहे हो?"

"क्या बताऊँ बन्धु, कल का प्रसाद है! दाहिने पाँव की उँगली में चोट लग गयी थी न? उसी के कारण पाँव सीधा रखते नहीं बनता।"

"अच्छा! पर रात में तो ठीक से सोये?"

"हाँ, खूब सोया।"

"मैंने सोचा कहीं सपने में भी कालिय सर्प न दिख गया हो और भय के मारे नींद में ही चीख न निकल आयी हो, इसी से पूछा।"

"तुम्हारा भी जवाब नहीं सुब्बा! सचमुच ही सपने में एक भयंकर काला सर्प आया था। बस पीछे पड़ गया मेरे। मैं तो घबड़ा गया था। आखिर अण्णु-नायक ने एक सोंटा उठाकर ठीक उसके सिर पर दे मारा। लगा कि उसका काम तमाम हो गया। सवेरे आँख खुली तो सारी देह दर्द कर रही थी।"

"अब दोबारा कब चलने का इरादा है? अभी वहाँ बहुत कुछ है जिसे अच्छी तरह देखना आवश्यक है।" मैंने मुसकराते हुए पूछा।

"दोबारा वहाँ! ना बाबा, ना, मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। पर तुम्हारा भाई जो शिवमोग्गा से आनेवाला है! कब आ रहा है? दोनों राम और लक्ष्मण की तरह हो आना वहाँ! और चाहो तो साथ में अपनी सीता को भी लेते जाना। अण्णु-नायक तुम्हारा हनुमान है ही! परम निडर वीर!"

"हाँ, निडर तो वह सचमुच है। उसके घर के चारों तरफ़ सारे में जंगल ही जंगल है। सब समय वहीं रहना होता है और अँधेरे-उजाले उधर से ही आना-जाना रहता है। बड़ी बात यह कि शिकार की घात बराबर लगाये रखनी होती है। निडर तो उसे होना ही हुआ।"

जनार्दन बोला, "वैसे डर मुझे भी नहीं लगता। बस ज़रा साँप से घबराता हूँ। छुटपन में एक दिन खेत की मेंड़ से होकर स्कूल जाते समय सामने आ गया था तो डर गया था। उस दिन से तो पनयाँ साँप को ही देख घबड़ा जाता हूँ। और फिर कालिय का तो नाम सुनते ही काँप उठता हूँ। यों भी तो कालिय के बारे में लोग कैसी-कैसी बातें सुनाया करते हैं। कहा जाता है उसकी जटाएँ होती हैं, भयावह सीटी बजाता है। ऐसे जीव से डर लगना स्वाभाविक ही है।"

"नहीं, भाई, क्या जाने तुमने यह सब कहाँ सुन लिया! कालिय सर्प तो

गाँव-बस्ती के आसपास कभी आता ही नहीं। न ही अकारण किसी पर चोट करता है। एक बार कहीं से भटककर हमारे गाँव की तरफ आ निकला था। लोगों ने उसे ढेले मार-मारकर ही समाप्त कर दिया था। मैं उसे देखने के लिए दौड़ा था। मगर तब तक उसे जला भी दिया गया था। सुना था, वह बड़ा लम्बा-मोटा था। गोल-गोल धारियाँ थीं उसके शरीर पर। जटाएँ भी थीं।" गुब्बा ने चुटकी ली। फिर बोला, "अरे भाई उसके न जटाएँ होती है और न चोटी। जिन्होंने उसे देखा भी नहीं होता है, बहुधा वे ही ऐसी चढ़ा-बढ़ाकर बातें करते हैं। और हम हैं कि सुन कर डर जाते हैं। तुम्हारे मैसूर के जू में एक कालिय है न! वह फन फैलाकर अकड़कर खड़ा हो जाता है। उसे देखकर कोई भी डर जायेगा।"

इस तरह की बातें करते हुए घर आ पहुँचे। देखा आजीमाँ अपने चबूतरे पर बैठी है। हम दोनों को देख मुझसे पूछा उन्होंने, "इस जन्ना को गाँव आये कितनेक दिन हुए?"

"पन्द्रह दिन, आजीमाँ," जनार्दन ने बताया।

तब वह जनार्दन से बोली, "एक बात पूछती हूँ, बेटा। झूठमूठ कुछ भी कह-कर टाल मत देना। तुम उम्र में हमारे इस गुब्बा के ही बराबर हो। इसके अब दो बच्चे भी हैं। तुम अपना ब्याह कब करोगे बेटा?"

"कर लूँगा आजीमाँ, अभी जल्दी क्या है?"

"क्यों, बाल पकने आयेंगे तब करोगे क्या? देखते नहीं, तुम्हारी माँ को तुम्हारी ओर से कितनी चिन्ता रहती है? वह जिस कन्या को भी पसन्द करती हैं, उसे ही तुम 'ना' कह देते हो। क्या बात है? गाँव की लड़की पसन्द नहीं है तो जहाँ जी चाहे वहाँ देख लो।"

"नहीं, ऐसी बात नहीं है। कुछ दिन और ठहरना चाहता हूँ; फिर जरूर कर लूँगा।"

आजीमाँ ने बड़े गौर-से जनार्दन की तरफ देखते हुए कहा, "हाँ बेटा, तुम तो ठहर सकते हो, ठहर जाओगे। मगर लड़कियों के लिए तो ऐसा नहीं होता। इस बीच उसे ही कुछ हो जाये तो?"

"किसे कुछ हो जाये तो?" जनार्दन सकपकाया।

"उसे ही जिसे तुम चाहते हो!"

"लेकिन आजीमाँ, ऐसी तो कोई बात है नहीं।"

"मुझसे झूठ बोलते हो बेटा! देखो, अपने नाना के रास्ते तुम मत जाओ। जिस-तिस पर आँख डालना अच्छा नहीं होता। जिस एक को तुम चाहते हो उस पर विश्वास रखो। नहीं तो जीवन में सुख पाना मुश्किल होगा। मैं तुम्हारे भले के लिए ही कह रही हूँ, बेटा!"

जनार्दन का मुँह उतर गया। एक शब्द भी वह न कह सका। आजीमाँ ने उसकी सारी पोल मेरे सामने खोल दी थी। इसलिए तो वह और भी लज्जित था। शायद भीतर-भीतर बात उसे कड़वी भी लगी थी। क्योंकि हमारे यहाँ से लौटते हुए बोला, "आओ, चलते हो थोड़ी दूर !"

मैं साथ हो लिया। रास्ते में वह स्वयं कहने लगा, "सुब्बा, मैं इसीलिए तो कहा करता हूँ कि तुम्हारी आजीमाँ पागल हैं। बड़ी और वयोवृद्धा समझकर चुप रह गया। एक शब्द नहीं बोला। लेकिन जो कुछ उन्होंने कहा, क्या ठीक है ? कोई सिर-पैर है उनकी बात का ? अपने भले-बुरे को मैं नहीं पहचानता क्या !"

मैं चुप का चुप रहा। उसकी किसी बात का कोई जवाब मैंने नहीं दिया। कोई लाभ भी नहीं होता। आजीमाँ की बात मैं समझ सकता था। मगर उस दिन उसका आना और अब उसके साथ थोड़ी दूर को निकलना निरानन्द होकर रह गया। आजीमाँ की बात उसे सचमुच काट गयी थी।

मगर मुझे उसकी चिन्ता नहीं थी। मैं तो अब इस सोच में पड़ा कि आजीमाँ को उसके आचरण के बारे में सच्चाई की जानकारी है क्या ? यदि जानकारी है तो इन्हें हुई कैसे ? मैं जनार्दन को बहुत ही सीधा-सादा और निश्छल व्यक्ति मानता आया था। पर अब तो उसके मनोभावों के बारे में मुझे स्वयं सन्देह होने लगा।

अपने घर की ओर बढ़ गया वह तो मैं धीरे-धीरे पाँव रखता घर लौट आया। आजीमाँ से बात करने के लिए मैं बेचैन-सा हो उठा। घर पहुँचते ही मैं मुँह धोकर आँगन में आ बैठा। तभी बच्चे आ गये और कहानी सुनाने के लिए तंग करने लगे। किसी तरह कुछ सुना-बुझाकर उनसे जान छुड़ायी तो भोजन का बुलावा आ गया। उठकर जाते-जाते आजीमाँ से मैंने कहा :

"आजीमाँ, आज तो खूब चाँदनी फैली है !"

"हाँ, पूनम है न !"

"अच्छा-हाँ, मैं तो भूल ही गया था। मैं अभी आता हूँ, फिर तुम्हारे पास बैठूँगा।"

आजीमाँ हँस दीं, "क्या हुआ है तुम्हें आज ? दोपहर भी मेरे पास बैठे रहे, बाग़-बगीचे की तरफ़ नहीं गये। क्या बात है ?"

"कुछ खास नहीं आजीमाँ, वहाँ कुछ करने को नहीं था सो तुम्हारे पास बैठा रहा।" यह कहकर मैं घर में चला गया।

मेरे भीतर की उतावली शायद बाहर झलक आयी थी। पत्नी बोली, "मैंने तो आज आपके मन की आम और ककड़ी की सब्ज़ी बनायी और आपका जैसे इधर ध्यान ही नहीं है। ऐसा भी क्या काम आ पड़ा सिर पर कि यों जल्दी-जल्दी

खा रहे हो !"

मैंने कोई जवाब नहीं दिया। बच्चों को मनाता हुआ छोड़, मैं हाथ-मुँह धोकर बाहर आया और पोटली में से उस सींग के टुकड़े को लेकर आजीमाँ के पास पहुँचा।

"चलो आजीमाँ, चबूतरे पर चलें !"

"क्यों, यहीं बैठ जाओ न ?"

"नहीं, आजीमाँ, यहाँ बच्चे परेशान करेंगे।"

आजीमाँ मेरी बात मानकर बाहर चली आयीं। अक्सर दिन में वहाँ पीपल तले ही बैठा करती थीं वे। इसलिए पत्नी को कुछ विशेष नहीं लगा। बच्चों ने जरूर साथ चलने की रट लगायी पर अपनी माँ के घुड़कने पर चुप हो गये।

पीपल तले अपने नित्य के स्थान पर बैठ गयीं आजीमाँ तो उस सींग के टुकड़े को उनके हाथ में देते हुए मैंने कहा, "कल जहाँ गया था वहाँ यह मिला आजीमाँ !"

आजीमाँ उसे लिये हुए कुछ देर मौन रहीं, फिर उस पर हाथ फेरते हुए बोलीं, "क्या है यह ?"

"आप बताइये, आजीमाँ ! मैं तो आपसे ही पूछने के लिए आया हूँ !"

"कल क्या मेरे कमरे में रख दिया था इसे ?"

"हाँ आजीमाँ !"

"फिर तो जो कुछ मुझे रात को दिखा उस पर अचरज नहीं करना चाहिए।"

"क्या मतलब ?"

"मैं ठीक से समझ नहीं पा रही हूँ, बेटा। मैंने ऐसी चीज कभी देखी ही नहीं। लेकिन यह है जरूर किसी विशेष व्यक्ति की। किसी प्राचीन जनजाति के मुखिया की देह पर कपड़े नहीं हैं, पीठ पर बाघ की खाल पड़ी है। यही सींग का टुकड़ा उसके हाथ में है। कल रात जिन लोगों की भीड़ मैंने देखी थी वे भी इस व्यक्ति से मिलते-जुलते हुए थे। जैसे उन सबका यह व्यक्ति ही मुखिया हो। मगर ये सब लोग, स्त्री-पुरुष और बच्चे, नंगे क्यों हैं ? क्या ऐसा कोई व्रत किया हुआ था इन लोगों ने ?"

"आजीमाँ, ये सब बहुत प्राचीन काल के लोग हैं। तब कपड़े का आविष्कार ही नहीं हुआ था।"

"अच्छा, यह देखो इसे, जो इस सींग को हाथ में लिये हुए है। इसने तो जंगली सूअर, बाघ या बारहसिंगे का शिकार किया होगा।"

"हाँ आजीमाँ, शिकार करके ही ये लोग पेट भरते थे।"

"यह देखो," आजीमाँ फिर बताने लगीं, "यह क्या हो रहा है ! यह तो इसे हाथ में लिये हुए कुछ मन्त्र जैसा बोल रहा है। यह क्या इन लोगों का मुखिया

भी है और मान्त्रिक भी है ! वह देखो, कोई उसके पास को चली आ रही है। बेचारी 'बचाओ-बचाओ' चिल्लाती हुई अपने बच्चे को लाकर उसके पाँवों में डाल रही है। बुख़ार में तप रहा है बच्चा। अरे-रे, चेचक निकली है उसे। देखो, वह कुछ कह रहा है, 'तुम्हारे देव का तुम पर कोप पड़ा है, वह इस बच्चे को चाहता है'।"

आजीमाँ जैसे अपने से ही बोलीं, "मगर यह किस देव के बारे में कह रहा है ! यह देखो, वह देखो ! अब वह नीचे धरती पर एक रंगोली जैसी कुछ बना रहा है। नहीं रे, यह तो किसी स्त्री की आकृति है ! भयानक दाँत हैं, सिर पर सींग भी हैं ! मैं समझी, यह कोई मन्त्रविद् है, कोई सिद्ध। कह रहा है : बच्चा ठीक हो जायेगा। उस सींग के टुकड़े को ही आगे रखकर कुछ मन्त्र जप रहा है। अब उस स्त्री को सान्त्वना दे रहा है।

"अरे यह क्या ? कौन-सा नया त्यहार है ? सबसे आगे फिर वही मुखिया। उसके पीछे सब लोग एक के बाद एक खड़े हैं। अब हाथ में चाकू-छुरी लिये हुए सब नृत्य करने लगे हैं। नीचे धरती पर बाघ की आकृति बनी है, सब उसे घेरकर बैठे हैं। ये एकदम से सब कहाँ को भाग पड़े ? इस घुप्प अँधेरे में कहाँ जायेंगे ? वह देखो, एक गुफा के सामने खड़े हैं सब। चारों तरफ़ से लकड़ी ला-लाकर आग लगा दी है। कितना धुआँ है ! यह क्या ? उस गुफा में से निकलकर आग को फलाँगता हुआ यह क्या भारी-सा बाहर आकर पड़ा ? अरे यह तो बाघ है ! वह झपटा उस बच्चे पर। बच्चे को उसने फाड़ डाला है, मगर बाघ को भी उन लोगों ने ढेर कर दिया है।

"यह क्या ? छी-छी ! नहीं, मैं आगे नहीं देख सकूँगी।" आजीमाँ ने घृणा से मुँह फेरा। कुछ देर वे चुप रहीं। फिर बोलीं, "क्या ऐसा भी हो सकता है ?"

मैंने पूछा, "क्या आजीमाँ ?"

"अरे देख न," वे कहने लगीं, "यह तो अभी सोलह की भी न होगी, और वह है चालीस-बैतालिस का पहाड़ जैसा ! इनके सब त्योहार-पर्वों के लिए क्या वही एक व्यक्ति निर्दिष्ट है ! छिः, कितने निर्लज्ज हैं ये लोग ! सबके सामने, सबके देखते ! जैसे कुतिया और कुत्ता हो !"

एकदम से आजीमाँ बोलीं, "अच्छा, अब उसी लड़की को सब लोग दुलहन की तरह सजाकर कहाँ ले जा रहे हैं ? उनमें से ही एक दूल्हा बना है। ओः इसकी गुफा है जहाँ उस लड़की को सजाकर ले जाया जा रहा है। अरे, वहाँ तो इसकी और एक पत्नी है, बच्चे भी हैं। कई-कई पत्नियाँ होती होंगी इनकी !

"देखो बेटे, जो कुछ मुझे दिखा, मैं बताती गयी। अब इस पर विश्वास करो चाहे न करो। मेरी तो कुछ समझ में आता नहीं। ऐसे भी रीति-रिवाज कहीं होते होंगे भला !"

"कैसे रीति-रिवाज आजीमाँ ?"

"अरे यही सब ! कुत्तों की तरह सबके सामने। कौन जाने उस जाति में भी ऐसा चलता हो। जो भी हो, ले इसे ले।" उन्होंने वह टुकड़ा मुझे लौटा दिया।

"आजीमाँ, यह टुकड़ा आखिर है क्या ?"

"बारहसिंगे के सींग का टुकड़ा है। मगर जिसके पास यह था उसके बारे में सोचें तो……नहीं, अब आज बस। मैं थक गयी हूँ, सारी देह में झुनझुनी मची हुई है।"

आजीमाँ चुप हो गयी। थोड़ी देर बाद बोली, "इसे कहीं दूर रख आओ। घर में कभी मत लाना।"

सुनकर मैं सोच में पड़ा। कहाँ रखूँ ? थोड़ी दूर पर एक पेड़ था। उसी के नीचे झाड़ी में छिपाकर ऊपर से मिट्टी डाल दी।

आजीमाँ को साथ लिये हुए फिर मैं घर में आया।

अपने कमरे में पहुँचा तो देखा दोनों बच्चे सो गये हैं और पत्नी मुँह फुलाये बैठी है। मुझे आया देख बोली, "कोई बहुत खास बात की जा रही थी क्या आजीमाँ से ?"

"हाँ, कुछ खास बात ही करनी थी।" और मैं चादर ओढ़कर सो गया।

पाँच

पौ फटते ही मेरा ध्यान घर में छिपाकर रखी हुई पोटली की चीज़ों की ओर गया। साथ ही सींग के उस टुकड़े की भी चिन्ता हुई जिसे रात जल्दी में झाड़ी में छिपा आया था। मुझे लगा इन चीज़ों को अब एक जगह कहीं ठीक से छिपाकर रख देनी चाहिए। उसमें इनकी भी सुरक्षा रहती और आवश्यकता के समय सुविधा से मिल भी सकती। मन में यह उत्सुकता बराबर थी ही कि कब आजीमाँ ज़रा फुरसत में बैठें और कब उन्हें एक-एक चीज़ दिखाकर उसके बारे में पूछूँ। अवश्य यह आशंका भी मन में थी कि जो कुछ वे बतायेंगी वह ठीक ही होगा क्या ? क्योंकि उस सींग के बारे में ही जो कुछ प्रत्यक्ष ही मैंने सपने में देखा, उसे सुनने पर आजीमाँ को जैसा लगा, और हाथ में उसे लेकर स्वयं उन्होंने जो सब बताया : ये तीनों बातें एक ही वस्तु से सम्बद्ध थीं और परस्पर हलका-सा मेल भी खाती थीं, लेकिन फिर भी एक तरह की न थीं। गुफा

जंगली लोग, नंगा रहना : इनसे प्रत्यक्ष ही किसी प्राचीन आदिम जनजाति का बोध होता है। गुफा में मिली चीज़ें किसी ऐसी ही जनजाति की हैं, इसमें भी सन्देह नहीं था। पर आजीमाँ का कहा हुआ एक-एक अक्षर सच है, इसे मानने को मन तैयार नहीं होता। जनार्दन के ही विषय में उन्होंने जो बताया वह किसी और के लिए कहा होता तो मैं विश्वास कर लेता, मगर इसके जैसे भीरु जीव के बारे में वह सब अजीब-सा लग रहा है।

इसी सोच-विचार में पड़ा हुआ था मैं कि अचानक याद आयी कि आज तो घर के पिछवाड़े वाले पेड़-पौधों को पानी देने का दिन है। मैं उठकर उस तरफ़ चला गया। नौकर तब तक वहाँ पहुँचकर कुएँ से पानी निकालने लगा था। मैंने पहुँचकर उससे कहा, "अरे, मुझे भी क्यों नहीं बुलाता लाया!" और सिंचाई करने में लग गया। तीन घण्टे के कड़े श्रम ने मन और बुद्धि पर से गुफा और आजीमाँ की सारी बातों को छाँट दिया था। इतने में किट्टू दौड़ा-दौड़ा आकर बोला :

"पिताजी, जल्दी चलिये, चाचा आये हैं।"

"कौन चाचा?" मैंने पूछा।

"चाचा! और कौन चाचा?"

अपनी भूल मेरी समझ में आयी। इन बच्चों के एक ही तो चाचा हैं। नारायण! मेरा छोटा भाई! गरमी की छुट्टी शुरू होते ही शिवमोग्गा से गाँव आ जाने की बात थी। अभी तक नहीं आया था। वही आया होगा। किट्टू को मैंने जवाब में कुछ नहीं कहा। यह सोचकर अपने काम में लगा रहा कि छोटा भाई ही तो है, अपने घर आया है, सो अगवानी के लिए हड़बड़ाये हुए जाने की कौन बात?

"पिताजी," बच्चे ने फिर टोका, "चलिये न, चाचा आये हैं। माँ ने बुलाया है।"

यह सुनकर मुझे लगा कि शायद नारायण के साथ कोई और भी आया है। किट्टू से पूछा, "चाचा अकेले ही आये हैं न?"

"नहीं, साथ में एक कोई और हैं।"

"अच्छा, आता हूँ।" मैं उठ खड़ा हुआ। मिट्टी सने हाथ धोता हुआ नौकर से बोला, "बस उस सबसे पीछे की बाड़ में पानी देना रह गया है, ठीक से दे लेना।"

"जी हाँ, मैं देख लूँगा, आप जाइए।"

धोती ठीक करते हुए मैं आँगन वाले कुएँ की जगत तक ही पहुँचा था कि सामने से हँसता हुआ नारायण आया। उसके साथ उसी की वय का एक और युवक भी था।

उनके प्रणाम के उत्तर में नमस्कार करते हुए मैंने पूछा, "आये हुए बहुत देर हो गई क्या ? किट्टू ने आकर मुझे बताया।" तभी मेरी नजर किट्टू की ओर गयी। वह नारायण की ओर देखता खड़ा धीरे-धीरे उसका कपड़ा खींच रहा था। नारायण उसे गोद में उठाकर चूमने लगा तो मैंने कहा, "अरे-अरे, अब यह बच्चा थोड़े ही रह गया है ! नीचे उतार दे।" नारायण हँसने लगा।

मैं कुछ और पूछने को ही था कि उसने अपने साथी की ओर इशारा करते हुए बताया, "यह हमारे ही जिले के हैं, हमारी ही तहसील के। हम दोनों एक ही स्कूल में अध्यापक हैं। इनका नाम अनन्तराव है। इनके बुजुर्ग लोग इस जिले को छोड़कर शिवमोग्गा जा बसे हैं और एक होटल चला रहे हैं। अच्छा चल रहा है धन्धा। इनका तो जन्म भी वहीं हुआ, वहीं यह पले, बड़े हुए। सब कुछ वहीं है। इधर तो कोई नाता-रिश्ता भी अब नहीं रह गया। हणूर में जरूर एक दूर के सम्बन्धी हैं।"

"जाना है वहाँ ?" मैंने सहज भाव से पूछा।

"नहीं-नहीं, यह तो मेरे साथ आये हैं, हमारे घर।" फिर उनकी ओर देखते हुए नारायण ने कहा, "देखते हो अनन्तराव, भाई तो तुम्हें तुरन्त ही विदा कर देने की सोच रहे हैं !"

मेरे सामने अपनी मूर्खता पर स्वयं भी हँस पड़ने के सिवा और कोई उपाय न था। उनसे कहा, "अनन्तराव जी, क्षमा करें। पर कई बार ऐसा होता है कि अपनी बात का अर्थ समझे-बूझे बिना ही हम कह बैठते हैं।···नारायण, तुम्हारी भाभी ने कॉफी तो पिलायी, या अभी···"

उत्तर दिया मुसकराते हुए अनन्तराव ने, "हमें यहाँ आये घण्टे भर से ज्यादा हो गया। कॉफी और नाश्ता लेकर ही बाहर निकले हैं।"

"बड़ा आनन्द हुआ आपके आने से," मैंने कहा, "यों कौन आता है इस उजाड़ स्थान में। नारायण को ही जो देखिए, छुट्टियाँ शुरू हुए एक महीना बीत आया तो भी गाँव आने का मन न हुआ।"

"ऐसी कोई बात नहीं भइया ! छुट्टियाँ तो ठीक ही शुरू हुईं, मगर इम्तहान की कापियाँ ढेर थीं। सोचा यह काम खत्म करके जायेंगे तो निश्चिन्तता से गाँव रह सकेंगे। नहीं तो उस सारे भार को भी साथ लाना पड़ता और फिर तो छुट्टियों का आनन्द ही मारा जाता। इनके अलावा इन्होंने भी साथ आने की इच्छा प्रकट की। इन्हें भी पेपर-करेक्शन निपटाना था। इसी सबसे इतने दिन लग गये। रास्ता भी कई दिन ले गया। शिवमोग्गा से कुन्दापुर, वहाँ से बैंदूर, फिर यहाँ ! सब जगह बस नहीं मिलती, पैदल भी चलना पड़ता है न !"

अनन्तराव ने पहली बार संकोच छोड़ते हुए कहा, "हाँ, आपका गाँव तो बहुत सुन्दर है, मगर रास्ता बड़े कष्ट का है। अच्छा, मेरे दादाजी और पिताजी

का गाँव हगलूर यहाँ से कितनी दूर होगा ?"

"हगलूर भी जाना है क्या ? कौन-कौन हैं वहाँ आपके ?"

"जाने की कोई खास बात तो है नहीं, यों गया ही तो दो-एक दिन बाद ही जाऊँगा। परिचितों में से तो अब वहाँ कोई रहा नहीं। पिताजी भी छुटपन में ही थे वहाँ, बाद को शायद एक-दो बार ही गये थे। अब तो घर की कोई नींव भी न बची होगी; पर पिताजी अपने गाँव को बहुत सुन्दर बताया करते हैं। कभी-कभी अब भी याद कर लेते हैं। इसीलिए सोच रहा था कि हो सके तो देख आऊँ एक बार।"

"तो एक दिन चलेंगे आराम से," कहते हुए मैं उन दोनों को साथ लिये हुए घर के बरामदे में आ पहुँचा।

तभी आजीमाँ आँगन की ओर जाती हुई दिखीं। नारायण ने उन्हें अनन्तराव को दिखाते हुए कहा, "यह हमारी आजीमाँ हैं। बहुत बूढ़ी, अस्सी पार कर चुकी हैं। इनका एक अपना ही स्वभाव है: बोलेंगी बहुत कम, बोलेंगी भी तो जैसे अपने से ही बात करती हों, सबसे अलग-थलग। लगेगा जैसे कोई पेच ढीला हो। सुनते हैं, हमेशा से ही ऐसी हैं।"

नारायण के मुँह से 'पेच ढीला है' सुनकर मुझे बहुत बुरा लगा। मैंने कहा, "इस उम्र तक पहुँचोगे तब अपनी देखना।" अधिक बुरा मुझे इसलिए लगा कि नारायण ने एक बाहर के व्यक्ति के सामने इस प्रकार कहा।

नारायण शायद मेरे कण्ठस्वर से मेरा भाव ताड़ गया। बोला, "नहीं भैया, मैं तो यों ही कह रहा था।"

उसके बाद हम तीनों बरामदे में बैठे इधर-उधर की बातें करने लगे। नारायण एकाएक पूछ उठा, "भइया, आपके वह मित्र जनार्दन इन छुट्टियों में गाँव नहीं आये क्या ?"

"उसके आने से ही तो पता चला कि छुट्टियाँ शुरू हो गयीं," मैंने उत्तर में कहा, "नहीं तो इस गाँव के लिए तो जैसी फरवरी वैसा ही अप्रैल। यहीं है वह इन दिनों। कल तो हम दोनों एक साथ घूमने भी गये थे। अनन्तराव जी, हमारे जनार्दन भी आपकी तरह अध्यापक हैं।"

'जी नहीं, वे हमारी तरह साधारण अध्यापक नहीं, कॉलेज में लेक्चरार हैं,' अनन्तराव ने कहा।

"सुना है, जनार्दन के दादाजी भी हगलूर के निकट के ही हैं। किसी समय हमारे भी पारिवारिक सम्बन्ध थे वहाँ। यदि वहाँ चलना है तो जनार्दन से पूछ-ताछ कर लें !" मैंने कहा।

"पर इतनी-सी बात के लिए जनार्दन जी को क्यों कष्ट दिया जाय। हम स्वयं ही वहाँ हो आ सकते हैं। वहाँ कहीं ठहरना या खाना-पीना तो है नहीं। पिताजी का जन्म-स्थान है इसलिए देख आने की इच्छा है। बस, जायेंगे और एक

चक्कर-सा लगाकर लौट आयेंगे।"

गप हाँकने को सबका जी चाह रहा था पर विषय की कमी थी। इसलिए मैंने नारायण से पूछा, "शिवमोग्गा की कोई खास खबर हो तो सुनाओ।"

"वहाँ की क्या कोई खास खबर!" और नारायण चुप हो गया।

इन दोनों के आ जाने से मेरा मन नागनकालु जाने के लिए ललक-सा पड़ा। नारायण को घूमना-फिरना अच्छा भी लगता था। मैंने सोचा गुफा से लायी हुई चीज़ें दिखाकर क्यों न इन दोनों के मन में भी वहाँ के लिए उत्सुकता जगाऊँ। बस मैं उठकर पोटली में से दो-एक चीज़ें निकाल लाया और उन्हें दिखाते हुए प्रसन्न मुद्रा में बोला :

"इधर हाल में ये चीज़ें हाथ लगीं।"

दोनों की प्रतिक्रिया जानने के लिए मैं उनके मुँह की ओर देखने लगा। अनन्तराव एक पत्थर उठाकर गौर से देखते हुए बोले, "यह तो किसी काली जाति का पत्थर जान पड़ता है। एक सिरे पर इसे घिसकर चपटा और नुकीला बनाया गया है।"

"बता सकते हैं यह रूप इसे किसलिए दिया गया होगा?" मैंने पूछा।

"कौए या बन्दर भगाने के लिए।" नारायण ने व्यंग्य किया।

"नहीं-नहीं, कौए या बन्दर भगाने की बात होती तो एक सिरे को इतना धारदार नहीं बनाते।" अनन्तराव ने उसे उलट-पुलटकर देखते हुए कहा, "मुझे तो लगता है यह शिलायुग का है। मैंने उस युग के आयुधों के चित्र देखे हैं। यह यदि सचमुच ही शिलायुग का है तब तो अत्यन्त प्राचीन हुआ।"

अनन्तराव के उत्तर से एक सन्तोष-सा अनुभव करते हुए मैंने कहा, "मुझे भी ऐसा ही लगा। इसलिए उठा भी लाया। अब अगर हमारा यह अनुमान ठीक है तब मानना होगा कि हमारे इस मूड़ूर में प्राचीन काल से लोग बसते आये हैं। उस काल का भी शायद कुछ अनुमान लगाया जा सके।" मैंने एक पुरावशेष-अन्वेषक के भाव से अपना विचार प्रकट किया।

नारायण का जैसे स्वभाव ही हो कि मेरी हर बात को काटे, सो बोला, "मूड़ूर में लोग बसते थे इसका तो अपने में यही पूरा प्रमाण है कि हम लोग यहाँ मौजूद हैं। इस बात के लिए किसी साक्षी की क्या आवश्यकता?"

अनन्तराव ने समझाया, "नहीं भाई, यह आवश्यक नहीं कि तुम्हारे पूर्वज मूलतः यहीं के हों। यहीं देखो न, मेरे पिताजी यहाँ से शिवमोग्गा गये और वहीं बस गये, वहीं के हो रहे! इसी तरह जो लोग यहाँ बसे हुए हैं, उनमें से कौन-कौन पता नहीं कहाँ-कहाँ से आये होंगे।"

"ए महाशय, आप भी अजीब हैं। यहाँ पहुँचने तक मेरे पक्ष में रहे, और अब, शायद यह देखकर कि घर-द्वार के मालिक भाई साहब हैं, उनके पक्ष में हो

गये।" नारायण ने विनोद के स्वर में कहा।

इस तरह वातों में काफ़ी समय वीत गया। मैंने जो शिलायुग की वात उठायी थी वह तो जहाँ की तहाँ छूट रही, और दोनों मित्र अपने सहयोगी अध्यापकों की चर्चा में लग गये। मुझे इसलिए चुप हो जाना पड़ा।

इतने में भीतर से पत्नी की आवाज़ आयी, "आज क्या भगवान् को भोग नहीं लगेगा, भूखे ही रहेंगे भगवान् ?"

मैं चौंक उठा। उठते-उठते किट्टू को आकर नारायण के कान में कुछ कहते देखा। एक ही शब्द मुझे सुनाई पड़ा : खीर !

मैंने कुएँ पर जाकर जल्दी से स्नान किया और फिर पूजा पर वैठा। उसी समय भोग की सामग्री लेकर सीता आयी और थाल को उसने भगवान् के आगे रखा। इलायची की सुगन्ध से तो मेरा तप ही भंग हो गया। सचमुच मेरी सीता का भी जवाब नहीं। थोड़े से समय में इतने प्रकार के पकवान वना दिये।

मन प्रफुल्लित हो उठा। घर में पकवान वन रहे थे, इसीलिए शायद दोनों वच्चे भीतर ही जमे रहे, वाहर निकले तक नहीं। कितने आतुर होंगे दोनों खाने का अवसर पाने के लिए ! मैं पूजा-क्रिया समाप्त करके प्रसाद लिये हुए वाहर निकला। सारी व्यवस्था पहले से ही की हुई थी। दोनों वच्चे आग्रह करके आज अपने चाचा के अगल-वगल वैठे थे। इनके सामने मैं और अनन्तराव वैठे। थोड़ी ही दूर पर आजीमाँ वैठीं। भोजन शुरू करने से पहले उन्होंने नारायण से कहा, "लगता है वेटा, शिवमोग्गा तुम्हें वहुत भाता है !"

"क्यों नहीं आजीमाँ," नारायण ने उत्तर में कहा, "वहाँ लोग नहीं रहते ?"

आजीमाँ ने वात को वहीं छोड़ भोजन शुरू किया। सीता आग्रह कर-करके सवको परोसती जा रही थी। तभी किट्टू वोला, "माँ-माँ, आप रोज़ खीर वनायें तो कितना अच्छा हो ! वड़ी स्वादिष्ट वनी है, सच !"

"रोज-रोज़ खीर खाओगे तो पेट खराव होगा, वीमार पड़ जाओगे।" उसकी माँ ने उत्तर दिया।

"अच्छा, आज तो रात को भी वनाओ न माँ !" किट्टू ने आग्रह किया।

आजीमाँ उसकी वात सुनकर सहज भाव से वोलीं, "घवराओ मत वेटा, अव रोज़ ही खीर मिलेगी !"

"रोज़-रोज़ खीर खायेंगे सव तो सवके ही पेट विगड़ेंगे !" नारायण ने हँसते हुए कहा।

मैं चुप रहा। इन लोगों के इस हास-परिहास के अर्थ को नहीं समझ सका। वच्चे खीर की अपेक्षा रखते हैं इसमें अचरज की कौन-सी वात ? फिर किट्टू को मीठी चीज़ों से लगाव है। दोनों वच्चे भगवान् को भोग लगाने की मर्यादा वनाये रहे यही क्या कम वात है ? भोजन के वाद मैंने चटाई, तकिया लगाते हुए थोड़ी

देर आराम करने के लिए अनन्तराव से कहा।

"हाँ, नींद तो आ ही रही है," अनन्तराव कहते हुए चुपचाप जा लेटे।

मेरी आँख लेटने के साथ ही लग गयी। जब खुली तो पाया कि कमरे में मैं अकेला ही हूँ। पत्नी से पूछा, "ये सब कहाँ चले गये सीता?"

"जनार्दन के यहाँ गये होंगे," पत्नी ने बताया, "मना करने पर भी बच्चों को साथ ले गये हैं। उन्हें बच्चे बहुत भाते हैं।"

"तुम्हारा मतलब? यह कहना चाहती हो क्या कि मेरे बच्चों को मुझसे अधिक मेरा भाई चाहता है?"

और कोई समय होता तो सीता कुछ-न-कुछ कहती जरूर। मगर आज वह चुप की चुप उठकर माजीमाँ के कमरे की तरफ चली गयी। वहाँ उन्हें न पाकर वह लौट आयी और मेरे पास आकर धीरे से बोली, "पान खायेंगे क्या?"

उसका भाव देखकर मुझे बरबस लगा कि दाल में जरूर कुछ काला है। मुझसे कुछ चाहती है वह, नहीं तो अचानक इतना आदर किसलिए? मैंने मुस-कराते हुए पूछा, "क्यों, क्या बात है आज?"

"बात ही क्या होती!" उसने हलके से इठलाते हुए उत्तर दिया, "और हो भी तो आप तो बड़े जैसे मेरे लिए कुछ ला देने वाले हैं! मैं तो आपके भाई के बारे में कहने आयी थी। आप नहीं सुनना चाहते तो ठीक; वहीं बात करेंगे।"

जरा देर को मैं कुछ उलझन में पड़ा। पत्नी से बोला, "अरे भई यों बिगड़ती क्यों हो! कहो जो कहना चाहती हो। मेरे बस का हुआ तो जरूर मानूँगा।"

स्त्रियों का जैसा स्वभाव, कुछ देर सीता इधर-उधर की कहती रही, उसके बाद अपनी बात पर आयी। उसने बताया कि इन अनन्तराव की दो बहनें हैं। दोनों पढ़ी-लिखी हैं। छोटी को नारायण ने पसन्द भी किया है। जन्मपत्री भी मिलती है। मुझे और क्या चाहिए!

मैं तो नारायण के लिए तीन बरस से रिश्ते पर रिश्ते मँगा रहा था। उसने ही हर बार कहा, 'जब ठीक समझूँगा मैं खुद कहूँगा।' गाँव के लोग तो मुझे दोष तक देने लगे थे। इसलिए सीता ने जब बात छेड़ी तो मुझे खुशी हुई।

मैंने सीता से कहा, "तो फिर देर किस बात की? लड़की सुन्दर होगी यह अनन्तराव को देखकर अनुमान किया जा सकता है, और नारायण भी उसे पसन्द कर चुका है। फिर कोई बाधा ही नहीं रह जाती। क्यों?"

"सो तो ठीक," मेरी पत्नी बोली, "पर समस्या कुछ और है।"

"क्या?" मैंने उतावली के साथ पूछा, "कैसी समस्या?"

पत्नी ने बताया, "समस्या यह कि कन्या के माता-पिता बड़ी का ब्याह करने से पहले छोटी का कैसे करेंगे? वे लोग यदि साहस करें भी तो गाँव-बिरादरी में लोग नाम धरेंगे।" जरा देर रुककर वह आगे बोली, "मगर सुना है जनार्दन बड़ी

लड़की को देख आया है। आपका वह मित्र है, उससे यदि बात करें तो शायद सारी बात बन जाये।"

"मैं बात करूँ ? मैं जब सगे भाई को नहीं मना सका तो मित्र के लिए तो कुछ भी कैसे कहूँ !"

"लेकिन जनार्दन की माँ विवाह के लिए उत्सुक है," सीता ने तर्क प्रस्तुत किया।

"वह ठीक है। हो सकता है मैं भी जनार्दन को कुछ समझा-बुझा सकूँ। पर यह शादी-ब्याह का मामला है। कहाँ तक मेरी बात मानेगा वह, नहीं कहा जा सकता। मगर क्या कहकर समझाऊँगा उसे जब मुझे ही इस परिवार के बारे में कोई जानकारी नहीं ?"

"क्यों ? वे लोग भी तो हुगलूर के ही हैं।"

"मान लिया; पर इतनी-सी एक बात पर कोई ब्याह करने को तैयार हो जायेगा ?"

"नहीं हो जायेगा, मगर उसके साथ एक और बात जो है। आपके मित्र जनार्दन मैसूर से यहाँ आते हुए शिवमोग्गा भी गये थे। वहाँ इनके घर जाकर लड़की को देखा और आशा जैसी बँधाते हुए चलते समय कह आये कि गाँव पहुँचने पर पत्र लिखूँगा। अभी तक पत्र लिखा नहीं है !"

"अच्छा ! बात यहाँ तक पहुँच चुकी है ! इसीलिए शायद ये लोग जनार्दन के यहाँ गये हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि जनार्दन या उसकी माँ दहेज में कुछ विशेष चाहते हों !"

मुझे तत्काल आजीमाँ वाली बात याद आ गयी। पत्नी को बताया मैंने, "कल आजीमाँ ने जनार्दन के मुँह पर एक बात कही, जानती हो क्या ? उन्होंने कहा, 'ब्याह करना चाहते हो तो जल्दी ही कर लो, नहीं तो किसी बेचारी लड़की के जीवन को संकट में मत डालो।' पर छोड़ो इस बात को। नारायण ने छोटी लड़की को पसन्द कर लिया है तो उसके साथ ब्याह भी करेगा। फिर भी, हम 'हाँ' करें उससे पहले एक बार आजीमाँ से भी तो पूछ लें !"

"उनसे पूछना जरूरी है क्या ?"

"क्यों नहीं; वे ही तो घर की बड़ी-बूढ़ी हैं; हमारी बुजुर्ग है !"

"सो तो मैं भी मानती हूँ; मगर कब जाने उनके मुँह से क्या निकल जाये ! और कहीं 'ना' कह दी उन्होंने तब तो—"

क्यों न तब हम नारायण को ही आजीमाँ से पूछने के लिए कहें ? वह आप उन्हें राजी कराये।"

"वह अलग बात है। आप इतना तो आजीमाँ से जाकर स्वयं कहें कि वे इस रिश्ते को अपना आशीर्वाद दें और सफल होने दें।"

वास्तव में तो यह सब मेरा अपना कर्तव्य था, मेरा अपना उत्तरदायित्व था। अपने इकलौते छोटे भाई के विवाह के लिए पत्नी से अधिक उतावली स्वयं मुझे थी। आजीमा से बात करने के लिए मैं तुरन्त उठ पड़ा। चलते-चलते मुझे गुरु वाली चीजों का ध्यान आया। उन्हें भी मैंने साथ ले लिया और सबको कपड़े में लपेटकर ठीक से रख देने के बाद आजीमा के पास पहुँचा।

"कब से बैठी है आप यहाँ ?" पहुँचते ही मैंने पूछा।

"थोड़ी देर हुई। तुम्हारे भाई और उसके साथी के बाहर जाने पर मैं यहाँ आयी। द्वार से निकल रही थी तो दाहिनी बाँह पर कहीं से छिपकली टपकी। शगुन तो अच्छा है, यही सोचती हुई बैठी थी। अच्छा, नारायण के साथ जो आये हैं वह कौन है, बेटा ?"

"नारायण के एक मित्र हैं। उसके साथ ही स्कूल में अध्यापक। सुना है इनके पूर्वज हगलूर के थे। अब शिवमोग्गा में उनका एक होटल है।"

"दोनों गये कहाँ है ?"

"सीता बता रही थी जनार्दन के घर गये है।"

"जायें, जाने दो। मगर कोई फल नहीं निकलेगा। जिस काम से वह आये है वह अधूरा ही रहेगा। पर तुम्हें उससे क्या ! तुम्हारा बोझ घटेगा। तुम्हारे पिताजी जो जवाबदारी तुम्हारे कन्धों पर छोड़ गये थे उससे तुम मुक्त हो जाओगे। इसीलिए तो मैंने दोपहर कहा था - अब हमारे यहाँ रोज खीर बना करेगी।"

"हाँ आजीमाँ, मैं तो इसी के बारे में पूछने के लिए डरते-डरते आया हूँ। वे लोग कौन है, कैसे है : मुझे तो कुछ पता नहीं —"

"यह सब तो बेटा, मैं भी नहीं जानती। मगर इतना देख रही हूँ कि जबसे वह आया है तभी से मन में जैसे लड्डू फूटने लगे है।"

"पर आप कह रही थी काम अधूरा रहेगा !"

"हाँ; यह सज्जन एक ढेले से दो पक्षी मारने की आशा से आये हैं। लेकिन वह दूसरा लड़का..."

"जन्ना ?"

"हाँ, उसका कोई भरोसा नहीं। वह तो तुम्हारा मित्र है। कल जब यहाँ आया तो मेरे मन में जो बात आयी, मैंने कह दी। पैसे के लालच में इस लड़की के साथ ब्याह करने को वह शायद मान जाये। लेकिन ठीक नहीं होगा।"

मैंने तब उन्हें बताया, "ये दो बहनें है, आजीमाँ। दोनों पढ़ी-लिखी हैं। नारायण के साथ बात छोटी लड़की के ब्याह की है। बड़ी के लिए ये जनार्दन के यहाँ गये हैं।"

"हाँ, वैसे चाल-चलन की तो दोनों ही ठीक दिखती है।"

"आपको कैसा लगता है, आजीमाँ ?"

"बड़ी लड़की देखने-भालने में कुछ खास नहीं है, पर गुणवती अधिक है। तुम्हारे भाई ने जिसे पसन्द किया है। वह ठीक ही है। फिर उसकी इच्छा !"

"मुझे तो लगता है आजीमाँ, कि सीता से जो इस बारे में अभी-अभी मेरी बात हुई वह सब आपने सुन ली है।"

"तो क्या तुमने सीता से भी बात कर ली है ? क्या कहती है वह ?"

"वह क्या कहेगी ? हमें तो आप जो कहेंगी वही मान्य होगा।"

आजीमाँ सुनकर हँस दीं।

मैंने तब कहा, "मुझे तो, आजीमाँ, और भी बहुत कुछ पूछना था। गुफा से लायी हुई अभी भी कई चीजें और हैं ! उन्हें भी दिखाना है। ले आऊँ क्या ?"

"तुम्हारा पागलपन भी अजीब है ! अच्छा, ले आओ। कुछ दिखा तो बता दूँगी।"

मैंने आजीमाँ के हाथ में उसी पत्थर के टुकड़े को दिया जिसे तीर की फाल का रूप दिया गया था।

उन्होंने आँखें मूँद लीं और थोड़ी देर बाद कहने लगीं, "यह तो राम और लक्ष्मण की तरह किसी आखेट करनेवाले का है। हाथ में धनुष लिये हुए एक पुरुष दिखाई दे रहा है। उसके दाढ़ी-मूँछें हैं, अच्छा शिकारी है। मांसभक्षी है, लेकिन दोणाचारी नहीं है—"

"क्या मतलब ?"

"वही जो कल बता रही थी। उन लोगों की तरह यह नग्न नहीं है। कमर में कुछ बाँधे हुए है। लँगोट भी दिखाई दे रहा है।"

"अच्छा !"

"उसके साथ भाई भी है। हाँ, भाई भी है और भाभी भी। शायद इसीलिए मेरे मुँह से राम-लक्ष्मण का नाम निकला। मगर आश्चर्य इस बात का कि ये लोग खेती बिलकुल नहीं करते और जीवन फिर भी चला रहे हैं। इन्होंने भी घर एक गुफा में बना रखा है। और दाढ़ी-मूँछ रखते हुए भी ऋषि-मुनि नहीं हैं, हमारे जैसे ही जान पड़ते हैं।"

"प्राचीन काल में इस तरह के लोग थे, आजीमाँ।"

"बस इतना ही दिखाई दे रहा है, बेटा !" यह कहते हुए उन्होंने वह पत्थर मुझे लौटा दिया।

मैंने तब एक दूसरा पत्थर उनके हाथ में दिया।

कहने लगीं वे, "अरे, यह तो उससे भी लम्बा-चौड़ा आदमी दिखाई दे रहा है। इसके हाथ में कुल्हाड़ी-जैसा कोई आयुध है। इससे जंगली सूअर मारा करते थे क्या ?"

मैंने आजीमाँ को बताया कि लोहा-ताँबा मिलने से पहले के लोग चाकू-छुरी-कुल्हाड़ी आदि सब पत्थर के ही बनाते थे।

"हूँ! यह तो बलवान भी बहुत जान पड़ता है। दूसरे लोग तो देखते ही इससे डरते हैं। यह देखो, कहीं से किसी कन्या को उठा लाया है। उसके घर के लोग ढूँढते हुए आये हैं, मगर इसने सबको डराकर भगा दिया है।

"अच्छा! अपनी स्त्री को यह कभी नहीं डराता। उस पर जोर-ज़बरदस्ती भी नहीं करता। प्रेम करता है उसे! न जाने कहाँ की है, कौन है! मगर स्त्री है: कहीं भी जनमे, कहीं भी पले, किसी दूसरे के घर जा उगना ही तो उसके भाग में बदा होता है!"

"इसके बच्चे भी हैं क्या आजीमाँ?"

"हाँ-हाँ, वह तो दिखाई ही दे रहे हैं। दो शायद बचपन में जाते रहे और दो···ये···जाने दो, बस करो।"

"नहीं आजीमाँ, एक पत्थर और है!"

"अच्छा ला, उसे भी दे।"

मैंने एक गोलाकार पत्थर उन्हें पकड़ा दिया। मुझे उसमें कोई विशेषता-सी नहीं लगी थी। दूसरे पत्थरों से अधिक साफ-सुथरा तो यह था ही। हाँ, कुतूहल अवश्य था कि नदी का यह पत्थर गुफा में कैसे! यह बात आजीमाँ से कही तो वे बोलीं:

"तुम्हारा मतलब, यह उन दूसरे पत्थरों से भिन्न है?"

"जी, आजीमाँ।"

"दूसरे पत्थर भी निरे मामूली नहीं थे। उन्हें काट-छाँटकर एक रूप देना और फिर धारदार बनाना आसान काम नहीं है, बेटा। मगर यह पत्थर···सचमुच यह तो······" कहते-कहते उनकी सारी देह काँप गयी।

चुपचाप वे थोड़ी देर आँखें मूँदे बैठी रहीं। मैं तो एक बार को घबड़ा भी गया। धीरे-धीरे उन्होंने आँखें खोलीं और अजीब-से स्वर में उनके मुँह से निकला:

"हे भगवान्—"

"क्या हुआ आजीमाँ?"

"बड़ी विचित्र-विचित्र चीज़ें दिखाई दे रही हैं, बेटा!"

"विचित्र चीज़ें? कुछ स्पष्ट बताइये, आजीमाँ।"

"बेटा, यह तो लिंग है।"

"लिंग? आपका मतलब 'शिवलिंग'?"

"बेटा, लिंग अर्थात् लिंग!" उन्होंने समझाया, "उसमें न शिव है न कोई और। लेकिन तुम्हें यह मिला कहाँ? इसके साथ वहीं पर एक कुछ और चीज़ भी रही होगी। मुझे तो अँधेरे में डूबी हुई एक गुफा दिखाई दे रही है और उसके

भीतर एक और गुफा।"

"हाँ-हाँ, आजीमाँ," मैंने उत्सुकता से कहा, "जिस गुफा में मैं गया था उसके भीतरवाली छोटी गुफा में एक छोटा गढ़ा जैसा किया हुआ था, उसी में यह रखा था। अर्थात् वह पाणिपीठ (योनि) थी!"

"नहीं, इस पत्थर को और वहाँ की अन्य वस्तुओं को देखकर तुमने उसे पाणिपीठ समझ लिया। इसे देखो, यह पुरुष का प्रतीक है। वहाँ गुफा में जो तुमने देखा वह योनि थी। इन दोनों को साथ-साथ रखकर ही पूजा की जाती थी।"

"तो क्या इसे वे शिव का प्रतीक मानते थे?" मैंने जानना चाहा।

"नहीं, "आजीमाँ का स्पष्ट उत्तर था, "वे तो इन दोनों को लिंग और योनि मानकर ही पूजा करते थे। आज तो सुनकर हम हँसने लगेंगे। पर हँसने की बात है नहीं। क्योंकि स्त्री और पुरुष क संगम से ही तो सृष्टि चलती है। उस काल के मानव ने भगवान् की सृष्टि को इसी रूप में देखा और माना। सभी प्राणियों का जन्म इसी प्रकार होता आया है।"

आजीमाँ जरा देर को रुकीं। उसके बाद बोलीं, "तुम्हें एक बात बताती हूँ। अभी तक किसी को नहीं बतायी। मैं जब भी किसी शिवालय में जाती हूँ और वहाँ लिंग और पाणिपीठ देखती हूँ तो मुझे सदा ऐसा ही लगता है। एक यह भी कारण है कि वहाँ भगवान् के आगे सिर झुकाने की मेरी इच्छा नहीं होती। तुम तो जानते भी हो कि मैं कभी मन्दिर नहीं जाती, और कभी जाती भी हूँ तो मन में कभी भक्तिभाव नहीं उठता। सभी मनुष्य, स्त्री और पुरुष, एक व्यामोह में फँसे हैं। इस व्यामोह के कारण ही संसार में माया और मोह व्याप्त हुए रहते हैं!"

कहते-कहते वे कहीं खो रहीं। उसके बाद बड़े धीमे स्वर में आगे बोलीं, "मैंने भगवान् से कभी कुछ नहीं माँगा। जिसने हमारे लिए जल-थल, अग्नि-वायु और आकाश की सृष्टि की, और स्वयं हमारे भीतर प्राणों की प्रतिष्ठा करके हमें जीवन की दीक्षा दी, उससे कुछ भी याचना करना मेरे विचार से अत्यन्त हेय है। हम यदि भगवान् के आगे जाकर हमें जो चाहिए वह माँगने लगें और उस समय भगवान् यदि हमसे ही पूछ उठे कि मैंने जो कुछ तुम्हें दिया था उसका तुमने क्या किया तो हमारे पास क्या उत्तर होगा?"

"आजीमाँ," मैं पूछ उठा "हम तो चतुर्मुख भगवान् को ही ब्रह्मा मानते हैं न?"

"बेटा, ब्रह्मा के चार या छह नहीं, हजार मुख रहें तो भी कम होंगे। यह सृष्टि और इसका स्रष्टा एक-दूसरे से अलग नहीं। इस सत्य को हम समझ लें और मान लें तो मुझमें और तुममें अन्तर ही न रह जाये।"

आजीमाँ का यह वेदान्त समझ पाना मेरे वस का नहीं था। मैंने कहा, "छोड़िये इस बात को, मुझे तो इस पत्थर के बारे में बताइये। इसकी पूजा की

जाती थी तो किस तरह ?"

वे हँस पड़ीं।

मैंने पूछा, "क्यों, हँस क्यों पड़ीं आप ?"

"इसलिए कि मेरा अनुमान ठीक निकला।"

"कौन-सा अनुमान ?"

"वही लिंग और योनि का। यह तुम लिंग लाये हो, वहाँ गुफा में योनि का प्रतीक बना हुआ होगा। वह देखो, आठ-दस जन उसे घेरकर खड़े हैं। यों देखने तक नहीं बनता, इतना अश्लील लगता है। बच्चे आसपास नहीं हैं, केवल युवक-युवतियाँ हैं। वे अब एक से एक जुड़े जा रहे हैं। कल यह सब नहीं था, आज स्पष्ट हो आया है। आज तो हम सबमें लाज-संकोच का भाव रहता है। स्वाभाविक भी है। इन लोगों में ऐसा कुछ नहीं है। एकदम निश्छल। भगवान् ने जिस नाटक की रचना की है, उसमें ये सब बिना सकोच के लगे हैं। फिर भी हरेक के चेहरे पर एक भक्तिभाव दिखाई दे रहा है। पर भगवान् से कुछ भी माँग नहीं रहे ये लोग।"

आजीमाँ ने मेरी ओर देखा, "कल जब मेरे हाथ में तुमने वह सींग का टुकड़ा दिया तो मुझे बेचैनी-सी होने लगी थी। उसे कहीं और रख आने के लिए भी तुमसे कहा था। आज इस पत्थर को इतनी देर हाथ में लिये रहने पर भी कुछ नहीं लग रहा। जब जन्म लेना असहनीय नहीं लगता, जीवन जीना असहनीय नहीं होता और मरना भी दु:सह नहीं—तो जन्म देने की क्रिया को ही क्यों असहनीय समझा जाये ?"

तभी कोई घर की ओर आता हुआ दूर पर दिखाई दिया। मैंने आजीमाँ के हाथ से पत्थर लेते हुए कहा, "आप यहीं बैठी रहिये, मैं इन चीज़ों को रखकर आता हूँ।"

एक भरोसे की जगह उन्हें रखकर मैं सीता के पास पहुँचा और नारायण के ब्याह के सम्बन्ध में आजीमाँ ने जो कहा था उसे बताया। सुनकर उसे खुशी हुई, फिर भी बोली, "न जाने ये हर बात में कुछ-न-कुछ बुराई क्यों निकालती ही रहती हैं ?"

"क्यों, अब क्या बुराई निकाली उन्होंने ?"

"निकाली नहीं जनार्दन के बारे में ?"

"देखो सीता, आजीमाँ की बातों को लेकर हमें इस तरह नहीं सोचना चाहिए। उनका एक अपना ढंग है। उसमें सुधार लाना हमारा काम नहीं।"

इतने में जो सज्जन दूर से घर की ओर आते हुए दिखे थे वे आँगन में आ पहुँचे। मैं बाहर आऊँ कि उससे पहले ही वे पुकार उठे, "अरे, घर में हैं ?" एक कण्ठस्वर से उन्हें पहचानकर मैंने बढ़कर उनकी अगवानी की।

"बैंगलूर से कब आना हुआ ?" मैंने पूछा।

"अरे भाई, मैं अब मसूर रहता हूँ !"

"हाँ-हाँ, मैं फिर भूल गया। आइये बैठिये। आज ही नारायण भी शिवमोग्गा से आया है। उसका एक मित्र भी साथ है। दोनों थोड़ी देर हुई जन्ना के घर गये हैं। आप सुनाइये, सब ठीक-ठाक तो है ?"

"हाँ, चल रहा है किसी तरह। एक छोटा-सा होटल है। गुज़ारा हो जाता है। साल में एक बार इधर आना पड़ता है, नहीं तो लगान ही मारा जाये।"

"अच्छा तो लगान-वसूली के लिए आये हो ?"

"वह तो है ही, साथ में गाँव की देवी भगवती हिण्डुगानम्मा के दर्शन भी करने होते हैं। लगान एक बार को मिले चाहे न मिले, भगवती की सेवा तो आवश्यक है।"

"अच्छा, घर पर अब कौन-कौन हैं यहाँ ?"

"अब तो कोई भूत भी नहीं रहता। एक रिश्तेदार को किसी तरह लाकर रखा है। वैसे पिछले साल तक तो माँ ही थीं।"

"इसका मतलब हुआ तुमने गाँव से नाता ही तोड़ लिया।"

"नहीं भाई, ऐसा कैसे हो सकता है। हम तो भगवती हिण्डुगानम्मा की कृपा से ही जी रहे हैं। मेरी दादीजी तो इन्हें साक्षात् कोटलम्मा कहा करती थीं। कोटलम्मा अर्थात् कष्ट देनेवाली देवी। पर वह कोटलम्मा हो चाहे कोट्टालम्मा (वर-प्रदायिनी) हो, मेरा तो विश्वास है कि जो कुछ भी मिलता है सब उसी की कृपा से। इसीलिए मैंने अपने होटल का नाम भी 'जगदम्बा विलास' रखा है। जगदम्बे ही तो सब कुछ हैं।"

"यह तो अच्छा किया तुमने। परसों मैं घाटी की तरफ़ घूमने चला गया था। लौटते हुए तुम्हारे घर के पास से निकलना हुआ। भगवती के मन्दिर का द्वार तो खुला था, भीतर फूल भी चढ़ाये हुए थे, मगर मन्दिर की हालत ठीक नहीं है, कभी भी कोई दीवार गिर सकती है।"

"हाँ, इस साल मन्दिर पर नयी छाजन जरूर डलवाऊँगा। भगवती का आशीर्वाद मिला तो अगले बरस पक्का करा दूँगा।"

हम दोनों बातें कर रहे थे कि भीतर से सीता भी वहीं आ गयी। आगन्तुक सज्जन से उसने पूछा, "जनार्दन के यहाँ होते हुए आये हैं क्या ?"

"नहीं, अभी नहीं गया, जाऊँगा।" वे बोले, "मगर मैसूर में तो कभी यह मेरी ओर देखता तक नहीं। इसका अपना अलग ही संसार रहता है, फिर भी सब सुनने को मिल ही जाता है। आप लोग तो उसके खूब परिचित हैं। उसे कुछ बुद्धि दें तो अच्छा होगा। मगर मेरा नाम न लें।"

"क्यों-क्यों, ऐसी क्या बात है ?"

"कुछ नहीं, ब्याह जल्दी हो जाये तो अच्छा। लड़कियों के पीछे घूमा करता है। वैसे रिश्ते तो कई आये, एकाध जगह बात भी बढ़ी, पर कहीं कुछ बनी नहीं।"

"लड़की पसन्द नहीं आयी होगी उसे!"

"नहीं, यह बात नहीं। वह पैसे के पीछे पड़ा है। दस-बीस हज़ार लगाने वाला चाहिए उसे। इसके लिए भी तैयार हैं लोग। एक होटल के ही मालिक हैं। लड़की पढ़ी-लिखी है, गुणवती है। यह चार दिन उनके यहाँ रहकर उसे अपने साथ जाने कहाँ-कहाँ घुमाने लगा। घरवालों को इसके रंग-ढंग पर सन्देह हुआ। इसका आना-जाना तक बन्द कराया गया। मैंने इसीलिए कहा कि इसका नहीं अब जल्दी ही ब्याह हो जाना चाहिए। वैसे मेरा इसमें कुछ नहीं आता-जाता। इतना ही है कि चार जन मुझे ताने सुनाते हैं: 'सुनी उसकी करतूत मंजुनाथ! तुम्हारे ही गाँव का तो है!' इसीलिए मैंने तुम्हारे आगे बात छेड़ी।"

सुनकर सीता भी विस्मित हुई होगी। मंजुनाथ उसका दूर का सम्बन्धी है। छुटपन से ही परिचित है। इसीलिए गाँव आता है तो हमारे घर आना और थोड़ी-बहुत देर बैठकर बात-चर्चा करना कभी न भूलता। हाँ भोजन के लिए कभी नहीं टिकता, संकोच के कारण कोई न कोई बहाना करके सदा टाल जाया करता।

जनार्दन के विषय में उसने सच ही कहा होगा, इसमें मुझे सन्देह नहीं था। पर जनार्दन सचमुच ऐसा! मैं बड़े असमंजस में पड़ा। आजीमां के मनोभाव का यह प्रत्यक्ष प्रमाण था। इतना क्लेश हुआ मुझे कि वहाँ से उठकर चला आया: यह कहकर कि मैं ज़रा बगीचे जा रहा हूँ। जाते-जाते मैंने मंजुनाथ को सीता से कहते सुना, "मेरी बात सुनकर आपके पति को आघात लगा है। पर जनार्दन के ये अच्छे मित्र हैं, ये ही उसे ठीक रास्ते पर ला सकेंगे।"

छह

हम करना कुछ सोचते हैं और दैव की इच्छा कुछ और ही होती है। मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ था। अभी तक थोड़ा-बहुत पढ़कर ही परीक्षाएँ पास करता आया था। स्मरण-शक्ति तेज थी, इसलिए जितना कुछ पढ़ता उसका आधा-एक याद रहता था। कभी परिश्रम अधिक कर पाता तो परिणाम और अच्छा होता।

बस इसी तरह एक के बाद एक परीक्षा पास करता आया था।

जब बी० ए० में था और परीक्षा को सिर्फ़ पन्द्रह दिन रह गये तो अचानक पिताजी का पत्र मिला कि मेरा रिश्ता तय हो गया है और मैं तुरन्त घर आ जाऊँ। घर पहुँचा मैं तो पाया कि बात अब चलायी जायेगी। मैंने बहुत कहा कि मेरी परीक्षा तो हो जाने दें। पर उत्तर में डाँट मिली: "पढ़ाई की परीक्षा हर साल हुआ करती है, यह सारे जीवन की परीक्षा है—इसे चुपचाप मान लो!" और मेरा विवाह कर दिया गया।

यों मैं उन दिनों बी० ए० में था, मगर अपनी पत्नी की सूरत लग्न-मण्डप में तो एक झलक जरूर देखी उससे पहले कभी नहीं देखी थी। और लग्न-मण्डप में तो अच्छी-भली लड़की भी अजीब-सी दिखाई देने लगती है। सोने-चाँदी के भारी-भारी गहने, न जाने कैसी-कैसी वेश-भूषा, ऊपर से सबके बीच लाज और संकोच के मारे सिमटी-सिकुड़ी हुई। कोई-कोई लड़की तो बिलकुल बँदरिया जैसी लगने लगती है। कदाचित् पुराण-काल के मन्मथ और रति भी ऐसे ही होंगे!

पर क्या कहने चला था मैं और क्या कहने लगा! बी० ए० की परीक्षा देने को था कि उन्हीं दिनों मेरा विवाह कर दिया गया। फिर भी मैं परीक्षा में बैठा और पास भी हो गया। उसके बाद जो-जो विषय मैंने पढ़े थे उन सभी की ओर से निर्लिप्त हो गया। सच तो यह कि इतिहास में मेरी रुचि कॉलेज छोड़ने के बाद ही जगी। वह भी कैसे! मूडूरु के जंगलों में घूमने-फिरने से, वहाँ मिलते पुराव-शेषों को देख-देखकर! हमारा मूडूरु किसी युग में एक महानगर था: मन में इस कल्पना के रूप-आकार लेने के बाद ही!

बड़े नगरों का आकर्षण-मोह मुझमें नहीं था। मेरे लिए हमारा गाँव ही सब कुछ था। इसे ही महानगर का स्तर देने की लालसा मेरे मन में जरूर थी। यही लालसा शायद नागनकालु तक भी ले गयी। वहीं मुझे उस दिन गुफा में शिलायुग के वे कुछ अवशेष भी मेरे हाथ लगे। उनके विषय में आजीमाँ ने जो कुछ बताया उसे सुनकर मेरे सिर पर अब एक पुरावशेष-अन्वेषक का भूत सवार हो चुका था। अपने मूडूरु के इतिहास को दस हज़ार वर्ष पूर्व तक ले जाकर इसे मेम्फ़िस और थीबिस जैसे नगरों का स्थान-मान दिलाने को मैं अपना कर्तव्य समझ बैठा था। अण्णुनायक को साथ लेकर उन गुफाओं की ओर फिर जाने के लिए मेरा मन व्याकुल था। नारायण गाँव आया तो मैंने बहुत चाहा कि वह साथ चले। लेकिन उसने मेरी आशा पर पानी फेर दिया। और अब उसके ब्याह के झमेले के कारण तो मेरा सपना तक चरमराने लगा था।

उसे अपने ब्याह की लगी थी। मुझसे चार बरस छोटा है। इसलिए उसकी और भी अपेक्षा थी मुझसे कि मैं शिवमोग्गा जाऊँ और उसके भावी ससुर अर्थात्

अपने भावी समधी, से मिलकर सारी बातें तय कर आऊँ। अब मैं ही एक प्रकार से घर का बड़ा हूँ, इसलिए यह सब मुझे करना भी चाहिए। लेकिन मुझे तो इन मामलों की कोई भी जानकारी नहीं थी। इतना ही बस मैं जानता था कि कोई लड़का और एक लड़की होने से ही ब्याह की बात बन जाती है। अब नारायण के ब्याह का भार ऊपर आने पर मुझे सारी बातें गाँव के चार सने गृहस्थों से जाकर जाननी-समझनी होंगी। कैसे होगा यह सब ?

मैंने नारायण को समझाने का प्रयत्न किया, "देखो, जब तुम्हें लड़की पसन्द है, हम लोग भी तुम्हारे साथ सहमत हैं, और आजीमां का भी आशीर्वाद प्राप्त है तो और बात ही क्या रह गयी ? क्यों न एक दिन तुम ही शिवमोग्गा चले जाओ और सब तय कर आओ। कोई बात अगर ऐसी है जिसके लिए मेरा होना बिलकुल अनिवार्य हो तो मुझे बताओ। सच तो, यहाँ गाँव से रहते-रहते मैं कुछ ऐसा हो गया हूँ कि कहीं भी जाने-आने का न अब मन होता है न साहस। इसलिए तुम ही चले जाना। और भी एक बात है। ब्याह-शादी में कहीं कोई झमेला अगर उठता है तो लड़केवालों की तरफ से। लड़कीवाले हमेशा यही चाहा करते हैं कि कारज हँसी-खुशी निबट जाये। हमारी ओर से बताना हो सकता तो इतना ही कि इस ब्याह में वे लोग कितना सोना-चाँदी दें, कितना आने-जाने का खर्चा, और कहाँ ब्याह की रस्म पूरी की जावे। सो हमें किसी तरह का कोई आडम्बर करना नहीं है। हम तो इतना ही चाहते हैं कि बाद को भी दोनों पक्ष हँसते-मिलते रहें। उनके और अपने में हमें कोई अन्तर ही नहीं मानना चाहिए। सो ऐसे में मेरे शिवमोग्गा जाने की क्या ज़रूरत है, भाई तुम ही चले जाओ।"

गीता ने टोका, "ऐसी बात है तो आप घर के बड़े किसलिए बने हैं ?"

"क्यों न नारायण ही इस भार को भी सभाल ले ?" मैंने कहा।

"मतलब ?" गीता कुछ तेज स्वर में बोली। "तब आप कहीं और ब्याह करने को तैयार हैं ?"

गीता के इस प्रश्न में एक स्पष्ट चुनौती थी। मैंने उसी क्षण समझ लिया कि मेरी गीता उस काँटे के समान है जिसके सहारे कुएँ में गिरी चीजें निकाली जाती हैं। हारकर बोला, "अच्छा बाबा, बिगड़ती क्यों हो, मैं ही चला जाऊँगा।"

गीता मुसकरायी। कहने लगी, "तो पहले वहाँ जाकर यह मालूम करो कि वे लोग यह कारज अभी करेंगे या बड़ी लड़की के विवाह के बाद, और गहने आदि किस तरह से वर और क्या-क्या चढ़ाये जाने हैं।"

"अरे हाँ," मुझे याद आया, "ये दोनों जनार्दन के यहाँ गये थे, क्या हुआ वहाँ ?"

"क्या होता ! जनार्दन ने कहा पिताजी से बात करो। पिताजी से बात करने गये अनन्तराव तो वे बोले, 'मुझसे बात करने से क्या लाभ ! मेरी क्या सुनना-

मानता है वह ? सुनता होता तो छह वरस पहले व्याह हो गया होता !' अनन्त-राव ने जब यह कहा कि जनार्दन लड़की को भी देख आये हैं तो पिता वोले, 'देखिये, मुझे यह सब वताने की जरूरत नहीं है। मैं तय कर चुका हूँ कि जब तक वह स्वयं आकर नहीं कहेगा तब तक मैं चुप ही रहूँगा।' अनन्तराव निराश होकर चले आये।''

सीता ने आगे वताया, "यहाँ लौटकर आ जाने के वाद आपके द्वारा एक और कोशिश कराने की सोची थी। मैंने रोक दिया। नारायण से भी कह दिया है कि अपनी मंजूरी का भरोसा उन्हें भले ही दे दो, मगर जनार्दन के मामले में अपने को मत डालो। अनन्तराव ज़रूर दोनों वहनों का एक साथ व्याह करना चाहते हैं। लेकिन यह असम्भव दिखाई देता है। वह अगर छोटी वहन का व्याह करने पर राज़ी हों तो आप ना मत करना। नारायण तो इन्हीं छुट्टियों में व्याह करने के लिए उतावला हो रहा है।"

"इन्हीं छुट्टियों में ? यह तो वैसाख है !"

"तो ? वैसाख में क्या कारज-व्याह नहीं होते ?"

"अरी, मगर छुट्टियों के अब दिन ही कितने वचते हैं। इतने कम दिनों में मुहूरत निकलवाना, गहना-कपड़ा वनवाना, और सौ तरह की और-और तैयारियाँ करना सब कैसे हो सकेगा ?"

सीता ने वड़े इतमीनान के साथ कहा, "करने से सब हो सकता है। यह व्याह तो अगर चाहो तो, तीन दिन में भी हो सकता है।"

"फिर तो अच्छा यह होता कि अनन्तराव वहन को साथ लेते आते। एक ही दिन में वारात-व्याह सब हो जाता।"

"हाँ क्यों नहीं; होने को वह भी हो जाता।"

उसके पराक्रम से अवगत होकर मैं दंग रह गया। फिर जैसे सारी वात तय हो चुकी हो इस प्रकार वह वोली, "अच्छा, मगर कुछ गहने आदि हमें भी वनवाने होंगे। वह कब वनवाओगे ?"

मैंने सीता की वात का अनुमोदन किया, "यही तो मैं कह रहा था। गहने आदि क्या एक दिन में बन जायेंगे ?"

उसके होठों पर भी हँसी फैल आयी, वोली, "व्याह के लिए एक दिन चाहिए, यही तो मैंने कहा था। गहने वनवाने और पापड़-वड़ी करने की वात तो अलग थी। उसके लिए तो कुछ दिन चाहेंगे ही।"

जो भी कहें आप; मेरी सीता एक वार जो मन में ठान लेती है उसे करके ही दिखाती है। स्वयं नारायण को अपने व्याह के लिए जितनी उत्सुकता थी उतना ही उत्साह उसके लिए सीता को भी था। घर की वड़ी होने के नाते सज-सँवर कर वारात में जाने के लिए वह तो जैसे तैयार वैठी थी। सोच तो सारा

मेरे आगे था।

नारायण के ब्याह का चाव मेरे मन में भी था। पर उससे कहीं अधिक मुझे धुन थी उस गुफा को बार-बार जाकर देखने की, ठीक से वहाँ का अन्वेषण करने की, वहाँ की चीजें लाकर आजीमाँ को दिखाने की, जो पुरावशेष मैंने वहाँ से ढूंढ निकाले थे उन्हें प्राच्यवेत्ताओं को दिखाने की, और फिर उनके विषय में दो-एक लेख कहीं प्रकाशित कराके कुछ अपने लिए ख्याति अर्जित करने की। ब्याह की बात से मेरी इन सारी इच्छाओं और आशाओं में बाधा आती थी। फिर भी भाई की खातिर शिवमोग्गा जाना ही था। उससे बचाव न था। सो मैंने सोचा अनन्त-राव के साथ-साथ ही चला जाऊँगा। मगर अनन्तराव मेरे लिए न रुककर, एक दिन पहले ही चले गये। नारायण उन्हें गंगोल्लि तक साथ जाकर बस में बैठा आया।

हमारा गाँव घाटियों के अंचल में बसा हुआ है। जेठ का पहला चरण आते-न-आते यहाँ तीन-चार बार तो जोर की बारिश हो ही जाती है। अर्थात् चुप बैठे रहने के लिए अब सामने समय नहीं था। परिणाम यह कि मैं तत्काल आगे की सोचने लग गया। गाँव में सोना खरीदना और गहने बनवाना असम्भव था। जहाँ लुहार तक न हो वहाँ सुनार की सोचना भी बिलकुल अजीब बात होती। क्यों न तब कुन्दापुर जाकर बने-बनाये गहने खरीद लाऊँ? सोचने-विचारने पर मुझे यही करना ठीक जँचा। अब रहे वधू और वर के जोड़े। इनकी व्यवस्था शिवमोग्गा से लौटने पर की जा सकती थी।

इस सबके बीच कहीं अगर थोड़ा-सा भी अवकाश मिल जाता तो मैं अपने उसी शोध-कार्य में लग जाता। मगर जैसे बात-बात में उसमें विघ्नों का सामना करना पड़ता। कभी सीता बुलवा भेजती और कहती कि उसे तो लगता है ब्याह की बात पक्की ही समझना चाहिए। कभी वह स्वयं वहीं आ जाती और कहती कि ब्याह से पहले अमुक-अमुक रस्म पूरी करने के लिए एक बार लड़की वाले भी तो यहाँ आयेंगे, उनके ठहरने आदि की क्या व्यवस्था होगी। थोड़ी देर के बाद अचानक फिर मुझे बुलवाती; और मुझे उठने में जरा भी देर लगती कि फौरन दूसरा बुलावा आ जाता। लाचार उठकर मैं अनमने भाव से जाकर देखता कि वह अपने गहनों की पेटी खोले बैठी है। एक-एक गहना मुझे दिखाते हुए कहती, "ये सब काले पड़ गये हैं, देखो न? इन्हें कुन्दापुर ले जाकर उजलवाना होगा।" हाँ-हूँ करके मैं लौटने लगता तो वह फिर अटका लेती, "सुनिये, कुछ बड़ी-पापड़ तैयार करने होंगे। मगर उरद की दाल तो घर में है ही नहीं। कुछ इन्तजाम करना होगा: जल्दी ही।"

मैं नारायण के गंगोल्लि से लौटकर आने से पहले-पहले आजीमाँ से अपनी उस पोटली की कुछ चीजों के बारे में और जान-पूछ लेना चाहता था। इसके

लिए उन्हें उस पीपल-चबूतरे पर ले जाना ज़रूरी था। मैं अच्छी तरह समझ रहा था कि दुर्योग से कहीं मंजुनाथ उस समय यदि वहाँ आ गया तो सारे सोचे हुए पर पानी फिर जायेगा! नारायण उस बीच नहीं लौट सकेगा। इसकी मुझे मन ही मन प्रतीति अवश्य थी। इसीलिए मैंने बहाना कर सीता को टालने के लिए कहा, "देखो, आज मंगलवार है। आज के दिन ब्याह जैसे शुभ कारज की बातों में लगना ठीक नहीं। कल को बुधवार है, शुभ दिन है; कल को बात करना अच्छा रहेगा। समझीं? अब और मत पुकारना मुझे, हज़ार बार बुला चुकी हो!"

सीता मान गयी। भीतर-भीतर शायद उसे लगा भी कि मंगल होने का विचार तो स्वयं उसे पहले होना चाहिए था। वहाँ से चलते हुए मैंने अवश्य यह मन में अनुभव किया कि तिथि-नक्षत्र और घड़ी-मुहूर्त का मुझे स्वयं कुछ ज्ञान होता तो अच्छा रहता। सीता को ऐसे अवसरों पर चुप करने का वह एक अचूक अस्त्र हाथ में होता।

दोपहर बाद जब धूप उतर चुकी तो मैंने आजीमाँ को घर से बाहर निकल-कर चबूतरे की ओर जाते हुए देखा। ठीक मौक़ा समझकर मैं भी बाहर निकला। उतने में सामने एक नेवला आ गया। मैं देखते ही सोचने लगा: नेवले का दर्शन अच्छा शकुन है या बुरा? पर इस बात को वहीं का वहीं छोड़ मैं लपककर छिपायी हुई रखी अपनी उस पोटली को लेने पहुँचा और फिर आजीमाँ की तरफ़ चल दिया।

आजीमाँ आज सहज ही बड़ी प्रसन्न थीं। मुझे देखते ही बोलीं, "लाओ दो, क्या दिखाना है?"

पोटली की जो तीन-चार चीजें रह गयी थीं, उन्हें मैंने उनकी ओर को बढ़ा दिया और ध्यान से सुनने के लिए दाहिने हाथ की तर्जनी पर ठुड्डी टिकाये पास बैठ गया।

वे बताने लगीं, "यह किसी की माला का दाना है। पत्थर का है या हड्डी का, पता नहीं चलता। पर बेचारी बहुत ग़रीब है। बिलकुल युवती है। देह पर एक लंगोटी-सी बँधी हुई है, और गले मे यह माला डाले खड़ी है। देखने में बुरी नहीं है, काली ज़रूर है। मगर पास ही खड़े अपने पति जैसी भी काली नहीं है। उनके साथ एक और पुरुष भी है। ओ हो, ये तो वही लोग हैं—धनुष-बाण चलानेवाले! लेकिन यह लड़की तो इनके समाज की या जाति की लगती नहीं। ज़रूर कहीं दूर की है। शायद ये लोग इसे उठा लाये हैं! इसी के कारण मारपीट भी हुई है।"

"जबसे इसे उठा लाये हैं ये दोनों तब से ही इसका पिता बहुत दुखी है। बेचारा पागल जैसा हो गया है। यह भी यहाँ दुखी है। हरदम कलपती रहती है।

ये दोनों इसे गुप्त रखने के लिए तरह-तरह के जतन करते हैं। मगर बेचारी पिंजरे में बन्द तोते की तरह बस छटपटाया करती है। पिता-माता और भाई-बहिन ही नहीं, अपने यहां के और सब लोगों में भी छूट जाने का इसे दुःख है।

"मगर यह हुआ कैसे? वह देखो! उधर एक झरना है। पानी में यह लड़की कुछ ढूंढ रही है। बिलकुल अकेली है। अब देखो! स्नान करने लगी है। तभी रही थोड़ी दूर पर कोई खिलखिलाकर हँसा। लड़की ने घबराकर इधर-उधर देखा और फिर पानी में बैठ गयी। इतने में एक युवक हाथ में धनुष लिये हुए दबे पांव आकर खड़ा हो गया और इसे देखने लगा। यह लड़की इस पर एक गोल वहां से भागी।

"भागने को तो भाग निकली, पर जैसे मन नहीं माना। अटका-सा रह गया। कुंआरी थी न! तो पुरुष का आकर्षण इसे फिर खींच लाया। दोनों ने एक-दूसरे को देखा, और देखते ही रहे। फिर यह लड़की अपने घर लौट गयी। उस युवक का गांव वहां से कोसों दूर था। वह भी धीरे-धीरे चलता हुआ अपने गांव लौट गया। वहां आने संगी-साथियों के साथ मिलकर उसने एक योजना बनायी। दो-एक जन ने उसे समझाया, "देखो, ये लोग हमारे कट्टर दुश्मन हैं, उस लड़की को भूल जाओ।" मगर युवक नहीं माना।

"लो, मुझे अब ये सब लोग भी यहां दिखाई दे रहे हैं। सब मिलाकर आठ या दस झोपड़ियां हैं। पचासेक जन रहते होंगे वहां। स्त्रियां तो दस भी नहीं हैं। इसीलिए शायद यह सारा काण्ड भी हुआ हो! बस, कुछ लोग आकर झरने के पास छिपकर बैठ गये। यह लड़की वहां फिर आयी और इन लोगों को देखते ही चिल्लायी। मगर भागी नहीं। फिर जो होना था वही हुआ। ये लोग इसे पकड़कर अपने गांव उठा लाये।

"उधर इसकी खोज में इसके माता-पिता और सगे-सम्बन्धी निकले और शिकारी कुत्तों की तरह पीछा करते हुए इन लोगों के गांव तक आ पहुँचे। ये लोग जो लड़की को उठा लाये थे, रंग के काले थे। मगर इस लड़की के माता-पिता और उनके दल के लोग उतने काले नहीं थे। उस समय आमना-सामना होते ही दोनों दलों के लोग एक-दूसरे को धमकियां देने लगे। बात बढ़ी, मगर एक सीमा के भीतर ही रही। न यह दल उस पर झपटा, न वह इस पर। बस, इस लड़की के पिता, और इसे जो युवक उठा लाया था—इन्हीं दोनों में उठा-पटक, मारा-मारी होकर रह गयी। जीत युवक की रही।

"बाद को दोनों दलों में समझौते की जैसी बात भी चली। लड़की को तो अब यहीं रहना था युवक के पास। वाह, यह भी कोई बात हुई!" एकदम से आशीमा बोल उठी, "ऐसा भी हो सकता है क्या?" मेरी तरफ देखती हुई फिर बोली, "यही राक्षसी विवाह कहलाता था क्या?"

"हो सकता है आजीमाँ ! ऐसा ही कुछ तो रहा होगा।" मैंने उनकी बात का समर्थन किया।

"अच्छा तो उन दोनों के भी बच्चे हुए। उसके बाद उस लड़की की उदासी कुछ कम हो गयी। अपने इस युवक पति को जरूर उसने अपने से कभी दूर नहीं रखा। हर तरह उसे अपना माना। मगर भीतर से खुश वह नहीं ही रही। शायद सगे-सम्बन्धियों से छूटने का और अपने जन्म-कुल से सदा के लिए कट जाने का क्लेश उसे बना रहा।"

"आप ठीक कहती हैं आजीमाँ, यही बात रही होगी।"

"हाँ बेटा, यह लड़की तो भैंसा-कुल की थी। वे लोग भैंसे के वंशज जान पड़ते हैं।

"हाँ, वे लोग जब इनके गाँव पर आक्रमण करने चले तो उससे पहले अपने देवता को मनाने के लिए उसके आगे नाच-कूद रहे थे। उनका पुरोहित तो मुँह पर भैंसे का मुखौटा भी लगाये हुए था। उन लोगों ने एक बड़े से पेड़ के तने पर कीलें ठोककर भैंसे के सींग लगा रखे हैं। वही उनका देवता है।"

"अच्छा, इस युवक के लोग किस वंश के हैं आजीमाँ ? ये लोग किसकी पूजा करते हैं ?"

"बताती हूँ, बताती हूँ ! इनकी गुफा में तो, परसों तुम्हें बताया था न, वही लिंग और योनि हैं। आसपास और भी कुछ चीज़ें हैं। गुफा के अँधेरे में ठीक-से दिखाई नहीं दे रहा। हाँ, मिट्टी का एक घड़ा भी रखा है। और उसके ऊपर बाघ का चित्र भी बनाया गया है। तो क्या ये लोग बाघ के कुल के हैं ? ऐसा क्या ! इसीलिए शायद वे भैंसे के कुल वाले बाघ-कुल-देवता से डरकर बहुत आगे नहीं बढ़े ! चुपचाप ही जैसे उन्होंने हार मान ली और अपनी लड़की को यहाँ छोड़-कर चले गये। एक बार को बाघ के कुल में गयी हुई लड़की शायद अपने भैंसा-कुल में लौटकर जा भी नहीं सकती होगी। हमारे गाँव के शूद्रों में भी तो इसी तरह के कई कुल हैं, उनमें भी ऐसे रिवाज चलते होंगे" आजीमाँ ने कहा।

"हाँ, आजीमाँ हम लोगों के भी कितने ही गोत्र हैं: विश्वामित्र गोत्र, भारद्वाज गोत्र, वशिष्ठ गोत्र आदि-आदि।"

"बेटा, गोत्र तो हैं, पर हम लोग उन ऋषियों की सन्तान हैं, ऐसा मुझे कभी नहीं लगता। विश्वामित्र की सन्तान ! अर्थात् हम क्या तब मेनका की सन्तान हैं ? विश्वामित्र क्षत्रिय थे और मेनका की जाति का कहीं कुछ पता नहीं मिलता। तब हमारे जैसे नैष्ठिक ब्राह्मण कैसे उनकी सन्तान हुए ? मेरा तो अनुमान है कि वे ऋषि हमारे गुरुजन थे। और जिस प्रकार भूल से हम उन्हें अपना पूर्वज मान बैठे हैं उसी प्रकार इन प्राचीन लोगों ने अपने को बाघ और भैंसे से जनमा हुआ मान लिया होगा। लेकिन, फिर भी, अपने-अपने कुल की मर्यादा और रीति-

परम्पराओं पर वे लोग जोर देते थे। बाघ के कुल वालों में बाघ का शिकार निषिद्ध था, इसी प्रकार भैंसे के कुल वालों में भैंसे का मारना वर्जित था।"

"ऐसे रीति-रिवाजों के बारे में मैंने भी सुना है, आजीमाँ। पर ये सूर्यवंश—चन्द्रवंश—ये सब क्या है ?" मैंने एक और समाधान चाहा।

"उन देवताओं पर आस्था रखने वाले राजकुल रहे होंगे। अन्यथा मनुष्य क्या भैंस या बाघिन से जनमेगा ? और फिर मानव-जन्म पशु-जन्म से श्रेष्ठ है इसका भला क्या अर्थ रह जायेगा। पर छोड़ो इस विषय को। यह बताओ बेटा, तुम्हारे भाई के विवाह की बात कहाँ तक पहुँची ? जनार्दन ने क्या जवाब दिया ? वह जो आये थे भाई के साथ, वह चले गये ?"

"हाँ आजीमाँ, अनन्तराव आज सबेरे चले गये।"

"और नारायण ?"

"वह अनन्तराव को थोड़ी दूर तक पहुँचाने गया है। मैं स्वयं परसों शिवमोग्गा जाने की सोच रहा हूँ। वहाँ उन लोगों से बात करके सब निश्चय कर आऊँगा।'

"तो आखिर मान ही गये !" आजीमाँ मुसकरायीं, "सीता को कैसा लगा यह सम्बन्ध ?"

"आजीमाँ, सीता को तो नारायण के प्रति बहुत ममता है। नारायण को जो सम्बन्ध पसन्द होगा वह उसे भी पसन्द होगा। वह तो मैं मना भी करूँ तो मानने वाली नहीं।"

"नहीं बेटा, तेरी सीता इतनी बुद्धू नहीं है। उसे लोक-व्यवहार का भी ज्ञान है। यह घर-गिरस्ती उसी के बल पर तो चल रही है। तेरे जैसी नहीं !"

"आपका मतलब, आजीमाँ ?"

"हाँ बेटा, तुझे पीतल दिखाकर सोना बताया जाये तो तू एक बार को मान लेगा मगर—"

"आजीमाँ, तो मेरा अपना कोई वजन नहीं है ?"

"है तो, पर बस यों ही। ख़ैर, जनार्दन ने क्या जवाब दिया ? उसके पिता से नहीं मिले क्या ये लोग ?"

"मिले थे। बेटे ने पिता से मिलने को कहा, पिता ने बेटे से ही बात कर लेने को कह दिया। सुना तो यहाँ तक है, आजीमाँ, कि जनार्दन उन लोगों के घर गया था, लड़की को भी इसने देखा-भाला और परिवार में सबके साथ बैठकर भोजन आदि भी किया। चलते हुए यह कह आया कि गाँव पहुँचकर आपको लिखूँगा। उन लोगों ने इसकी बात का भरोसा कर लिया। कुछ कहा तो, आजीमाँ, यह भी जाता है कि उसका चलन बहुत ठीक नहीं है। आपने भी कुछ ऐसा संकेत किया था। मंजुनाथ ने या किसी और ने उसके बारे में कुछ आपको बताया होगा ?"

"मंजुनाथ यहाँ आया जरूर था बेटा, लेकिन इस सम्बन्ध में कोई बात नहीं आयी। उसे भगवती का मन्दिर ठीक कराना है। उसी को लेकर बात करने आया था। अच्छा है, मन्दिर ठीक हो जाये तो। शायद उसे भी इसमें शान्ति मिलेगी।"

सुनकर मैं चकित रह गया। दूसरों के मन की बात का भी आजीमाँ को कैसे पता चल जाता है? उस दिन घर खीर बनी तब भी इन्हें मालूम हो गया। यहाँ तक किट्टू से बोलीं थीं कि अब तो घर में रोज खीर बनेगी! मैं तो सुनकर यह समझा था कि घर में मेहमान आये हैं और नारायण भी बहुत दिनों बाद आया है: इसलिए कहा होगा। मगर बाद को जब नारायण के ब्याह की सारी बात सीता से सुनी तब समझा कि सच बात तो यह थी! कैसे जान जाती हैं आजीमाँ? किसी पर आँख पड़ जाये या उनके सामने किसी बात का उल्लेख ही आ जाये तो उसके सम्बन्ध में यह सब कुछ बता देती हैं। इसे सचमुच मामूली बात नहीं कहेंगे। आजीमां में कोई दिव्य शक्ति जरूर है। इसमें कोई सन्देह मुझे यदि था भी तो वह गुफा से लायी हुई चीजों के बारे में उन्होंने जिस तरह जितना कुछ बताया उससे नहीं रह जाना चाहिए। मेरे ही मन में इनकी बतायी बातें क्यों उतर जातीं? और तो और मेरे स्वभाव के बारे में ही उन्हें राई-रत्ती सब पता है। पीतल दिखाकर कोई उसे सोना बताये तो मैं शायद एक बार मान ही लूंगा। लेकिन बीते युगों के सम्बन्ध में ये जो कुछ बताती हैं वह सब कहीं उनकी कल्पना ही तो नहीं? मगर, तब, मनुष्य के चरित्र का इतना सही और सच्चा ज्ञान इन्हें कहाँ से, कैसे हो जाता! हाथ में पत्थर या हड्डी का टुकड़ा आने पर हजारों साल पहले की घटनाएँ कोई यों ही बता सकता है क्या? वैसे कहा तो यह भी जाता है कि कोई एक अंजन है उसे आँखों में लगाकर देखो तो स्वयं आंजनेय आकर हमें न जाने कहाँ-कहाँ ले जाते हैं! यह सब क्या सम्भव है? मुझे तो विश्वास नहीं होता। हनुमानजी के मन्दिर में दसों बार गया हूँ भक्तिभाव से उनकी पूजा भी मैंने की है, और श्रद्धा-पूर्वक राम की कथा का भी श्रवण किया है। फिर भी, रामायण एक सचमुच घटित वृत्त है, ऐसा मुझे नहीं लग पाता। इसके विपरीत, आजीमां ने बीते युगों के लोगों की जो नाना प्रकार की बातें बतायी हैं वे सब वास्तविक लगती हैं।

मैं इस सोच-विचार में डूब-उतरा रहा था कि हठात् आजीमाँ बोलीं, "किस सोच में पड़ गये बेटा! जाओ, घर जाओ और अपने जाने की तैयारी करो। सीता से सब समझ-बूझ लो वहाँ क्या बात करनी है और किस तरह क्या सब और करना होगा। अपने यहाँ की रीति-परम्पराओं के बारे में भी उससे सब पूछ लो। उसे सब मालूम है।"

तब तक साँझ घिरने लगी थी। नारायण भी अपने मित्र अनन्तराव को

झूठी आशाएँ बँधायीं! लड़की के माता-पिता पर सब सुनकर अब क्या बीतेगी, इसका ज़रा तो ध्यान होना चाहिए था!"

नारायण कहता गया, "अनन्तराव के यहाँ उन लोगों का अपना बच्चा ही है। और कुछ नहीं है। सब लोग वहीं रहते हैं। घर अपना है: सबका मिला-जुला एक ही। परिवार बहुत बड़ा नहीं है। बच्चों में अनन्तराव है, उससे छोटा भाई है और बाद की दो बहनें। शायद उनके बाद भी एक-दो भाई हैं। सब मिलाकर स्थिति मामूली है। देने-दाने को जैसे कुछ नहीं है। इसीलिए लड़कियों को पढ़ाया भी है।"

"कहाँ तक पढ़ाया है? सातवें-आठवें तक तो पढ़ाया ही होगा?" सीता ने एकाएक पूछा।

"नहीं भाभी," नारायण मुसकराया, "दोनों बहनों ने मैसूर से बी० ए० किया है।"

"बी० ए०!" सीता एकदम से चौंक पड़ी, "इतना किसलिए पढ़ाया? यह तो बहुत ज़्यादा हो गया!"

"नहीं भाभी, उन लोगों की तो मान्यता है कि लड़कियाँ जितना ही अधिक पढ़ी-लिखी हों उतना ही अच्छा। बात ठीक भी है। लेकिन अब यही बात समस्या बन रही है उनके लिए। ऐसे लड़के नहीं मिल रहे जो इनके बराबर के भी हों और पढ़े-लिखे भी हों। अनन्तराव के पिताजी तो बहुत दिनों पहले से भी विवाह के प्रयास में थे। ये लड़कियाँ ही आग्रह पकड़े रहीं कि पहले पढ़ाई पूरी हो जाये। पिताजी को चुप रह जाना पड़ा। अनन्तराव की माताजी मन ही मन यह भी चाहती रही हैं कि सम्बन्ध कहीं इधर ही हो।"

अचानक इस पर सीता पूछ उठी, "तुम कह रहे थे उन्होंने तुम्हारी कुण्डली आदि मिलाकर देख ली है! कब ले गये तुम यहाँ से कुण्डली? कहीं ऐसा तो नहीं कि उन लोगों ने तुम्हें इन्हीं सब बातों में लुभा-फँसा लिया हो? क्यों है न?" सीता ने एक बार मेरी ओर देखा। मैं चुप बैठा था, बैठा रहा।

नारायण से एकबारगी ही उत्तर देते नहीं बना। मेरी पत्नी अब तक नारायण की हर बात को मानती आयी थी। मगर प्रत्यक्ष ही लड़की को इतना पढ़ा-लिखा होना उसे नहीं सुहाया।

घबराये-से स्वर में नारायण बोला, "तो अब मुझे क्या करना चाहिए?"

"मगर तुम वहाँ 'हाँ' जो कर आये हो!"

"पर मैंने तो सिर्फ़ अपनी पसन्द की बात कही है।"

"इसके बाद बाक़ी और क्या रह जाता है?"

"तो—" नारायण आश्वस्त होता हुआ बोला, "आपके उस प्रश्न के ढंग से मैं तो कुछ और ही समझा था।"

सीता ने अपने को स्पष्ट किया, "मेरा आशय यह था कि लड़कियों की पढ़ाई पर इतना खरचने से अच्छा होता कि उसी पैसे से उन्होंने सोना खरीद-खरीदकर रखा होता।"

मौका देख मैंने पत्नी से व्यंग्य किया, "तुम्हें कितने मन सोना चाहिए सो बता दो। कल को वहाँ जाना ही है, बात कर आऊँगा।"

सीता ने मेरी ओर देखा, "आपने मुझे मँगनी समझा है क्या जो उनसे माँगने जाऊँगी! छि: छि:! बेटी उनकी है। उनकी जितनी इच्छा होगी स्वयं देंगे। आप तो वहाँ बस इतना ही कहें कि ब्याह की साड़ी आदि के साथ अमुक-अमुक चीजें अपने साथ लायेंगे, और इस-इस प्रकार से इतने-इतने गहने चढ़ायेंगे। इसके सिवा किसी तरह की कोई और छोटी-मोटी बात वहाँ नहीं कहनी है।"

"अजीब हो तुम भी सीता!" मैं हल्के से हँसा, "आज के जमाने में गाय-भैंस-बैल आदि मामूली-सी भी चीज खरीदते हैं तो उसका भाव-ताव करते हैं। उसे हर पक्ष से देखते-समझते हैं। यह सब रिवाज में आ गया है। और तुम हो कि तुम्हारे लिए बहू लाऊँ मगर वहाँ बिलकुल चुप रहूँ!"

"हाँ बिलकुल यही। पूछिये न अपनी आजीमाँ से? आपके पिताजी अपनी बहू बनाने के लिए मुझे देखने आये थे तब, जानते हैं, उन्होंने क्या माँगा था? केवल चार शब्द कहे थे उन्होंने. 'लड़की हमें पसन्द है।' पाँचवाँ शब्द उनके मुँह से नहीं निकला था। न उस दिन, न कभी बाद को ही। मेरे पिताजी तो आज भी उनका गुणगान करते हैं।"

मेरे होठों पर फिर मुसकराहट उतर आयी, "सीता, वह समय और था, यह और है। वह सतजुग था, यह तो कलजुग है। मैं पिताजी की तरह कैसे चुप रह सकता हूँ।"

"तो फिर आपके शिवमोग्गा जाने की जरूरत नहीं," सीता भड़क पड़ी। फिर नारायण से बोली, "देखो नारायण, तुम्हारे भइया के मन में तो और बातें चल रही लगती हैं। तुम्हें विवाह अपने सुख के लिए करना है। तुम आज ही वहाँ चले जाओ और चुपचाप ब्याह करके बहू को घर ले आओ।"

उस समय बात वहीं रह गयी।

दूसरे दिन मैं शिवमोग्गा पहुँचा तो साँझ के छह बज चुके थे। बस से आने में सारी देह धूल से अट गयी थी। अनन्तराव और उनके पिता सदाशिवय्या जी बस स्टैण्ड पर उपस्थित थे। मानो मेरे इस अवतार को देखने की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके यहाँ पहुँचने पर वे लोग शरबत या चाय लेने के लिए आग्रह करने लगे। मैं किसी तरह पहले स्नान कर लेना चाहता था। सो अनन्तराव को संकेत से बताकर पहले इसकी व्यवस्था करा दी। अनन्तराव के पिताजी कहते ही रह गये कि पानी अभी गरम हुआ जाता है और मैं ठण्डे से ही स्नान करने चला गया। नहा-धोकर

जब तक कपड़े नहीं बदल लिये तब तक मुझे ऐसा नहीं लग पाया कि मैं एक मनुष्य हूँ। मुझे चैन-सा मिला। इस बीच शायद अपने होटल से ही उन्होंने ढेर सारी उपाहार सामग्री मेरे लिए मँगा ली थी। मैं तो देखकर ही घबड़ा गया। उनसे बोला, "सुनिए, यह सब कष्ट आपने क्यों किया? मुझे अभी कुछ नहीं चाहिए। मैं तो इस समय बस थोड़ी-सी कॉफ़ी पीकर सो जाना चाहता हूँ। बातचीत कल सवेरे कर लेंगे। यात्रा से बहुत थक गया हूँ।"

पिता-पुत्र दोनों आग्रह करने लगे तो मैंने कॉफ़ी के साथ दो केले ले लिये और फिर मानो अपनी बात को पुष्ट करने के लिए ही वहीं पर बिछी चटाई पर सो गया।

एकाएक आँख खुली। पर पता नहीं लगा कि कितनी रात है। घर के सब लोग अन्दर सोये हुए थे। मेरे पेट में चूहे दौड़ रहे थे। बल्ब जल रहा था। देखा कि सिरहाने की तरफ़ चार-पाँच सन्तरे रखे थे। एक बार को जी में आया सन्तरे ही खा लूँ। भूख से तो कुछ शान्ति मिलेगी। फिर ध्यान आया कि इस प्रकार रखे हुए फल खाने से अपना ही मान घटेगा। मैंने अपने को रोक लिया और मुँह पर चादर ओढ़कर सो जाने के दूसरे अध्याय का आरम्भ करने में लग गया।

सवेरा होने पर अनन्तराव आये। कहने लगे, "रात को आप भोजन किये बिना ही सो गये। शायद बहुत थके हुए थे। गहरी नींद सोया देख आपको जगाना ठीक नहीं समझा।"

"हाँ, बहुत थक गया था। इसी से बहुत नींद आ रही थी। मैं अभी मुँह-हाथ धोकर आता हूँ। फिर बैठकर बात करेंगे।" कहकर मैं उठ पड़ा।

निवृत्त होकर लौटा तो उपाहार में इडली और दोसा मसाला प्रस्तुत किया गया। बाद को स्पेशल कॉफ़ी आयी। मैं जब काफ़ी पी चुका तो अनन्तराव ने बताया, "मेरी यह बहिन जो अभी-अभी आपको कॉफ़ी दे गयी, यही है आपके घर की होनेवाली बहू।" अनन्तराव यह कहकर अपने पिताजी को बुलाने चले गये।

तभी अनन्तराव की माता वहाँ आयीं और औपचारिकता से बोलीं, "यात्रा में बहुत कष्ट हुआ होगा आपको। किसी-किसी को बस की यात्रा अनुकूल नहीं बैठती।"

फिर वे अपने घर के बारे में सुनाने लगीं। दोनों बेटियों को भी वहीं बुला लिया उन्होंने। उपाहार के बाद ही अब उन्हें ठीक से देख पाया। आजीमाँ ने जो कुछ बताया था, वह स्मरण हो आया। बड़ी कुछ साँवली थी। फिर भी लक्षण-वती थी।

सहज सौजन्य के भाव से मैंने कहा, "दो-दो का भार है आप पर। मेरा तो यह एक ही है जिसका मुझे कोई भार नहीं।"

अनन्तराव की माता ने उत्तर में कहा, "कल तक जैसा भार-सा ऊपर लद रहा था आज वैसा नहीं है। बड़ी के लिए भी वर मिल गया है। लड़के को छुट्टी मिलने में एक-दो मास का समय लगेगा, सो ठीक है। हम तो डर रहे थे कि इसके लिए कुछ ठीक-ठाक होते कहीं एक-दो बरस न तरसना पड़े।"

वे बैठी ही थीं कि सदाशिवय्या जी आ गये। आते ही बोले, "हमसे भारी गलती हुई है कि घर आये आप जैसे अतिथि को रात में भूखे सोना पड़ा। हमें क्षमा करें।"

मैंने हाँ-हूँ करके प्रसंग को बिलकुल ही टाल दिया।

फिर विवाह की बात चलने लगी।

वे बोले, "हमें छोटी का ब्याह पहले करने में भी कोई आपत्ति नहीं। स्थान की बात आपकी इच्छा पर निर्भर है। यहाँ भी सारी व्यवस्था की जा सकती है, कहीं और भी। आप चाहेंगे तो देवस्थान कोल्लूर को भी चुना जा सकता है। हमें तो केवल आपका अनुग्रह और आपकी प्रसन्नता चाहिए। आप जो भी जैसे करने के लिए कहेंगे, हम उसके लिए तैयार हैं।"

सदाशिवय्या जी वयोवृद्ध व्यक्ति थे। उनके आगे बोलते हुए मुझे और भी संकोच हुआ। मैंने इसलिए अनन्तराव को बुलाने के लिए कहा।

अनन्तराव आ गये तो उन्हें अपने पास बैठाकर मैं बोला, "अनन्तराव जी, आप हमारे यहाँ जाकर हम लोग जैसे जो हैं सब देख आये हैं। मैंने आकर आपकी बहिन को देख लिया है। मुझसे पहले नारायण देख गया है। उसने इसे पसन्द भी किया है। अब और क्या रह जाता है! ब्याह के लिए स्थान आप लोग ही चुन लें। हाँ, ब्याह जल्दी हो जाय तो अच्छा। लगन अभी पन्द्रह दिन और है। अपनी सुविधा के अनुसार तारीख़ निश्चित कर लें और मुझे सूचित कर दें आप और हम अब दो नहीं रह गये।"

"यह सब आपकी कृपा है।" अनन्तराव ने विनम्रता के स्वर में कहा। कुछ रुक कर बोला, "बारात में कितने जन आयेंगे? कुछ अनुमान दे सकें तो उसके अनुसार व्यवस्था करने में सुविधा होगी।"

"आप तो देख ही आये हैं हमारा परिवार छोटा-सा है। सगे और सम्बन्धी भी बहुत नहीं है। सब मिलाकर, मेरा अनुमान है, बीसेक जन आयेंगे। आजीमाँ कहीं जाती-आती नहीं हैं: वे आयेंगी ही नहीं।"

"आजीमाँ नहीं आयेंगी!" अनन्तराव ने जैसे कारण जानना चाहा। बोले, "आपके घर-परिवार की बुजुर्ग हैं। मेरे मन में उनके प्रति बहुत आदर है। उन्हें अवश्य लाइये। लगन के समय उनका मण्डप में रहना जरूरी है।"

अनन्तराव ने दोबारा आग्रह के साथ कहा, "हाँ, उन्हें तो जैसे भी हो लाना ही होगा।" जरा रुककर आगे बोले वह, "पिताजी चाहते हैं कि ब्याह सीधे-सादे

ढंग से हो। जो कुछ भी इस निमित्त खर्च होना है उसका अधिक से अधिक अंश कन्या और वर के काम आये तो अच्छा। हम लोग हगलूर के मूलवासी हैं। मूकाम्बा देवी ही हमारी इष्ट हैं। उन्हीं के मन्दिर में यह शुभ कार्य सम्पन्न हो तो हम सबको प्रसन्नता होगी। फिर भी आजीमाँ जो स्थान चुनेंगी वह सर्वोत्तम होगा। कोल्लूर यदि दूर और असुविधा का जान पड़े तो हमें आपके यहाँ आकर यह शुभ कार्य सम्पन्न करने में भी कोई आपत्ति नहीं है।"

कुछ देर सामान्य बातें चलती रहीं। उसके बाद सबने बैठकर ब्याह का दिन निश्चित किया। स्थान कोल्लूर ही रखा गया। जब गहनों आदि की बात छिड़ी तो मैं चुप हो रहा। उन लोगों ने अवश्य बताया कि कन्या को कितने गहने सोने के और कितने चाँदी के देंगे। मैंने जैसे इस बात को ध्यान देकर सुना तक नहीं।

अगले दिन मैं चलने को हुआ। मगर उन लोगों ने आग्रह करके रोक लिया। इस बीच दोनों ओर के निमन्त्रणपत्र भी छपकर आ गये। उन्हें लेकर दो दिन बाद गांव पहुँचा तो मेरी आवाज सुनते ही सीता बाहर आयी। उस बेचारी अनपढ़ के हाथ में विवाह के निमन्त्रणपत्र देकर मैं आजीमाँ को ढूंढ़ने चला गया।

वे कुएँ की जगत पर बैठी थीं। मैंने दूर से ही कहा "आजीमाँ, आपके आशीर्वाद से सब ठीक हो गया।"

"बेटा, यह न मेरे आशीर्वाद का फल है न तेरी शुभकामना का। वे लोग मूकाम्बिका के भक्त हैं, वही सब कुछ करा रही है।"

"ब्याह कोल्लूर में होगा। वे लोग शिवमोग्गा से वहाँ पहुँचेंगे, हम लोग यहाँ से।"

"हाँ ठीक है। तुम नारायण से कहो अपने मित्रों को आमन्त्रित करे। सभी बारात में चलेंगे। मेरी कमर में ताकत रही तो मैं भी चलूँगी।" कहकर आजीमाँ हँसने लगीं।

"आजीमाँ, अनन्तराव ने आपके लिए विशेष रूप से कहलाया है। उसने आग्रह किया है कि आपके सम्मिलित हुए बिना यह ब्याह कैसे हो सकेगा। आपको चलना ही है।"

आजीमाँ हँसते हुए बोलीं, "वह तो बावला है। मैं अब सूखे काठ का टुकड़ा हुई। गयी तो क्या, न गयी तो क्या। मेरे जाने-न-जाने से क्या होता है।"

अब मैं अगर भाई के व्याह के बारे में कुछ और बताऊँ तो निरर्थक समझा जायेगा। इसलिए सिर्फ इतना ही कहना कि व्याह हँसी-खुशी हो गया और अच्छा ही हो गया। लेकिन सिर्फ इतना ही अगर कहूँ तो शायद गीता बुरा मान जाये। क्योंकि व्याह में उसकी ही भूमिका विशेष थी, महत्व की थी। वह स्वयं इस बात को जान चुकी थी और इसलिए मन-ही-मन प्रसन्न भी थी।

मेरे अपने शोध-कार्य में व्याह से विघ्न पड़ा था। फिर भी एक कारण से मुझे खुशी हुई थी। आजीमाँ ने कोलनूर तक साथ जाकर व्याह के कामों में भाग लिया था और अनन्तराव का अनुरोध रखा था। हमारे गाँव से कोलनूर पहुँचने के लिए काफी दूर तक पहले कच्चे रास्ते को पैदल पार करना पड़ता है, उसके बाद आगे बैलगाड़ी से जाना होता है। आजीमाँ बिना विशेष कठिनाई के पूरा पैदल रास्ता भी पार कर गयी और बैलगाड़ीवाला भी! मैं देखकर दंग रह गया।

उसी दिन से मेरे मन में यह खदबद होने लगी थी कि क्या यह भी सम्भव है कि उन्हें साथ ले जाकर गाँव के आसपास का पहाड़ी इलाका और वहाँ के पुराव-शेषों को दिखाऊँ और उनके बारे में जो कुछ उन्हें दृष्टिगत हो उसे वहीं का वहीं सुनूँ? मन के सपने तो यहाँ तक थे कि उन्हें नागनकालु की उन गुफाओं में भी ले जाऊँ और बीते युगों के जन-जीवन की जानकारी उनसे प्राप्त करूँ! ज्यों-ज्यों दिन जाते गये मन की खदबद मेरी एक उत्कट इच्छा बनती चली गयी। जैसे अपने ऊपर मेरा वश न हो और यह सब अपने-आप ही होता जा रहा हो।

आप लोग यह सब सुन-सुनकर मेरे ऊपर हँस सकते हैं। कोई-कोई तो खिल्ली तक उड़ायेंगे कि अजीब बेवकूफ आदमी है यह भी जो बूढ़ी आजीमाँ की उस तरह देखी और बतायी बातों पर यों विश्वास करता है जैसे वे सत्यकथा हों! कौड़ी डालकर भविष्य बतानेवालों को लोग मान लेते हैं। कुण्डली के आधार पर ग्रहगति का वर्णन करनेवालों पर तो बहुतों का विश्वास रहता है। सामुद्रिक शास्त्र को भी अनेक लोग स्वीकार करते हैं। और तो और गाय और पक्षियों तक की अंग-गति को हम अपनी आस्था की टेक बनाते सकोच नहीं करते। अब इस प्रकार सुनी-जानी बातों को कोई समझदार व्यक्ति लिपिबद्ध करके रखे और बीस बरस बाद उठाकर देखे तब कहीं सच और झूठ की परख हो।

किन्तु भविष्य के बारे में तो ऐसी परख-जाँच हो पाना सम्भव भी हो सकता है, भूतकाल की किसी घटना को लेकर तो यह सम्भव हो ही नहीं सकता। किसी प्रकार का कोई अनुमान उसकी सत्यता के बारे में लगाया जा सकता है तो केवल अपने अनुभव या ज्ञान के आधार पर। यों, आजीमाँ ने जो कुछ बताया उसे प्रमा-

णित करने का कोई साधन नहीं है। लेकिन कभी न कभी और कहीं न कहीं घटित उस प्रकार की घटनाओं की थोड़ी-बहुत जानकारी प्राच्यविद्या विषयक ग्रन्थों में अवश्य मिल सकती है। जो हो, और जैसा भी कोई समझे, मैं तो आजीमां की बतायी बातों को ज्यों का त्यों मानता हूं।

दुनिया की नजरों में वे भले ही पागल हों। भले ही मुझे भी सिड़ी या बेवकूफ़ समझा जाये कि उनके एक-एक शब्द पर मुझे इतना विश्वास है, इतनी आस्था है। पर मुझे क्षमा किया जाये; आजीमां की बातों पर मुझे विश्वास है और रहेगा। आखिर तो उनका ही पोता हूं। कुल के सारे गुण-दोष मुझमें भी आये होंगे। वैसे देखें तो, होगा कोई कुल-परिवार ऐसा जिसमें किसी-न-किसी पीढ़ी में, हां पितरों में ही सही, कोई पागल न समझा गया हो? बात इतनी ही है कि अपनी पीठ हमें नहीं दिखती। सचाई शायद यह है कि अपने को हम बुद्धिमान समझते हैं और जो हमारी नहीं मानते उन्हें सीधे पागल या दीवाना नाम दे देते हैं।

आजीमां के कोल्लूर जाने से एक लाभ मुझे और हुआ। ब्याह के सारे काम हो चुके थे। ज्योनार काफ़ी भारी थी। वह भी हो चुकी थी। अब अगले दिन गांव को ही लौटना था। उस बीच वहां किसी को कोई काम नहीं था। सांझ के समय नारायण भी अपनी नव-विवाहिता वधू को साथ लेकर वहां का तीन फुटा बाजार घूमने चला गया था। वधू की मां को तो यह अच्छा भी नहीं लगा होगा कि उतने सारे गहने पहने हुए वह उस तरह घूमने जाये। सीता को भी, मैं जानता हूं, अच्छा नहीं लगा होगा। पर वह दूसरे ही कारण से। उसे मन ही मन यह खला होगा कि वह थोड़ी-सी अंगरेजी जानती है तो क्या हुआ, इस तरह सबके देखते पांव-पैदल जाना तो बड़ा लज्जाजनक हुआ। मेरे दोनों बच्चे भी किसी के साथ इधर-उधर सैर करने निकल गये थे। अपने लिए इसे बड़ा अच्छा अवसर समझ मैंने आजीमां से जाकर कहा, "चलो न आजीमां, चलकर मन्दिर की जगत पर ही बैठें!"

ब्याह के दन सब कई दिनों तक तो घर की बुजुर्ग होने के कारण कोई न कोई उनसे मिलने बराबर ही आता रहा। सबने काफ़ी मान-सम्मान भी उन्हें दिया। लेकिन कारज निबट जाने के बाद वे अब खाली जैसी हो गयी थीं। इसीलिए मैंने जब उनसे अनुरोध किया तो वे चलकर मन्दिर की जगत पर बैठने के लिए तत्काल राजी हो गयीं। मैं हाथ थामकर उन्हें वहां तक ले गया। सामने थोड़ी ही दूर पर आठ-दस मलयाली यात्री बैठे दिखे। आजीमां जब ठीक से बैठ गयीं तो मैंने पूछा, "आपका भी तो नाम मूकाम्बिका है न, आजीमां?"

"हां बेटा, इसी भगवती के नाम पर मेरा नाम रखा गया है।"

"मगर आजीमां, जहां तक मुझे पता है, हम लोगों के देवी-देवताओं में यह

नाम विरले ही किसी का मिलता है। शायद ये बोलतीं नहीं इसलिए ये मूका-म्बिका कही जाती हैं! दुर्गा, काली आदि के नाम तो मिल जाते हैं, मगर यह नाम नहीं। क्या मूकाम्बिका भी उग्र देवता हैं आजीमां ?"

"बेटा, हम जैसा सोचेंगे वैसा ही तो रूप होगा भगवती का। काली, दुर्गा, चण्डी ये सब उग्र रूप वाले देवता हैं। दुष्टों का संहार करने के लिए ही भगवती ने ये रूप ग्रहण किये। महिषासुर-मर्दिनी भी एक नाम है उनका। महिष नामक एक प्रचण्ड असुर का संहार किया उन्होंने, इसीलिए यह नाम हो गया। सम्भव है किसी मूकासुर का नाश करने पर मूकाम्बिका नाम पड़ गया हो उनका।"

"तो यह देवता 'मूक' अर्थात् वाक्‌विहीन नहीं हैं? तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि किसी काल में इधर कोल्लूर के वनों में मूकासुर नाम का कोई राक्षस रहता होगा?"

"हाँ, महिषासुर की तरह रहा होगा और उसका किसी ने वध किया होगा।"

मैंने आश्चर्य से पढ़ते हुए उनके अन्तिम शब्द दोहराये "उसका किसी ने वध किया होगा!" और कहा, "तो क्या आप समझती हैं यह दुष्टों का संहार करने के लिए भगवान् के अवतार लेने की बात मिथ्या है?"

"तुम्हें क्या लगता है?"

आजीमां के उलटे मुझसे ही प्रश्न कर उठने पर मैं उलझन में पड़ गया। मन ही मन सोचता हुआ बोला, "मुझे तो लगता है कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी जो हम सुनते आये हैं उसे ही मानने लगे हैं। दुष्ट लोग होते ही है और जब उनकी प्रबलता बहुत बढ़ जाती तब उनका नाश करना भी अनिवार्य हो जाता होगा। ऐसी ही स्थितियों में जिस प्रकार भगवान् विष्णु ने मत्स्य, कूर्म, वराह और राम और कृष्ण के अवतार धारण किये होंगे। वैसे ही शिवजी ने और देवी पार्वती ने भी ग्रहण किये होंगे।"

"मेरी तो बेटा, यह कुछ समझ में आता नहीं।"

"क्या नहीं आता, आजीमां?"

"यही अवतार धारण करने की बात—"

"मगर, आजीमां, इसमें समझ में न आनेवाली बात क्या है?

"क्यों, दुष्ट का दमन करने के लिए क्या भगवान के लिए अवतार लेना जरूरी है? तुम स्वयं सोचो, पेड़ बड़ा होता है या उसका पत्ता?"

"निश्चय ही पेड़ बड़ा होता है।"

"तब मात्र एक पत्ते को अपने से अलग करने के लिए क्या समूचे पेड़ को डोल उठना होगा? नहीं न? तब भगवान् को भी एक के बाद एक अवतार ग्रहण करने की जरूरत कहाँ थी! अवतार लेने के सिवा और कोई काम नहीं

या भगवान् को ? और फिर भगवान् भी कितने ! एक भगवान् काफ़ी नहीं था ?"

"भगवान् तो एक ही है, आजीमाँ। अन्य सब तो उसके विभिन्न रूप मात्र हैं।"

आजीमाँ मुस्कराते हुए बोलीं, "एक भगवान् के ही अनेक अवतार हो जाते! पर यहाँ तो भगवान् विष्णु भी अवतार लेंगे और महादेव शिव भी; भगवती दुर्गा भी अवतरित होंगी और देवी पार्वती भी ! यही सौभाग्य की बात कि ब्रह्मा और ब्रह्माणी की ओर से ये पचड़े नहीं उठते। क्यों न इसका अर्थ यह समझा जाये कि जहाँ तक बुद्धि जा सकी वहाँ तक देवी और देवता होते गये और उसके बाहर के सब अवतार मान लिये गये ?"

मैं निरुत्तर रह गया।

आजीमाँ ही आगे बोलीं, "बड़ा प्रश्न यह है बेटा, कि जिसे भगवान् ने स्वयं सिरजा उसे ही नष्ट करने के लिए उन्हें अवतार लेना होगा ? ये दैत्य-असुर कितने भी शक्तिशाली रहे हों, भगवान् के आगे तो तुच्छ कीड़े-मकोड़े ही थे ! उन्हें कुचलने के लिए भगवान अवतार लें ! रावण के संहार के लिए राम का अवतार हुआ—चलो इसे मान भी लें, लेकिन कब इस दुष्ट के उपद्रव शुरू हुए और कब शिकायत की गयी ?—"

मैं उनके मुँह की ओर देखता रहा।

उन्होंने अपने को स्पष्ट किया, "भगवान् रामचन्द्र ने दशरथ के यहाँ जन्म लिया, सोलह-सतरह बरस वहीं रहे और बड़े हुए, फिर चौदह बरस का वनवास काटा, इसके बाद जाकर रावण का संहार किया। रावण की दुष्ट प्रकृति जैसे ही प्रकाश में आने लगी थी वैसे ही क्या भगवान् उसका संहार नहीं कर सकते थे ? क्यों अन्याय और अत्याचार को बढ़ावा देने के लिए उसे तीस-बत्तीस बरस की छूट दी गयी ? उचित था क्या यह ? मुझे तो सब विचित्र-सा लगता है।"

क्षण भर आजीमाँ कुछ सोचती-सी रहीं। फिर बोलीं, "और इतना ही नहीं, सोचने की बात तो यह भी है कि दुष्ट का नाश करने के लिए भगवान् को मनुष्य का रूप धारण करना क्यों जरूरी हुआ ? क्या बिजली गिराकर या किसी और उपाय के द्वारा यह काम नहीं किया जा सकता था ? तरह-तरह के नाटक रचाना क्यों भगवान् के लिए जरूरी हुए ?"

मैं तो जैसे अवाक् हुआ रह गया। किसी तरह बोला, "तो आजीमाँ, आप क्या इन सब देवी-देवताओं और अवतारों को नहीं मानतीं ?"

"देखो, बेटा, भगवान् एक ही है। अनेक हम हैं, उसे देखने वाले। और अनेक हैं हमारी ही दृष्टियाँ। हमने ही एक भगवान् को अपने अनेक रूप देकर अनेक बना दिया है। आकाश को हज़ार लोग देखते हैं तो आकाश हजार नहीं हो जाता !

कए का एक ही रहता है वह। वैसा ही, उसी रूप में!"

कितने विलक्षण और अपूर्व थे आजीमाँ के तर्क! मैं चकित था निश्चय ही यह कच्ची गोली नहीं है। इन्होंने परम्परा से चली आयी मान्यताओं को मुँदी आँखों नहीं स्वीकारा है। शायद इसीलिए लोग इन्हें पगली और पिशाचग्रस्त समझने लगे।

"तो क्या मूकासुर नाम का भी कोई राक्षस नहीं हुआ?" मैंने आजीमाँ से पूछा।

"बेटा, कोल्लूर मेरे लिए नया स्थान नहीं है। मैं जब छोटी थी तो तुम्हारे दादाजी मुझे यहाँ लाये थे। भगवती की जो मूर्ति यहाँ आज दिखाई देती है वह पहले नहीं थी। इसे किसी ने बाद में लाकर रखा। मुझे भास हो रहा है, पहले यहाँ एक छोटा-सा मन्दिर था और उसमें एक छोटी-सी ही पत्थर की नारी-मूर्ति थी। लोग उसे ही माँ भगवती कहने लगे—"

"तब इतना तो सच रहा न कि भगवान् 'माँ भगवती' बने? स्वयं भगवान् स्त्री हैं या पुरुष?"

"भगवान् न स्त्री है, न पुरुष। वह न कुछ बने, न बनते हैं। ये सब तो हमारी अपनी कल्पनाएँ हैं। हमारे मन में जो भी गोचर हुआ उसे ही मूर्ति का रूप देकर हमने प्रतिष्ठित कर दिया और उसकी पूजा की जाने लगी। बच्चों का माँ से बढ़कर कोई नहीं होता। पिता न रहे तो चल जाये शायद, माँ के बिना नहीं चलता। बुढ़ापे में भी किसी को चोट-फेंट लगती है तो माँ की ही याद आती है। इसी तरह भगवान् को भी माँ समझें हम तो उसमें अचरज की कौन बात? माँ को हम बहुत चाहते हैं, इसीलिए कुछ भी माँगते हैं तो उसी से, और तंग भी सबसे अधिक उसी को करते हैं!"

आजीमाँ ने आगे कहा, "कुछ लोगों को यही माँ हठीले और दुष्ट बच्चों को दण्ड देनेवाली माँ के रूप में दिखाई देती है। कभी हमारे ऊपर कोई कष्ट पड़ता है तो हम उसे माँ का क्रोध मान लेते हैं। काली और दुर्गा इसी माँ के रूप हैं। सिरसी की मारियम्मा भी वैसा ही एक और रूप है।"

वे कहती गयीं, "मगर यह कोल्लूर के मन्दिर की माँ सबसे निराली है। यह मूकाम्बा है, गूँगी। इन्हें कितना ही पुकारो, भक्तिभाव से कितना ही गुहारो, चाहो तो कोसो भी; यह कभी कुछ न कहेगी। कभी कुछ इनसे मिलेगा भी नहीं। इनके आगे स्तुति और निन्दा दोनों एक बराबर हैं। यहाँ तो जो कुछ जिसे यह स्वयं देती है उसे ही मानकर चलना होता है। यह माँगनेवालों को यह भगवती वर देनेवाली नहीं है। अवश्य, यह मेरी धारणा है। यही एकान्त सत्य है ऐसा मैं नहीं कह सकती। मैं न तो ज्ञानी हूँ, न बुद्धिमान्। जो लगा मुझे, वही कह रही हूँ।"

आजीमाँ कुछ देर कहीं खोयी रहीं। उसके बाद एक विचित्र-से भाव के साथ बोलीं, "यह देखो अब ! मेरी आँखों के सामने माँ का एक और ही रूप आया हुआ है। ठीक उसी स्थान पर है यह जहाँ वह पत्थर की मूर्ति प्रतिष्ठित है। पर कोई मन्दिर या मढ़ी, चौरा तक वहाँ नहीं है। बस मिट्टी की एक बड़ी-सी मूरत रखी है। बड़े-बड़े स्तन हैं उनके, पेट भी खूब बड़ा है। आँखें मुंदी हुई हैं और दोनों हाथों को जंघाओं पर रखे हुए बैठी हैं। चेहरे के भाव से लगता है मानो कुछ कहना चाह रही हों। क्या कहना चाह रही हैं, यह अब मैं समझ गयी हूँ। यह कहना चाहती हैं कि 'मेरे तो हजारों-हजार-बच्चे हैं, उनमें से तू भी एक है। तुझे जनम दे दिया, पाल-पोस दिया, अब जाओ अपने मेलो और खुश रहो ! बार-बार मेरे पास आकर और कभी यह कभी वह माँगने की रट लगाकर मुझे तंग मत किया करो।' और बस उसने होंठ सी लिये हैं।"

कुछ क्षण वे सामने शून्य में देखती रहीं। फिर बड़े धीमे स्वर में बोलीं, "मुझे तो यही ठीक भी लगता है। छोटे बच्चों की तरह घड़ी-घड़ी उसके पास आकर 'मुझे यह चाहिए माँ, मुझे वह दे दो, देखो हमें इसने मारा' आदि ही कहते रहेंगे तो यही तो होगा अन्त में। आखिर कब बड़े होंगे ये बच्चे ? कब समझ आयेगी इन्हें, कब ये अपने पैरों पर खड़े होंगे ?"

आजीमाँ की इन बातों को सुनकर मेरा मन 'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति' की भावना को भूलकर उस मूकम्बा देवी की कल्पनाओं में डूब गया। सच, यह माँ तो न किसी के आँसुओं से विचलित होती हैं न पूजा-प्रलोभनों से ही। इस रूठी हुई माँ को अब कोई मनाना चाहे तो उसका एक ही उपाय है, और वह यह कि जो रास्ता तुम्हें स्वयं ठीक लगे उस पर चलो। यह माँ न तो 'मैं तेरी शरण हूँ' सुनने की भूखी हैं न किसी प्रकार का नाटक ही देखने की।

मेरा मन स्वभावतः अब कई माँओं की कल्पना में डूबने-उतराने लगा। कहीं कोन्दूरम्मा है तो कहीं थामव्वा ! कहीं एल्लव्वा तो कहीं सावक्का ! इस अनेकनामी माँ के नाना रूपों की कल्पना कब-कब और कैसे-क्योंकर आयी होगी ? मन में प्रश्न उठने के साथ ही मैं विचारों में खो चला। अचानक आजीमाँ ने पुकार कर कहा, 'अरे तड़के ही गाँव लौटने के लिए हमें बैलगाड़ी तैयार करना है !' मेरे चिन्तन के सूत्र वहीं टूट रहे झटका खाकर।

मैं उठा और आजीमाँ को लेकर मन्दिर के अहाते से बाहर आया। धीरे-धीरे चलते हुए हम दोनों जनवासे तक आये। सब कोई वहाँ चैन की नींद सोये थे। आजीमाँ भी एक कोने में जा लेटीं और एक जगह मैं भी।

आँख तो मेरी अवश्य लगी, पर नींद कितनी आयी, और कैसी, यह नहीं कह सकता। खुले में बीसेक जन अस्तव्यस्त पड़े सो रहे थे, किसी को जैसे कोई सुध नहीं थी। ये प्रायः वे लोग हैं जिन्हें बिस्तर पर पहुँचते ही नींद नहीं आती।

संयोग से मैं उन पुण्य पुरुषों में हूँ जिन्हें बिस्तर से कमर लगते ही नींद आने लगती है। कभी-कभी जरूर ऐसा भी होता है कि लाख कोशिश करने पर भी नींद आने का नाम नहीं लेती। आज ऐसा ही हुआ। मैंने स्वयं ही आजीमाँ से चर्चा छेड़ी थी। फिर जो सब उनसे सुना उससे मन में धाराप्रवाह विचार-आलोड़न ? होना अस्वाभाविक नहीं था। नींद भला ऐसे में कैसे आती, कहाँ से आती ? आस-पास ही खुर्राटों की भरमार। एक तरफ सूअर जैसी घुर्र-घुर्र तो दूसरी ओर रह-रहकर घोड़े जैसी हिनहिनाहट। और एक अन्य की खुर्राट में कुत्ते की भों-भों। विचित्र-विचित्र आवाजें…

मुझसे थोड़ा अलग को सोया तिट्टू नींद में ही दो बार चिल्लाया, 'पिताजी, मैं भी आपके साथ चलूँगा।' सुनकर मुझे लगा कि मैं जब आजीमाँ को लेकर मन्दिर की ओर चला गया था तब इसने मेरे पास जाने की हठ की होगी और गीता ने डाँट-डपटकर सुला दिया होगा। अब सोने में वही सब सपने के रूप में दिख रहा होगा।

कितनी देर बाद, पता नहीं, किसी तरह आँखें लगी। क्या देखता हूँ सोये-सोये कि सामने एक भीमकाय राक्षस खड़ा है। उसके हाथ में एक बड़ा भारी मूसल है, आँखों से चिनगारियाँ निकल रही हैं, और हाथ भर की जीभ [illegible] लटकती है। सिर पर सन की जेवड़ियों-से लम्बे-लम्बे घने और रूखे [illegible] के कारण दसों दिशाओं में फैले थे। महाभयानक यह [illegible] मेरे सामने आ खड़ा हुआ, पर मुंह से एक शब्द नहीं बोला। मैं डर के मारे [illegible] था। [illegible] पूछा, "तुम कौन हो ? यहाँ क्यों आये ?"

पहले प्रश्न का कोई उत्तर उसने नहीं दिया। दूसरे [illegible] अपने हाथ के आयुध उस मूसल को उसने जोर से ऊपर [illegible] ही गया। घिघियायी-सी आवाज में किसी तरह मुँह से [illegible] चाहते हो तो जरूर मार डालो, पर इतना बता दो तुम हो कौन [illegible] रहनेवाला नहीं, मूड़ूल का हूँ। मेरा नाम गुरुबारगाव है। [illegible] यहाँ आया हूँ। सारा साहस सिमट गया— यही [illegible] भाई और बहू सोये हैं, बगल में माँ भी सोये हैं। [illegible] तुम्हें मारना ही है तो, मैं जगा हूँ, मुझे मार सकते हो। [illegible]

मेरे विनम्र भाव को देख [illegible] खिल आयी। [illegible] मेरा सारा व्यवहार उसे [illegible] लौटा और [illegible] अपना प्रश्न दोहराया, 'तुमने बताया [illegible]

उत्तर में उसने ऊपर ताने [illegible] और घुमाकर [illegible] जोर से धरती पर ठोंककर उसके [illegible] कुछ नहीं।

अच्छा तमाशा था ! मैंने उसके सारे उस अभिनय के आधार पर उसे समझने की कोशिश की। फिर कहा, "तुम क्या यह कहना चाहते हो कि तुम इसी गांव के रहनेवाले हो ?"

उत्तर में वह फिर मुसकराया, बोला अब भी कुछ नही।

इतना मैं अब समझ गया कि यह राक्षस कोल्लूर का ही है और किसी भी कारण से गूंगा है। हठात् मेरी कल्पना चिहुँकी—कहीं यह वही मूकासुर तो नहीं जो जलकर भस्म हो गया था ? तब क्या वह फिर भी अभी तक जीवित है ? यदि यह मूकासुर है और, जैसा कि दिख रहा है, अभी तक जीवित है, तो मूकाम्बिका देवी के हाथों मारा गया असुर कौन था ? फिर तो मन में एक के बाद एक प्रश्न उठने लगा। आजीमाँ ने जो कहानी सुनायी वह क्या सच थी ? यह राक्षस क्या सचमुच जीवित है ? गूंगा वास्तव में कौन है ? माँ अम्बा या यह असुर ?

मैं यही सब सोचे जा रहा था कि अचानक वह भीमकाय राक्षस आँखों आगे से अदृश्य हो गया। इतना अवश्य स्पष्ट हो चुका था कि वह यहीं का है। इसी कोल्लूर का। किन्तु 'कोल्लू' यानी मारना ! अर्थात् जो यहाँ आये वह मारा जाये ? ऐसा भी नाम होता है कहीं क्या ? हो सकता है कभी यहां डाकू-लुटेरे रहते हों और इधर से जो निकलता उसे लूटकर मार डाला जाता हो। इस आधार पर धीरे-धीरे यही नाम यहाँ का पड़ गया होगा, और आगे चलकर उस संत्रास से त्राण पाने के लिए किसी ने मूकाम्बिका का मन्दिर बनवा दिया। तब से इस देवी के भय के कारण यहाँ किसी को भी लूटना और मारना बन्द हो गया। सब कुछ यहाँ का बदल गया, पर नाम कोल्लूर ही बना रहा। कल्पना मात्र हो सकती है मेरी यह, पर मुझे ऐसा ही अनुभव हुआ, ऐसा ही संगत प्रतीत हुआ।

मेरा ध्यान अब पुनः मूकाम्बिका की ओर गया। साथ के साथ यह भी ध्यान आया कि भगवती दुर्गा के सब चौंसठ नाम-रूप हैं—दुर्गा माँ के चौंसठ अवतार ! इन सबकी मुझे कोई कल्पना नहीं है, चौंसठ के चौंसठ नाम भी स्मरण नहीं हैं। सच तो, माँ दुर्गा के विषय में मैंने पढ़ा-सुना ही बहुत कम था। मेरी विचारधारा इसलिए आगे नहीं बढ़ी।

तभी बराबर के बिस्तर पर सोये साथवालों ने अपने साथवालों को पुकारकर जगाया। मेरी भी उसमें आँख खुल गयी। मैं उठ गया। और सब लोग भी एक-एक करके उठ गये और थोड़ी ही देर में तैयार होकर बारात का कारवाँ मूडूरु की ओर वापस चल पड़ा। जो लोग चल नहीं सकते थे उन्हें बैलगाड़ी में बैठा दिया गया। दोपहर से पहले-पहले हम सब अपने मूडूरु पहुँच गये और वहाँ सभी मेहमान हमारे घर ठहरे।

अगले दो दिन सारा घर ब्याह की धूम-धाम और खुशियों से गुंजायमान रहा। समधीजी भी हमारे साथ ही आये थे। उनके ठहरने का और भोजन आदि

का उपयुक्त प्रवन्ध किया गया। आने के दिन ही बहू के गृह-प्रवेश का उत्सव मनाया गया। सब काम ठीक-ठीक हो गये, सब कोई प्रसन्न भी रहे। केवल एक शिकायत सीता को जरूर रही। उसने नयी बहू को कहा था कि यहाँ सबके सामने अपने पति से बात न करे, लोग 'निर्लज्ज' कहेंगे। उसने इस सहज परामर्श को, 'ये सब तो आपके जमाने की बातें हैं' कहकर अनसुना कर दिया।

सीता कुछ बोली नहीं, पर एक ठेस-सी इन शब्दों की उसके मन को जरूर लगी। चुपचुप शायद उसने सोचा भी कि इतनी पढ़ी-लिखी और तीखे मुँह की लड़की के साथ ब्याह करके नारायण ने गलती की। उसके इस प्रकार सोचने का कारण भी था। वह स्वयं जब ब्याह कर मेरे साथ यहाँ आयी तो एक बरस तक किसी के सामने उसने होठ तक नहीं हिलाया था। स्वाभाविक था कि नयी बहू ने घर में पाँव रखते ही घर की मालिकिन की बात को अनसुना किया तो मालिकिन को बुरा लगे।

बहू से तो उसने कुछ नहीं कहा पर नारायण को बुलाकर समझाया, "देखो, घर में मेहमान हैं, बहू की जबान पर दो-एक दिन के लिए लगाम रखो! जब शिवमोग्गा चले जाओगे तो वहाँ जैसे चाहो करना। जी भर कर बातें कर सकोगे। पर यहाँ बड़ों का थोड़ा तो ध्यान रखना चाहिए।"

पता नहीं नारायण ने इसका क्या अर्थ लगाया और जाकर क्या बहू से कहा। हम सबके देखने में यही आया कि बहू बराबर ही बोलती रहती थी, भले ही नारायण स्वयं उसकी बातों का उत्तर हाथ के इशारों से दिया करता था।

छुट्टियाँ समाप्त होने को थी ही। वे दोनों शिवमोग्गा चले गये। बाद को एक दिन सीता ने अपने मन की व्याकुलता प्रकट की। धीरे से उसने कहा, "मुझे तो लगता है ये दोनों पहले से ही एक-दूसरे से परिचित हैं। अनन्तराव ने यहाँ आकर ब्याह की जो कुछ भी बात की वह सब नाटक था। हम यदि ना भी करते तो भी ब्याह नारायण इसी लड़की के साथ करता। जो हो, मुझे यह सब अच्छा नहीं लगा।"

मैं कुछ सोच में तो पड़ा, पर कर क्या सकता था। सीता से बोला, "बात सचमुच अच्छी नहीं है, पर अब तो जो होना था हो चुका। उन दोनों ने एक-दूसरे को पसन्द किया और बाद को दोनों ब्याह-सूत्र में भी बँध गये।"

पत्नी एकदम से चौंकी, "क्या? आप क्या समझते हैं हमारा-उनका नाता समाप्त हो गया? न सही जब-तब, पर क्या छुट्टियों में भी दोनों यहाँ नहीं आयेंगे?"

"देखो, दोनों का नया-नया ब्याह हुआ है। दोनों बराबर के पढ़े-लिखे हैं। दोनों को बातें करने का चाव होना स्वाभाविक है। थोड़ा समय बीतने दो, सब सामान्य हो जायेगा। एक कहावत है न वह! 'नयी बुहारी छमछम नाचे।' तुम तो

सब स्वयं समझती हो।"

अब इस विषय को मैं यहीं छोड़ दूँ तो मैं समझता हूँ कथानक को कोई बड़ी क्षति नहीं पहुँचेगी। क्योंकि एक और बात है जो भीतर-भीतर खटक रही है और जिसे यहाँ जल्दी से जल्दी ले आना जरूरी है। आपने उसका अनुमान भी शायद कर लिया हो। आप सोच रहे होंगे कि मैं अपने छोटे भाई का ब्याह कर लाया मगर इस समूचे आयोजन में मेरे घनिष्ठ मित्र जनार्दन का कहीं नाम तक नहीं आया। उसे जैसे ब्याह का न्योता तक न दिया गया हो!

बात सच में ऐसी थी नहीं। वह मेरा घनिष्ठ मित्र है। मेरा दाहिना हाथ जैसा है। साथ ही गाँव का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति भी है। मैं स्वयं न्योता देने उसके घर गया था और आग्रह करके कह आया था कि अधिक सम्भव न हो तो थोड़ी ही देर के लिए आकर उत्सव की शोभा अवश्य बढ़ाये। उसने जब उत्तर में 'आने की कोशिश जरूर करूँगा' कहा तब अपनी ओर से पूरा जोर लगाकर मैंने उससे वादा करा लिया था कि मुहूर्त के समय वहाँ अवश्य रहेगा। परन्तु आया वह उस समय भी नहीं।

सचमुच तो उसमें आने का साहस ही नहीं था। अनन्तराव और उसके पिता वहाँ होते। उन्हें कैसे अपना मुंह दिखाता! इनके अतिरिक्त दुलहन की बड़ी बहन भी वहाँ होती। किस मुँह से सामने पड़ता उसके! कई बार शिवमोग्गा में उनके यहाँ गया-आया था, देर-देर तक बातचीत की थी, उस लड़की के हाथ से इमरती भी खा आया था। वह बेचारी तो बिलकुल समझ बैठी थी कि यह उसके ही साथ विवाह करेगा। जनार्दन वास्तव में इन सबके रहते कैसे आता!

फिर भी, ब्याह के बाद कोल्लूर से बारात के लौट आने पर जब हमारे यहाँ आरती-समारम्भ और द्वारचार आदि हुआ तथा ज्योनार का समायोजन चला, तब भी मैं उसके घर गया और निहोर-निहोरकर न्योत आया था। गाँव में सबके यहाँ मेरा स्वयं जा पाना सम्भव नहीं था। इसलिए अनेक सम्बन्धी-बन्धुओं को न्योता देने के लिए मैंने मंजुनाथ को भेजा था। मगर तमाम व्यस्तताओं के रहते भी जनार्दन के यहाँ मैं स्वयं कहने गया। न जाता तो मेरी ग़लती गिनी जा सकती थी, जाने में मेरी प्रतिष्ठा की बात भी आड़े आ सकती थी। मगर यह कुछ भी बिना देखे-सोचे मैं उनके यहाँ गया था।

जनार्दन अपने यहाँ नहीं दिखा तो मैंने उसके पिता से कहा, "नारायण के विवाह में आप कोई तो आ ही सकते थे। पर न आप आये न जनार्दन!" उनका संक्षिप्त उत्तर था, "हाँ भइया, जनार्दन ने जिनकी लड़की को ठुकराया उनकी ही दूसरी लड़की के ब्याह में आते भी तो कैसे!"

आगे वह कुछ न कह सके, चुप हो गये। भीतर-भीतर वे प्रत्यक्ष ही खिन्न थे। मैंने उसके बाद प्रसंग बदलते हुए कहा, "जनार्दन नहीं दिखाई दे रहा, कहीं गया

है क्या ?"

उन्होंने बताया, "सवेरे उठते ही बंडसे चला गया है। वहाँ से किस्ती से कुन्दापुर जायेगा, कुन्दापुर से कहीं और।" और वे भरमुंह बेटे को बुरा-भला कहने लगे।

जो भी कारण रहा हो, पर जनार्दन मेरे भाई के विवाह में सम्मिलित नहीं हुआ। न ही कोल्लूर जाते बारात के समय, न वहाँ से लौटने पर हमारे यहाँ ज्योनार और आरती-समारम्भ आदि में। मुझे मन ही मन इसकी बहुत पीड़ा रही।

इस प्रकार, जहाँ सबके रहते बहू के नारायण से बोलने-चालने की बात को लेकर मेरी पत्नी को क्लेश हुआ, मुझे कारज में जनार्दन के सम्मिलित न होने का दुख रहा। इन दो बातों को छोड़ ब्याह से सम्बन्धित और तो सभी कुछ आनन्द के साथ सम्पन्न हुआ। सारे कार्य समाप्त हो जाने के बाद समधी साहब अपने पूर्वजों का गाँव देखने हुगलूर भी गये। नारायण उनके साथ गया। तभी अचानक मैंने बहू को पीपल के नीचे अपने नित्य के स्थान पर बैठी आजीमाँ के साथ बातें करते देखा। मुझे आश्चर्य तो हुआ ही, सन्तोष भी हुआ। पता नहीं सीता को यह कैसा लगा।

आजीमाँ और बहू को उस तरह बातें करते देख मेरे मन में मत्सर का भाव आया, यह मैं मानता हूँ। पर वास्तव में कारण कुछ और था। मैं भीतर-भीतर व्याकुल जैसा था कि कब ये अतिथि लोग शिवमोग्गा जायें और कब मैं गुफा से लायी हुई चीजों में जो एक हड्डी का टुकड़ा आजीमाँ को बिना दिखाया रह गया था उसे भी उन्हें दिखाऊँ और उसके बारे में जो कुछ उनसे जान सकूँ जानूँ। हड्डी का टुकड़ा था वह, इसलिए आजीमाँ के हाथ में देते हुए मुझे भीतर-भीतर एक संकोच भी था।

तभी सहसा मुझे ध्यान आया कि यह अनन्तराव ब्याह में पहले तो आजीमाँ का गुणगान करते नहीं थका, उन्हें कोल्लूर ले जाने तक का इसने आग्रह बाँधा, मगर न तो वहाँ इसे आजीमाँ की कभी आवभगत करते या सामान्य रूप से ही बात पूछते देखा मैंने, न ही बारात के यहाँ लौट आने पर किसी समय उनके पास जाते-आते देखा। आखिर ऐसा क्यों? वे लोग जब शिवमोग्गा को लौटने लगे तब जरूर उसे इतना कहते सुना था कि "आजीमाँ, हम लोग जा रहे हैं, आशीर्वाद दें।" आजीमाँ सुनकर बोलीं कुछ नहीं, केवल मुसकरा दी थीं। क्या कारण अनन्तराव के ऐसे व्यवहार का? क्यों विवाह से पूर्व अनन्तराव ने आजीमाँ के प्रति इतना आदर-भाव दिखाया? क्या इसलिए कि मैं आजीमाँ का अत्यधिक आदर-सम्मान करता था और उसने सोचा कि आजीमाँ के प्रति आदर-भाव प्रकट करेगा तो मुझे वह अच्छा लगेगा और मैं विवाह के लिए सहमत हो जाऊँगा? हो सकता है यही बात हो। फिर भी न मैं ठीक-ठीक समझ पाया न ठीक-ठीक कह ही सकता हूँ।

इस उलझन से छुटकारा कई दिन बाद मिला, जब नारायण और उसकी पत्नी भी शिवमोग्गा चले गये। उनके चले जाने के बाद ही सीता को चैन की साँस मिली। तब वह भीतर-भीतर बेहद परेशान रही। यहाँ तक उसके मुँह से एक बार निकला कि इन दोनों के रहते तो बस यही लगता रहा कि यह घर नारायण और उसकी पत्नी का ही है। मैंने उसे समझाया कि तुम बड़ी हो, ये आजकल के पढ़े-लिखे बच्चे हैं, ये तो ऐसे ही होते हैं। यों भी ये लोग शहर में पले हैं, शहरों की लड़कियाँ तो जरा मुखरा रहती ही हैं। उन्हें न उठने-बैठने में संकोच होता है न हँसने और बोलने में ही।

पत्नी के कन्धे पर हाथ रखते हुए मैंने आगे कहा, "वह तेरी तरह न गाँव में पली है न मुँह में ज़बान बन्द किये बैठनेवाली है। तू क्यों व्यर्थ अपने को परेशान करती है?"

इसके दूसरे ही दिन किसी प्रसंग में आजीमाँ की चर्चा आयी। उस समय वहाँ हम ही दोनों थे। बच्चे दूसरे कमरे में सोये हुए थे। सीता के मुँह से निकला, "आजीमाँ को सचमुच किसी की परवाह नहीं। उनकी हिम्मत को तो बस मान लेना चाहिए!"

"क्यों-क्यों, क्या हुआ?" मैंने कुतूहल से पूछा।

"समधी साहब के बेटे के साथ वे जिस तरह बात कर रही थीं उससे मैं तो घबड़ा ही गयी थी।"

"किसके साथ बात कर रही थीं?"

"अनन्तराव के साथ।"

"आश्चर्य! मैंने तो अनन्तराव को आजीमाँ की तरफ़ जाते तक नहीं देखा और तुम कहती हो वे उससे बातें कर रहीं थीं।"

"हाँ-हाँ, मैं तब इसी कमरे में बैठी थी। आजीमाँ जरा ऊँचे स्वर में बोल रही थीं। इसलिए मैं सारी बात सुन भी सकी।"

"अच्छा? क्या कह रही थीं?"

"अनन्तराव ने आजीमाँ के पास पहुँचकर कहा, 'आपने ब्याह में सम्मिलित होकर हम सबकी शोभा भी बढ़ायी और कारज को भी सम्पन्न कराया।' आजीमाँ ने तत्काल जैसे तड़ककर उत्तर दिया, "मैं ब्याह में अपने पोते का मन देखकर सम्मिलित हुई थी। रही कारज की बात सो उससे मुझे क्या? बूढ़ी हुई अब।' इस पर अनन्तराव कुछ इधर-उधर की कहने लगे। आजीमाँ ने तब कहा, 'तुम्हारा नाम अनन्तराव है न? कितने भाई-बहिन हो तुम?' अनन्तराव ने बताया, 'मैं घर का बड़ा बेटा हूँ। मेरे बाद एक भाई है और उससे छोटी दो बहिनें। बहिनों के बाद दो भाई और हैं।'

"आजीमाँ बोलीं 'तो घर के सबसे बड़े बेटे होकर भी तुमने अपना ब्याह

अभी तक क्यों नहीं किया ? पहले बहिनों का हो, ऐसा सोचना ठीक है। मगर तुम्हारा ब्याह होना भी जरूरी है।' अनन्तराव ने पूछा 'ऐसा क्यों समझती हैं आप ?' तो उन्होंने कहा, 'सुनो, अपने ब्याह को पीछे के लिए टालकर गलत रास्ते पड जाने की अपेक्षा पहले ही ब्याह कर लेना हितकर होगा!' अनन्तराव ने तब कुछ सोचते हुए-से कहा, 'पता नही क्यों मेरा मन ही राजी नहीं हो रहा।' आजीमाँ ने इस पर छूटते ही कहा, 'तब बहिन के विवाह में ही क्यों पड़े ?' अनन्तराव बोले, 'मैं तो अपने ब्याह के बारे में कह रहा हूँ, बहिन के ब्याह की बात तो बहिन के साथ है। सच तो इन सब लौकिक विषयों में मुझे दिलचस्पी नहीं है, मेरा मन तो परमार्थ की ओर खिंच रहा है।'

"आजीमाँ बड़े गौर से उसकी ओर देखते हुए बोलीं, 'तुम समझते हो ब्याह कर लेने से तुम्हारी परमार्थ भावना में बाधा पड़ती ? किसने कहा है ऐसा ?' अनन्तराव ने उत्तर दिया, 'क्यों, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, सभी तो···' आजीमाँ बीच में ही बोली, 'ये लोग कौन है मैं नहीं जानती, इतना अवश्य जानती हूँ कि कितने ही लोग ब्याह न करने के ढोंग रचते हैं और भीतर-भीतर क्या न क्या करते हैं। परमार्थ की बात अपने में ठीक है, लेकिन वहाँ विवाह के मण्डप में तुम्हारे जो हाव-भाव दिखे उनसे तो तुम औरों से भिन्न नहीं लगे। परमार्थ की कोई बात तुममें हो, ऐसा मुझे तो नही लगा।' अनन्तराव चुप रहा, फिर बोला, 'कुछ भी हो, ब्याह एक बन्धन तो है ही।'

"आजीमाँ बोली, 'तुम कहते हो पुरुष के लिए स्त्री एक बन्धन है। मगर राम-कृष्ण आदि विवाहित नहीं थे ? तुम्हारी इस बन्धन की बात में सार होता तो भगवान् ने इस रूप में सृष्टि की रचना ही न की होती। स्त्री और पुरुष तुम्हारे या मेरे बनाये हुए नही है, ये सब सृष्टि की लीलामात्र है। सृष्टिकर्ता न पागल था न उसने कोई भूल ही की, वह स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की आवश्यकता को समझता था। भगवान् से भी अधिक बुद्धिमान् तो हम हो नही सकते।' अनन्तराव ने इस पर कहा, 'मगर जो ज्ञानी और विद्वान् है वे तो सभी कहते है कि ब्रह्मचर्य और सन्यास जीवन के सबसे श्रेष्ठ रूप हैं।' आजीमाँ ने उत्तर दिया, 'मगर ब्याह न करने से ही कोई ब्रह्मचारी या सन्यासी नहीं बन जाता। इन रूपों का भी ढोंग करने वाले बगुला-भगत हजारों है। तुम्हारी उम्र विवाह योग्य है, तुम विवाह कर लो। ऐसा न हो कि बाद में तुम ब्याह करना चाहो मगर कोई लडकी देनेवाला न मिले। मैं नहीं चाहती कि तुम्हारा भी उस जैसा हाल हो।'

"अनन्तराव गिरे हुए स्वर में बोला, 'नही, मेरा किसी और के जैसा हाल नही होने पायेगा। मैं अपने को पहचानता हूँ और सब समझता भी हूँ।' आजीमाँ ने फिर समझाया, 'देखो, भगवान्, परमार्थ, मोक्ष आदि के विषय में तुम्हारे जो विचार है मैं उन्हें त्याज्य नहीं कहती। मगर बहुत लोग अपनी, अपने मन की,

सीमाओं को नहीं समझ पाते। ऐसे लोग एक दिन मुसीबत में पड़ते हैं। आखिर ऋषिजन भी तो अपना परिवार-संसार लेकर रहते थे। उन्हें मोक्ष नहीं मिला, ऐसा कहीं कहा गया क्या ? भगवान् से प्रीत जताने में संसार के स्वाभाविक बन्धन कभी बाधक नहीं होते। संसार को चलाने, आगे बढ़ाने के लिए ही भगवान् ने स्त्री और पुरुष की रचना की है।' अनन्तराव कहने लगा, 'हजारों लोग नित्य जन्म ले रहे हैं। एक मेरे ब्याह न करने से भगवान् के सृष्टि-क्रम में कोई कमी पड़नेवाली नहीं है।'

"आजीमां बोलीं, 'तुमने यही निश्चय कर रखा है तो ठीक है। मैं उसे तोड़ने के लिए नहीं कहूँगी। पर तुम अभी छोटे हो, इसी से सोचा था कि समझाने से समझ लोगे। मगर दिन-रात तो तुम्हारी चेतना पर स्त्री छायी रहती है, यह बन्द हो जाये तब उस प्रकार का निश्चय तुम्हारा करना कुछ अर्थ रखेगा। उस समय ऐसा निश्चय करने से तुम्हें कोई नहीं रोकेगा। जब तक वैसा नहीं होता तब तक और सब की तरह ही तुम भी हो। केवल पुस्तकें पढ़ने से ब्रह्मचर्य की सिद्धि नहीं हो जायेगी।' अनन्तराव ने तड़ककर कहा, 'आप समझती हैं मैं दिन-रात स्त्रियों की ही चिन्तना में रहता हूँ ?' आजीमां ने धीर भाव से उत्तर दिया, 'मुझे तो ऐसा ही लगता है। तुम अपने हो इसीलिए मैंने कहा भी।'

"अनन्तराव चिढ़ता हुआ बोला, 'मैं अपने को जानता हूँ। आपके कुछ भी कहने की जरूरत नहीं।'

"ठीक है, जैसा चाहो करो, मैं कौन होती हूँ तुम पर नियंत्रण रखनेवाली।' आजीमां ने जवाब दिया।"

सीता ने पति से आगे कहा, "घर आये मेहमान से आजीमां को इस तरह नहीं कहना चाहिए था।"

मैं बोला, "आजीमां बिना कारण हुए कभी कुछ नहीं कहतीं।"

"हां-हां, आपको तो आजीमां का पागलपन कभी सुझाई ही नहीं देता !"

"अरी, मुझे जब अपना ही पागलपन नहीं सूझता तो आजीमां का भला कैसे सूझेगा !"

"कुछ भी हो घर आये सगे-सम्बन्धियों के साथ तो इस प्रकार की बातें और इस तरह नहीं ही करनी थीं।"

"मुझे यह सब पहले मालूम हुआ होता तो मैं इस रिश्ते का प्रस्ताव ही उन तक नहीं ले जाता।"

इतने में आजीमां की उधर से आवाज आयी, "अरे बेटा, मेरे पागलपन को लेकर सीता से मत झगड़ना।"

विवाह या उपनयन संस्कार होता है तो घर जैसे एक हाट-बाज़ार ही बन जाता है। हर समय आने-जानेवालों का ताँता लगा रहता है। यों चार मेहमान घर आयें तो बड़ा अच्छा लगता है लेकिन हमारे इस मुडूरु में एकदम से आठ जन भी घर आ जायें तो उनका आवश्यक अतिथि-सत्कार करना मामूली बात नहीं होती। खाना-पीना आदि सभी कुछ होता है, मगर कहीं भी जरा कुछ चूक हो जाये तो खटके बिना नहीं रहती।

नारायण के विवाह में ही मैं कहीं का न रहता यदि हिण्डुगान के मंजुनाथ का सहारा न मिला होता। और मंजुनाथ ही नहीं, उसकी पत्नी श्रीदेवी ने भी हमारे यहाँ आकर हर काम में हाथ बटाया। सच तो यह कि इन दोनों के कारण ही ब्याह में मेरा और सीता का मान रहा। समधीजी और उनके परिवार को गाड़ी मे बैठाकर वंडसे से जाने और वहाँ से नाव पर सवार कराने तक मुझे तो जैसे एक पल का भी चैन नहीं था। सीता कहती है यह सब मूकाम्बिका की कृपा है। मंजुनाथ से पूछेंगे आप तो वह हिण्डुगान की भगवती का अनुग्रह बतायेगा।

हिण्डुगान और हमारे गाँव के बीच कोई दो मील का फासला है। वहाँ जुगों से मंजुनाथ के पूर्वजों की इष्ट देवी माँ का एक मन्दिर है। मैंने कभी ध्यान देकर इस मन्दिर को नहीं देखा। एक-दो बार उधर गया भी तो मन्दिर के बाहर से ही देवी को प्रणाम कर आया था। इसलिए इस मन्दिर के बारे में मुझे कोई विशेष जानकारी नहीं थी। मगर मंजुनाथ की बात बिलकुल और थी। उसका घर मन्दिर के पास ही था। मन्दिर की देवी ही मंजुनाथ के कुल-परिवार की इष्ट देवता थी। उन पर मंजुनाथ को अटल विश्वास था। उसकी मान्यता थी कि कोल्लूर की देवी झूठी है, सच्ची देवी हिण्डुगान की है।

हिण्डुगान की देवी को वह सचमुच जगदम्बा ही मानता है और बड़े आन्तरिक भक्तिभाव के साथ उनकी चर्चा किया करता है। इस देवी की पूजा करने के उद्देश्य से ही वह प्रतिवर्ष गाँव आया करता है। अब की बार आने पर वह मन्दिर की मरम्मत और बाकी सब भी ठीक-ठाक कराने में जुट गया है। विचार उसका यह भी है कि इस बार यहाँ से वापस लौटे तो अपनी देवी का धूमधाम से उत्सव मनाकर लौटे। बड़ा प्रश्न इस बात का था कि हमारे जैसे छोटे-से गाँव में उत्सव और भोज के लिए अपेक्षित सौ ब्राह्मण मिलेंगे कहाँ से? हिण्डुगान में तो सब मिलाकर ब्राह्मणों के चार घर हैं। बस एक घर मंजुनाथ का है और दूसरा उसके एक दायाद का। जो दस-बीस अन्य घर है वहाँ, वे दूसरी-दूसरी जातियों के हैं। यही कारण हुआ कि मंजुनाथ को बैंदूर, वडसे, कोल्लूर और कमलशिला तक जाकर ब्राह्मणों को आमन्त्रित करना पड़ा।

सीमाओं को नहीं समझ पाते। ऐसे लोग एक दिन मुसीबत में पड़ते हैं। आखिर ऋषिजन भी तो अपना परिवार-संसार लेकर रहते थे। उन्हें मोक्ष नहीं मिला, ऐसा कहीं कहा गया क्या ? भगवान् से प्रीत जताने में संसार के स्वाभाविक बन्धन कभी बाधक नहीं होते। संसार को चलाने, आगे बढ़ाने के लिए ही भगवान् ने स्त्री और पुरुष की रचना की है।' अनन्तराव कहने लगा, 'हजारों लोग नित्य जन्म ले रहे हैं। एक मेरे ब्याह न करने से भगवान् के सृष्टि-क्रम में कोई कमी पड़नेवाली नहीं है।'

"आजीमाँ बोलीं, 'तुमने यही निश्चय कर रखा है तो ठीक है। मैं उसे तोड़ने के लिए नहीं कहूँगी। पर तुम अभी छोटे हो, इसी से सोचा था कि समझाने से समझ लोगे। मगर दिन-रात तो तुम्हारी चेतना पर स्त्री छायी रहती है, यह बन्द हो जाये तब उस प्रकार का निश्चय तुम्हारा करना कुछ अर्थ रखेगा। उस समय ऐसा निश्चय करने से तुम्हें कोई नहीं रोकेगा। जब तक वैसा नहीं होता तब तक और सब की तरह ही तुम भी हो। केवल पुस्तकें पढ़ने से ब्रह्मचर्य की सिद्धि नहीं हो जायेगी।' अनन्तराव ने तड़ककर कहा, 'आप समझती हैं मैं दिन-रात स्त्रियों की ही चिन्तना में रहता हूँ ?' आजीमाँ ने धीर भाव से उत्तर दिया, 'मुझे तो ऐसा ही लगता है। तुम अपने हो इसीलिए मैंने कहा भी।'

"अनन्तराव चिढ़ता हुआ बोला, 'मैं अपने को जानता हूँ। आपके कुछ भी कहने की जरूरत नहीं।'

"ठीक है, जैसा चाहो करो, मैं कौन होती हूँ तुम पर नियंत्रण रखनेवाली।' आजीमाँ ने जवाब दिया।"

सीता ने पति से आगे कहा, "घर आये मेहमान से आजीमाँ को इस तरह नहीं कहना चाहिए था।"

मैं बोला, "आजीमाँ बिना कारण हुए कभी कुछ नहीं कहतीं।"

"हाँ-हाँ, आपको तो आजीमाँ का पागलपन कभी सुझाई ही नहीं देता !"

"अरी, मुझे जब अपना ही पागलपन नहीं सूझता तो आजीमाँ का भला कैसे सूझेगा !"

"कुछ भी हो घर आये सगे-सम्बन्धियों के साथ तो इस प्रकार की बातें और इस तरह नहीं ही करनी थीं।"

"मुझे यह सब पहले मालूम हुआ होता तो मैं इस रिश्ते का प्रस्ताव ही उन तक नहीं ले जाता।"

इतने में आजीमाँ की उधर से आवाज आयी, "अरे बेटा, मेरे पागलपन को लेकर सीता से मत झगड़ना।"

विवाह या उपनयन संस्कार होता है तो घर जैसे एक हाट-बाजार ही बन जाता है। हर समय आने-जानेवालों का तांता लगा रहता है। यों चार मेहमान घर आयें तो बड़ा अच्छा लगता है लेकिन हमारे इस मूडूर में एकदम से आठ जन भी घर आ जायें तो उनका आवश्यक अतिथि-सत्कार करना मामूली बात नहीं होती। खाना-पीना आदि सभी कुछ होता है, मगर कहीं भी जरा कुछ चूक हो जाये तो खटके बिना नहीं रहती।

नारायण के विवाह में ही मैं कहीं का न रहता यदि हिण्डुगान के मंजुनाथ का सहारा न मिला होता। और मंजुनाथ ही नहीं, उसकी पत्नी श्रीदेवी ने भी हमारे यहाँ आकर हर काम में हाथ बटाया। सच तो यह कि इन दोनों के कारण ही ब्याह में मेरा और सीता का मान रहा। समधीजी और उनके परिवार को गाड़ी में बैठाकर वंडसे ले जाने और वहाँ से नाव पर सवार कराने तक मुझे तो जैसे एक पल का भी चैन नहीं था। सीता कहती है यह सब मूकाम्बिका की कृपा है। मंजुनाथ से पूछेंगे आप तो वह हिण्डुगान की भगवती का अनुग्रह बतायेगा।

हिण्डुगान और हमारे गाँव के बीच कोई दो मील का फासला है। वहाँ जुगों से मजुनाथ के पूर्वजों की इष्ट देवी माँ का एक मन्दिर है। मैंने कभी ध्यान देकर इस मन्दिर को नहीं देखा। एक-दो बार उधर गया भी तो मन्दिर के बाहर से ही देवी को प्रणाम कर आया था। इसलिए इस मन्दिर के बारे में मुझे कोई विशेष जानकारी नहीं थी। मगर मजुनाथ की बात बिलकुल और थी। उसका घर मन्दिर के पास ही था। मन्दिर की देवी ही मंजुनाथ के कुल-परिवार की इष्ट देवता थी। उन पर मंजुनाथ को अटल विश्वास था। उसकी मान्यता थी कि कोल्लूर की देवी झूठी है, सच्ची देवी हिण्डुगान की है।

हिण्डुगान की देवी को वह सचमुच जगदम्बा ही मानता है और बड़े आन्तरिक भक्तिभाव के साथ उनकी चर्चा किया करता है। इस देवी की पूजा करने के उद्देश्य से ही वह प्रतिवर्ष गाँव आया करता है। अब की बार आने पर वह मन्दिर की मरम्मत और बाकी सब भी ठीक-ठाक कराने में जुट गया है। विचार उसका यह भी है कि इस बार यहाँ से वापस लौटे तो अपनी देवी का धूमधाम से उत्सव मनाकर लौटे। बड़ा प्रश्न इस बात का था कि हमारे जैसे छोटे-से गाँव में उत्सव और भोज के लिए अपेक्षित सौ ब्राह्मण मिलेंगे कहाँ से? हिण्डुगान में तो सब मिलाकर ब्राह्मणों के चार घर हैं। बस एक घर मजुनाथ का है और दूसरा उसके एक दायाद का। जो दस-बीस अन्य घर हैं वहाँ, वे दूसरी-दूसरी जातियों के हैं। यही कारण हुआ कि मंजुनाथ को बैंदूर, वंडसे, कोल्लूर और कमलशिला तक जाकर ब्राह्मणों को आमन्त्रित करना पड़ा।

कराके ऊपर से छवा दिया था। देखकर मेरे मुँह से बरबस निकला, "मंजुनाथ, तुमने तो पूरी व्यवस्था की है! मैं तो नारायण के व्याह के अवसर पर भी यह कुछ नहीं करा सका था।"

मंजुनाथ सुनकर बोला, "आपकी बात और थी, भाई। व्याह-कारज के अवसर पर कुटुम्ब-परिवार के ही लोग आते हैं! फिर आपका परिवार भी छोटा है। आपके यहाँ वह छोटा मण्डप काफ़ी पड़ गया।"

मैंने जल्दी से कहा, "नहीं-नहीं, मेरा मतलब यह नहीं था। मैंने तो यह कहा कि आपने वहाँ मन्दिर के सामने भी उतने बड़े मैदान पर छाजन डलवाया है और यह यहाँ भी—"

"हाँ," मंजुनाथ ने बात को पूरी तरह समझते हुए कहा, "देखो सुब्बाराव, यह देवता का कारज है। चण्डिका-होम, सहस्रनाम पाठ और यज्ञ आदि सब मन्दिर वाले मैदान में होगा। ब्राह्मण-भोज और आगत अतिथियों का भोजन वहाँ नहीं हो सकता। इसलिए भोज की व्यवस्था यहाँ रखी है।"

"आखिर फिरभी कितने अतिथि आ जायेंगे? तुम्हारे इस मैदान में चार-पांच सौ जन आसानी से बैठ सकेंगे जबकि अपने गाँव और आसपास के तमाम ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक को मिलाकर इतनी तो कुल आबादी भी नहीं है!"

मंजुनाथ मुसकराया, "भाई, आपको अनुभव नहीं है। कल आप स्वयं देख लेना कि कहाँ-कहाँ से कितने-कितने कौन लोग आते हैं, फिर कहना! मेरा लड़का तो बंडसे, बैंदूर, उप्पुंद और हेरंजालु तक जाकर दस गाँवों के ब्राह्मणों को न्योत आया है। दादाजी के समय में तो, सुना है, यहाँ हज़ारों लोगों का अतिथि-सत्कार किया जाता था। बाद में जब पिताजी एक बार मालगुज़ारी नहीं जमा करा सके तब हमारी बहुत कुछ ज़मीन-जायदाद निकल गयी। मेरा बचपन तो भूख और लाचारियों में बीता है। यह सब इन भगवती की कृपा है कि हाथ में अब दो पैसे दिखाई देते हैं। कैसे भूल जाऊँ मैं इन माँ भगवती को? उनकी कृपा हो तो मैं तो यहाँ हर वर्ष उत्सव मनाऊँ।"

"हर वर्ष?" मैंने अचकचाते हुए पूछा, "हर वर्ष लोग जुड़ सकेंगे यहाँ?"

"क्यों नहीं? इस वर्ष, मान लो बहुत नहीं भी आये तो अगले वर्ष उत्सव होने पर ज़रूर आयेंगे। उत्सव तो माँ भगवती का है। वही तो अपना उत्सव चलानेवाली भी हैं। मेरी तो बड़ी साध इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने की है। गर्भगृह से लेकर ऊपर तक सब नया बनवा देना चाहता हूँ। ऊपर कलश भी ताँबे का रखना सोचता हूँ। माँ का आशीर्वाद रहा तो यह सब हो जायेगा एक दिन!"

मंजुनाथ की बात सुनकर मैं सोच में पड़ा। जितना सब कराने की इसके मन

में है वह मामूली बात नहीं। आसानी से बीसेक हजार लग जायेगा। फिर भी यह व्यक्ति इतने सहज भाव से कह रहा है तो अवश्य इतनी आय भी इसकी होगी! और केवल आय ही क्यों, उसी तरह खुला मन और खुला हाथ भी होना चाहिए!

मंजुनाथ का घर छोटा-सा तो था, पर फर्श, बरामदा आदि सब ठीक-ठाक थे। मुझसे वह उम्र में छह-सात वर्ष बड़ा है। लेकिन आत्मीयता के आधार पर मैं उसे 'तुम' और कभी-कभी तो 'तू' तक कहा करता हूँ। अवश्य उसकी आर्थिक स्थिति मुझसे बहुत अच्छी है। मेरी पत्नी सीता की माँ और उसकी पत्नी श्रीदेवी की माँ आपस में बहनें थीं। सगी बहनें थी या कोई निकट का सम्बन्ध था, इसका मुझे पता नहीं। मंजुनाथ के चार लड़के है, एक लड़की। लड़की उसकी सबसे छोटी सन्तान है। नाम रखा गया है 'अम्बा'। बड़े दोनों लड़के अधिक पढ़े-लिखे नहीं हैं और घर रहकर यहाँ का काम देखते हैं। उत्सव के काम में भी वे ही दिन-रात जुटे हुए थे। छोटे दोनों लड़के स्कूल जाते हैं।

मंजुनाथ की माँ साठ के आस-पास होगी। वे और मंजुनाथ की पत्नी श्रीदेवी बारी-बारी बरस में छह महीने मंजुनाथ के पास मैसूर रहती हैं, और बचे हुए छह महीने यहाँ गाँव में। मैसूर में मंजुनाथ का धन्धा खूब चल निकलने पर भी इन्होंने गाँव से अपना नाता ज्यों का त्यों बनाये रखा है। इन दिनों क्योंकि मंजुनाथ यहाँ उत्सव के काम में फँसा हुआ है, इसलिए होटल के काम की देखरेख के लिए निकट के ही एक रिश्तेदार को वहाँ बैठा आया है।

हिण्डुगान में, जहाँ तक मुझे पता है, ब्राह्मणों के कुल तीन या चार घर हैं। यों हिण्डुगान हमारे गाँव से बिलकुल लगा हुआ है, मगर मेरा वहाँ जाना-आना बहुत कम है। वहाँ के लोगों से जान-पहचान भी बहुत कम है। बरसों पहले आजीमाँ वहाँ गयी थी, मगर उस समय की मुझे कोई याद नहीं है। सच तो हमारा गाँव ही जब चारों तरफ जंगलों से घिरा हुआ एक किला जैसा हो तो हिण्डुगान जाना-आना हो भी तो कैसे, क्योंकर!

उस दिन भोजन के बाद थोड़ा आराम करके इच्छा हुई कि मंजुनाथ के घर के आस-पास टहल आऊँ और उसके पड़ोसियों से भी मिल लूँ। भोजन सचमुच भारी हो गया था। मुझे तो आग्रह कर-करके खूब खिलाया गया। श्रीदेवी तो हर बार आदरपूर्वक कहती कि "कब-कब तो आप यहाँ आते है!" और मेरे मना करते-करते भी कटहल की खीर और परोस जाती। कई बार तो मंजुनाथ ने भी समझाने की चेष्टा की, मगर न श्रीदेवी सुनती न बच्चे मानते।

भोजन करने के बाद उठकर बाहर आया तो देखा बरामदे में मेरे आराम करने की पूरी व्यवस्था कर दी गयी है। मंजुनाथ मुसकराता हुआ बोला, "लो भाई, अब आराम से एक लम्बी नींद ले लो!"

और सचमुच मैं भी पान खाकर जो सोया तो कटहल की खीर के प्रभाव में खूब ही गहरी नींद आयी। हाँ, नींद में भगवती हिण्डुगानम्मा का उत्सव होने से पहले ही उसकी शोभा और वैभव-छटा अवश्य देखता रहा।

नींद खुली तो खूब गाढ़े दूध की कॉफ़ी लाकर सामने रखी गयी। एक बार को तो मैं देखता रह गया। पीते-पीते सोचने लगा—हमारे यहाँ तो दूध की बड़ी समस्या है, मंजुनाथ ने क्या प्रबन्ध किया होगा? उत्सव के अवसर पर तो ढेर सारा दूध चाहेगा! पूछने पर पता चला कि मंजुनाथ ने दो भैंसें पाल रखी हैं और उत्सव की आवश्यकता को पूरा करने के लिए काफ़ी मात्रा में दूध का पाउडर मँगा लिया है। मंजुनाथ की यह दूरदृष्टि देखकर मैं तो सचमुच दंग रह गया।

थोड़ी देर बाद मंजुनाथ बोला, "सुनो, तुम्हें तो कोई जल्दी है नहीं। मन्दिर की तरफ़ अभी बहुत काम बाक़ी है। मैं उधर चलता हूँ, तुम बाद में शंकरनारायण के साथ आ जाना।" मंजुनाथ यह कहकर चला गया।

उसका बड़ा लड़का लक्ष्मीनारायण बँदूर गया हुआ था। दूसरा लड़का शंकरनारायण वहीं था। मैं उससे पूछने लगा, "कहो बेटे, तुम्हारे गाँव के आस-पास देखने लायक क्या-क्या है? मैं बहुत पहले यहाँ आया तो था, मगर तब ठहरने का और कुछ भी देख-भाल पाने का अवसर नहीं मिला।"

शंकरनारायण बताने को हुआ तभी एकाएक ध्यान आया मुझे कि आजीमाँ ने मेरे चलते समय कहा था, "बेटा, तुम वहाँ जा रहे हो, वहीं पास में मेरी एक सम्बन्धिनी रहती है, मेरी वह सहेली भी है, उससे ज़रूर मिलते आना। उस बेचारी को अब आँखों से भी सुझाई नहीं पड़ता। ज़रूर हो आना वहाँ।" और मैंने शंकरनारायण से पूछा, "तुम जानते हो वह कहाँ रहती है? मुझे ले चलोगे वहाँ?"

शंकरनारायण घर में जाकर अपनी माँ से उस बूढ़ी का घर आदि पूछ आया। आकर बोला, "जी हाँ, उनका घर तो पास ही है। उधर हिण्डुगान के उस तरफ़ के अंचल में है। आप शायद तिप्पज्जी के यहाँ की बात कर रहे हैं। चलिये, मैं आपको ले चलता हूँ उनके यहाँ।"

जान पड़ता है उस सारे इलाक़े को भी कभी हिण्डुगान ही कहा जाता होगा। हिण्डुगान अर्थात् प्राणी को निचोड़ डालनेवाला। आज भी यहाँ से वहाँ तक का समूचा भाग ऊँची-ऊँची घास और बाँस के जंगल से भरा हुआ है। हम दोनों के उधर से निकलते समय बार-बार कभी कपड़ा बाँस की संटियों में अटकता कभी लम्बी-लम्बी घास की धारदार सांखों से हाथ और मुँह तक छिल रहता। इतना ही नहीं, एक भारी मुसीबत खड़ी कर दी वहाँ सारे में भरी जोंकों ने। पगडण्डी भी वहाँ इतनी संकीर्ण थी कि उनसे बचने के लिए भागना भी सम्भव नहीं हो पाता।

शंकरनारायण ने मेरी परेशानी को देखते हुए कहा, "यह नजदीक का रास्ता है, इसी से इधर से लाया। नहीं तो उधर पहाड़ी के ऊपर से होकर उस मैदान से जाना होता। मगर यह मुसीबत उस तरफ बिलकुल न होती। आपको बहुत तक-लीफ हुई !"

"नहीं, कोई बात नहीं," मैंने कहा, "अब आ गये हैं तो हार मानकर पीछे को लौटना ठीक नहीं। इधर से ही चलेंगे, भले ही लौट उधर से आयेंगे।"

किसी तरह उस जंगल के पार निकलकर एक झरने के पास पहुँचे। वहीं एक ओर घास-फूस का बना हुआ एक छोटा-सा घर था। आजीमाँ की सहेली इसी में रहती थी। आँगन में पतले-दुबले-से दो बच्चे खेल रहे थे। शंकरनारायण को देखते ही दोनों उछलते हुए आये और उसका हाथ पकड़कर खींचने लगे। उसने बच्चों से पूछा, "तिप्पज्जी क्या कर रही है ?"

उतने में भीतर से आवाज़ आयी, "अरे कौन आया ? शंकर आया है क्या ? साथ में और भी कोई है क्या ?"

"हाँ अज्जी, "शंकरनारायण ने उत्तर दिया, "आपके यहाँ अतिथि आये है।"

"अरे बेटा, हमारे यहाँ तो भूत भी नहीं आता", तिप्पज्जी ने भीतर से ही कहा, "मुझ अन्धी बुढ़िया को देखने आये भी कौन ?"

तब तक हम दोनों ही उस जर्जरकाय वृद्धा के आगे जा खड़े हुए। वह हाथ में जपमाला लिये बैठी थी। शंकरनारायण ने मेरा परिचय देते हुए कहा, "अज्जी, मूडूरु वाले सुब्बाराव आये है।"

"कौन सुब्बाराव ?" पूछते हुए उन्होंने आँखों के ऊपर हाथ की छाया-सी करते हुए हम दोनों की ओर देखा।

वे ठीक-से समझ सकें इस तरह मैंने बताया, "अज्जी, मैं हूँ सुब्बण्णा, मूकज्जी का पोता।"

"अरे सुब्बण्णा ! मेरी मूकज्जी का पोता ! ऐसा कहो। यह राव-मात्र मैं क्या समझूँ !"

शंकरनारायण ने अपने को स्पष्ट किया, "अज्जी, मुझसे ये बड़े है न, मैं इन्हें सुब्बण्णा कैसे कहता ?"

वृद्धा ने फिर मुझसे कहा, "तुम जब छोटे थे तब तुम्हें देखा था। जब तक आँखों से दिखा, तुम्हारे यहाँ रही। अब तो आँखें भी चली गयी और चला-फिरा भी नहीं जाता। बीस-पचीस बरस से ऐसे ही पड़ी हूँ। तुम्हारी आजीमाँ भी ऐसी ही हो गयी होगी ?"

"वे तो चलती-फिरती है, अज्जी ! नज़र भी उनकी ठीक है।"

"अच्छा-अच्छा ! भला मुझे कौन बताता यह सब ? हमारा घर तो बिना मरद का घर रह गया है। बस बहू है, दो बच्चे है और मैं हूँ। बेटा तो बरस-भर

से चार दिन के लिए आता है। हमारे लिए तो घर जैसे वनवास हो गया है। पर छोड़ो मेरी बात, मूकी तो ठीक है न ?"

"जी हाँ, ठीक है।"

"बेटा 'ठीक है' पूछने से मेरा मतलब उसके हाथ-पाँव या आँखों से नहीं है। मैंने सुना है कभी-कभी उसे कुछ हो जाता है। इसीलिए पूछ रही थी।"

"नहीं अज्जी, मुझे तो देखते तीस साल से ऊपर हुए। कभी तो ऐसा कुछ लगा नहीं। यों गाँववाले 'मूकज्जी पागल है' कहा करते हैं। पर कहनेवालों का मुँह तो बन्द नहीं किया जा सकता। हाँ, यह बात जरूर है कि आजीमाँ और सबों की तरह नहीं हैं। इसी से शायद उन्हें पागल कहा जाता है। कहें कहनेवाले, हमारा उनसे क्या घटता है ?"

तिप्पज्जी ने तब अपनी बहू को पुकारा। आ गयी वह तो उससे कहा, "बेटी, घर आये अतिथि को कुछ पीने के लिए दो न !"

मैंने बहुत मना किया। पर तिप्पज्जी नहीं मानीं सो नहीं ही मानीं। मेरे मन में तो देखकर ही उनके प्रति एक सहज आदर जाग उठा था। उनकी देह पोर-पोर पर से सिकुड़-सिमटकर जैसे आधी रह गयी थी। सारी देह झुर्रियों से भर गयी थी। जैसे किसी बहुत पुराने पेड़ की छाल हो। उनकी आवाज भी बहुत धीमी हो गयी थी। कहीं दूर से आती हुई, थकी-थकी-सी, कभी-कभी तो टूटती हुई जैसी भी। कई बार तो उनके मुँह से निकलता एक-एक शब्द जैसे लगता मानो किसी फव्वारे से बूँद-बूँद पानी आ रहा हो।

अपने और अपने घर-परिवार के विषय में जितना कुछ कह चुकी थीं उससे अधिक और कुछ न बोलीं वे। फिर कहने लगीं, "मंजुनाथ ने तो इस गाँव में जन्म लेकर अपने जन्म को ही सार्थक कर लिया। माँ भगवती के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने में तन-मन से जुटा है। उसे भीतर से लगन लगी है। पूजा-पाठ और अन्न-भोज, सुना है, सभी कुछ करा रहा है। मंजुनाथ न होता तो इस कोट-लम्मा को कौन पूछता, बेटा !"

"अज्जी," मैं एकदम से बोला, "हमारी आजीमाँ ने भी इस देवी को कोट-लम्मा कहा, आप भी कोटलम्मा ही कह रही हैं; मगर मंजुनाथ इसे अम्बे-जगदम्बे कहता है। क्या है सही नाम इस हिण्डुगालम्मा का ?"

"सभी तो एक ही माँ के नाम हैं : जगदम्बे, दुर्गा, काली। हम सबकी भी तो वही एक माँ है न ?"

"यह तो समझता हूँ अज्जी, लेकिन यह 'कोटले' नाम कैसे और कहाँ से आया ? मेरी समझ में यह नहीं आ रहा है। ऐसा नाम भी होता है क्या ? यह प्रश्न इसलिए और उठा कि आजीमाँ ने भी यही नाम बताया था।"

तिप्पज्जी ने समझाया, "बेटा, भगवती के कई नाम हैं। उनकी कितनी ही

कथाएँ हैं। पर है वह एक ही। खैर, छोडो इस बात को। तुमने कहा कि तुम्हारी आजीमाँ स्वस्थ है, चल-फिर लेती हैं। उसे न देखे बरसों हो गये हैं।"

"अज्जी, आपसे उनका काफी परिचय है न?" मैंने पूछा।

तिप्पज्जी कहने लगीं, "बेटा, मुझसे वह तीन-चार बरस छोटी है। लेकिन बेचारी का बचपन में ही सिन्दूर पुंछ गया। तब से ही उसका स्वभाव और तरह का हो गया। घरवालों को छोड़ किसी से बोलती-चालती तक नहीं थी। कभी अगर मैं गयी तुम्हारे घर तो वह कहती,'आ गयी बहिन, तुम तो दो बात हो गयी। आत्मीयता तुम्हें ले आती है। नहीं तो यहाँ कौन आता है!"

"अच्छा! लेकिन सबने उन्हें अलग जैसा क्यों कर रखा था?"

"कोई कलह-भेद की बात तो थी नहीं बेटा, बस उस पर जो एक भूत सवार रहता था वही शायद कारण था।"

"भूत! कैसा भूत अज्जी? मैंने तो कभी किसी तरह के भूत को उन पर सवार हुए नहीं देखा।"

"पता नहीं, अब कैसा-क्या है। पहले तो उस पर एक आवेश-सा चढ़ा करता था। उस समय उसके मुंह में जो आता वही बड़बड़ाया करती थी। किसी भी अपने-पराये को सामने आया देखती तो बोलने लग जाती, 'तुम तो ऐसे हो, तुमने यह बिगाड़ा है, उसका यह-यह बुरा किया है; आदि-आदि।' सो भी हमेशा नहीं, कभी-कभी ही।"

"कभी हमारी आजीमाँ पागलों जैसी बातें भी करती थी?"

"मैं तो बेटा, उसकी बातों को पागलों जैसी नहीं कह सकती। वह जो कहती उसे कोई ध्यान से सुने और फिर उस पर सोचे, तो उसकी एक-एक बात की सचाई को माने बिना न रहे। मगर फिर यह भी है कि कोई वहाँ घर आये और उसे देखते ही यह अगर आप से आप बड़बड़ाने लग जाये कि 'तुम चोर हो, तुमने यह-यह बुरा किया है', तो सुननेवाले को बुरा लगेगा ही।"

"अच्छा अज्जी, यह बताइये कि उन पर कौन-सा देव प्रकट हुआ करता था?"

"अरी! यही तो जान पाने के लिए तुम्हारे अपने दादाजी ने क्या-कुछ नहीं किया। मगर कोई परिणाम नहीं निकला।"

"मेरे पिताजी ने तो ऐसा कभी-कुछ नहीं बताया!"

"तेरे पिताजी क्या बताते बेटा! उन्हें समझ आने से पहले ही तो मूकी ने मुंह से बोल तक निकालना बन्द कर दिया था और उसी घर में रहते हुए भी बिलकुल अलग-थलग रहने लगी थी। बस सारे-सारे दिन अपनी जपमाला लिये घर के एक कोने में बैठी रहती थी। कभी कोई पास जाता तो इसके बेमालूम-से हिलते होंठ और एक-एक करके गिरते हुए माला के दाने देखकर लौट आता। अब

क्या ढंग है उसका, मुझे नहीं पता। उसे एक बार देखने के लिए जी बहुत ललकता है। लेकिन क्या करूँ, अब न आँखों में उजाला रह गया और न पाँवों में दम।" तिप्पज्जी के चेहरे पर उदासी घिर आयी।

मैंने कहा, "आजीमाँ तो खूब चल-फिर लेती हैं। पिछले दिनों मेरे भाई का ब्याह था, उसमें वह कोल्लूर तक हो आयीं। वैसे तो सब बैलगाड़ी में गये थे; मगर गाँव से बड़े रास्ते तक दो कोस तो पैदल ही चलना पड़ता है। आजीमाँ ने यह पूरा टुकड़ा पैदल पार किया!"

"अच्छा!" तिप्पज्जी को विस्मय-सा हुआ।

इतने में शंकरनारायण बोला, "आप अज्जी से बात कीजिए, मैं तब तक जोशी जी की ओर होकर आता हूँ।"

मेरी अनुमति पाकर वह चला गया।

उसके चले जाने के बाद तिप्पज्जी धीरे-से बोलीं, "शंकर चला गया? यह अच्छा ही हुआ!"

मैंने उनकी बात सुनी तो, पर भाव नहीं समझ सका। इसलिए उधर ध्यान न दे मैं अपनी ही कहता गया:

"अज्जी, आप अगर आजीमाँ से मिलने को बहुत उत्सुक हैं तो एक उपाय हो सकता है। मंजुनाथ का आग्रह है कि भगवती के उत्सव पर उन्हें भी यहाँ बुलाया जाये। आजीमाँ टाल रही हैं। पर उनसे बहुत कहा जायेगा तो वे आ सकती हैं। फिर तो मंजुनाथ के यहाँ से उन्हें यहाँ तक लाया ही जा सकता है।"

"नहीं-नहीं सुब्बण्णा", तिप्पज्जी एकदम से घबराती हुई बोलीं, "ऐसा मत करना।"

मैं अचकचाकर रह गया। उनसे बोला, "क्यों अज्जी, इस तरह घबड़ा क्यों गयीं आप? आजीमाँ को तकलीफ़ देना ठीक नहीं या यहाँ उत्सव में ही उनका आना ठीक नहीं!"

"एक ही बात है बेटा! तुम नहीं समझते। तुम जो कह रहे हो कि अब वह स्वस्थ है। पर यदि वह यहाँ आयी, तो कहीं लेने के देने ही न पड़ जायें। उसके ऊपर जो देव प्रकट होने की बात कही जाती है वह सबसे पहले इसी मन्दिर में तो प्रकट हुआ था। मैं स्वयं उस समय वहाँ थी। मुझे तो लगता है यही देवी उन पर प्रकट हुई थीं।"

चकित हो मैंने पूछा, "तो क्या आजीमाँ हिण्डुगान के इस देवी-मन्दिर भी आयी थीं?"

"हाँ," तिप्पज्जी ने बताया, "आयी थी। मंजुनाथ के दादाजी ने उस बार यहाँ महापूजा करायी थी। तुम्हारे घर के सभी लोग उसमें थे। सैकड़ों लोग सम्मिलित हुए थे उस उत्सव में। भगवती की आरती की जाने लगी तो, स्त्रियों

के बीच बैठी तेरी आजीमाँ एकदम से चिल्लाने लगी। बैठे से खड़ी हो गयी और हाथ-पाँव फेंकने लगी। हम सब तो घबड़ा गये। उसके ऊपर देवी प्रकट हुई थीं। देह थर-थर काँप रही थी। फिर भी जैसे स्थिर खड़ी थी। इतना ही नहीं, सबके देखते अपना एक-एक वस्त्र उसने उतारकर फेंक दिया और बिलकुल नग्न हुई खड़ी रही। बाल बिखर कर फैल गये थे। कभी हँसती, कभी चिल्लाती और कभी अजीब तरह से नाचने लगती थी।"

तिप्पज्जी बताती गयी, "उत्सव में आये हुए लोग घबराकर इधर-उधर चले गये। तुम्हारे दादाजी और कुछ अन्य लोगों ने मिलकर किसी तरह मूकी को पकड़ा। फिर उसके सिर पर दो घड़े पानी उँडेला और खींच-खाँचकर उधर की एक झाड़ी की ओट में उसे ले गये। इतना भारी था आवेश उस पर कि जो भी उसके पास जाता उसे वह मारती-नोंचती या दाँत किटकिटाकर काट ही लेती। अन्त में उसी अवस्था में हाथ-पाँव बाँधकर उसे घर ले गये और वहाँ एक कमरे में डाल दिया। तीन दिन तक अपने तन-बदन का उसे होश नहीं था, बेटा।"

तिप्पज्जी की बातों पर मुझे सहज में विश्वास नहीं आया। आजीमाँ उस तरह क्यों करेंगी? देवी उन पर प्रकट भी हुई, तो नग्न होकर वे क्यों नाचेंगी? ऐसा तो कोई देवी करेगी नहीं। मैंने इसलिए तिप्पज्जी से पूछा, "वे जब इस प्रकार कर रही थीं तब किसी ने उनसे इतना भी पूछने की कोशिश नहीं की कि तुम कौन हो, क्या चाहती हो?"

तिप्पज्जी बोली, "तुम्हारे दादाजी शायद पूछ भी लेते। मैं उठकर गयी थी उसे पकड़ने-सँभालने के लिए। मगर वह जब कपड़े फेंककर चिल्लाने लगी तो मैं डर के मारे वहाँ से भाग आयी। उस अवस्था में उससे कौन बात करता, कैसे उससे कुछ कहलवाता—"

"उनके जब हाथ-पैर बाँधकर डाला गया, तब तो—"

"नहीं बेटा, वह तो उस समय भी उसी तरह चिल्ला-पुकार रही थी कि 'अच्छा, तुम लोग मेरा यह रूप नहीं देखना चाहते? क्यों नहीं देखना चाहते? अपनी माँ को भूल गये? तुम लोगों ने माँ को ठुकराया है! समझे?' मगर किसकी समझ में आये यह बात? हिण्डुगानम्मा को मान्यता न दिये होते तो मंजुनाथ के दादाजी वह महापूजा कराते ही क्यों!"

"तो भी अज्जी, उस समय उनके ऊपर किस देवी का प्रभाव था और किस कारण, यह क्या नहीं ही जाना जा सका?"

"ऐसा नहीं बेटा, तुम्हारे दादाजी ने एक दूर के जोशी को बुलवाकर प्रयत्न कराया था। उस समय 'मैं वो भगवती हूँ' इतना ही तुम्हारी आजीमाँ बोली थी। जो भी हो, काफी दिनों तक लगातार मन्त्र-तन्त्र करवाने के बाद जाकर कहीं यह शान्त हुई थी।"

तिप्पज्जी से यह सब सुनते हुए अचानक मुझे ध्यान आया कि केरलवासियों के आराध्य देवताओं में 'भगवती' का नाम भी आता है। स्वभावतः मैं शब्द के अर्थ और भाव पर विचार करने लगा। सम्भव है आजीमाँ ने अपने को उस समय भगवती ही समझ लिया हो और फिर उस आवेश में उन्होंने वैसा व्यवहार किया हो! इस प्रकार तिप्पज्जी की अपनी धारणा ही मुझे ठीक जान पड़ी कि उस मन्दिर की देवी भगवती माँ का ही उन पर प्रभाव था।

वैसे भी तो, मैंने मन ही मन कहा, आजीमाँ के सूक्ष्म मन पर किसी विशेष दृश्य या विषय का प्रभाव-परिणाम हुए बिना नहीं रहता। उतनी देर के लिए वे जैसे अपनी स्वाभाविक अवस्था में ही नहीं रहतीं। और मुझे बरबस लगा कि ऐसे आवेश की अवस्था में वे यदि कुछ भी करने लगती हैं तब तो हिण्डुगान की भगवती के पूजोत्सव में उनका आना सचमुच ही जोखम से खाली न होगा।

इसके बाद तिप्पज्जी के साथ उनके सुख-दुख की और घर-परिवार की बातें थोड़ी देर और करता रहा। बीच-बीच में आजीमाँ के प्रसंग भी उठ आते थे। सचमुच कितने ही प्रसंग तिप्पज्जी से पहली बार सुनने को मिले। मैं तो अपने को जैसे भूला ही रहा। इतने में शंकरनारायण अपना काम करके लौटा और बोला, "बातचीत समाप्त हो आयी हो तो चलें या अभी और बैठेंगे?"

उठते समय मैंने अपनी आजीमाँ से भी वयोवृद्धा तिप्पज्जी के पाँव छूते हुए प्रणाम किया। वे बोलीं, "बेटा, मुझे क्यों प्रणाम करते हो, देवी माँ को करो!"

मैंने कहा, "हाँ अज्जी, वे तो सभी वयोवृद्धाओं में विद्यमान हैं।"

चलने लगा तो उन्होंने कहा, "बेटा, कभी-कभी इस बूढ़ी लाचार के पास भी आकर दो बातें कर जाया करो। तुम आज आये, मुझे कितना-कितना सुख मिला! मेरी मूकी से जाकर कहना मैं उसे पूछ रही थी।"

उनकी बहू शरबत ले आयी थी। पीकर शंकरनारायण के साथ वहाँ से निकला। इस बार जंगल के रास्ते नहीं, मैदान के रास्ते लौटे। इसी से मंजुनाथ के घर पहुँचने काफी समय लगा।

देर हो गयी थी और मैं अब घर लौटने के लिए आतुर था। फिर भी, मेरे बहुत मना करने पर भी, मंजुनाथ मेरे साथ-साथ आया। वहाँ से चलते समय हम दोनों भगवती के मन्दिर भी गये। सहज ही उसने पूछा, "कैसा लगा हमारा यह अम्बावन?"

"अम्बावन? अम्बावन तो चित्रमूल के नीचे है न?" मैंने कोल्लूर के अम्बावन को स्मरण करते हुए कहा।

"यह भी अम्बावन है भाई!"

"हाँ ठीक है, यह हिण्डुगानम्मा का वन है।" मैंने हँसते हुए कहा।

मंजुनाथ मुझे मन्दिर के पास खड़ा छोड़कर पास ही मजदूरों से जाकर कुछ

बतियाने लगा।

ढलते सूरज की धूप मन्दिर के सामने के भाग पर पड़ रही थी। मैंने लक्ष्य किया कि मन्दिर का द्वार पश्चिम की ओर है। मैं उधर पहुँचा। द्वार बन्द था। खोलने के लिए मैंने धीरे से धक्का दिया तो द्वार किवाड़ों की संधि में से खुल गया।

मैंने झाँककर थोड़ा देखा। भीतर दीप जल रहा था। फिर भी अँधेरा-सा था। मैं थोड़ा एक तरफ को सरक गया, जिससे धूप का पूरा उजाला उस संधि से भीतर पहुँच सके। मैं बहुत उत्सुक था कि मन्दिर में प्रतिष्ठित देवता का विग्रह देखूं। मगर धूप के उजाले में दिखा कि यहाँ देवता का कोई विग्रह न था, केवल वह पीठ था जिस पर विग्रह रखा जाता है। ध्यान से देखने पर जान पड़ा कि शिवलिंग को उखाड़ दिया गया है और नीचे का पीठ यों ही छोड़ दिया गया है। पीठ के पीछे तेल से चिकटा एक काले पत्थर का खण्ड रखा था। उसके मुख भाग पर चाँदी की दो आँखें चिपकायी गयी थीं।

कौन-सा है इनमें हिण्डुगानम्मा का विग्रह? पीछे को रखा हुआ पत्थर का खण्ड या यह पीठ? मैं संशय में पड़ा रह गया।

मंजुनाथ के साथ-साथ अपने घर लौटते हुए मैंने उससे जानना चाहा। पृष्ठ भाग में उस विग्रह के रखे होने का कारण उन्हें भी ज्ञात न था। बोले:

"यह तो पहले से ही ऐसा है। हमने कहीं कोई परिवर्तन नहीं किया है। पीछे की ओर जो वह शिलाखण्ड है, जिसे हम विग्रह मानते है, वह भी तो एक शिलाखण्ड मात्र है। ऊपर की ओर को उस पर मुख का चिह्न बना है और आँखें लगायी हुई हैं। देह के अन्य अंगों के लिए यथास्थान रेखाएँ खिंची हुई हैं। उदर भाग थोड़ा उभरा हुआ है, चरणों के स्थान पर रेखाएं गहरी-गहरी बनी हैं। वस्त्र पहनाये हुए नहीं लगते, जैसे नग्न ही हो विग्रह।"

आगे बताया उसने, "अब तो आकार-रेखाएँ तेल की चिकनाई में बहुत कुछ हलकी पड़ गयी हैं। कहीं-कहीं तो बिलकुल ही छिप गयी हैं। पुरानी परम्परा के अनुसार उस शिलाखण्ड के निचले भाग पर हम एक छोटी-सी साड़ी लपेट देते हैं और गले में फूलमाला डाल देते हैं। हाथ बने हुए नहीं हैं इसलिए कंकण आदि कुछ नहीं पहना सकते। पर सचमुच माँ भगवती को हमारे इन अलंकारों की ज़रूरत भी क्या? वे स्वयं ही तो इस समूचे लोक का अलंकार है। उनमें ही सारी सृष्टि हुई है। हम तो अपनी भक्ति के लांछन स्वरूप उन्हें कुंकुम, सिंगार और तेल चढ़ाते हैं।"

"सवेरे मैंने देखा था उस पीठ पर भी फूल चढ़ाये हुए थे!" मैंने बताया।

"हाँ, वहाँ भी फूल चढ़ाये जाते हैं। सच तो वह पीठ उसी पार्श्व के विग्रह का है या किसी और का, यह भी कोई नहीं जानता। उस पीठ में बीचोंबीच एक

छोटा-सा गढ़ा भी है। हो सकता है वहाँ कभी शिवलिंग रहा हो। अब तो कुछ भी नहीं। बस फूल चढ़ाने का रिवाज है सो चढ़ाते आ रहे हैं।"

इतने में घर आ गया। मंजुनाथ भीतर तक आया और सीता को उत्सव में आने की फिर याद दिलाकर लौट गया।

उस रात मैं सोते में भी हिण्डुगानम्मा के ही विषय में सोचता और सपनाता रहा। मेरे अनुमान से वह मन्दिर दो हज़ार बरस पुराना होगा। काफ़ी बस्ती वहाँ रही होगी और आसपास तक के हज़ारों लोग मिलकर उत्सव मनाते होंगे। अपने छुटपन में दो-चार बार मैं भी गया था। पर मुझे याद नहीं आता कि इतनी भीड़ वहाँ कभी रही थी।

वह मन्दिर माँ का था, भगवती का, शक्ति का; इसलिए मूर्ति के आगे भैंसे और बकरे की बलि चढ़ायी जा रही थी। देवी के आगे एक तगड़ा-सा 'पात्री' हाथ में तेज़ धार की तलवार लिये, वाद्यों की ताल पर, उन्मत्त भाव से नाच रहा था। सामने स्त्री-पुरुषों की भीड़ लगी थी। सभी अपने-अपने कष्टों से त्राण की याचना कर रहे थे।

थोड़ी देर बाद देवी के आगे आँगन में लकड़ियों का ढेर सजाकर आग लगा दी गयी। लपटें ठण्डी हो गयीं तो उस ढेर को फैला दिया गया और पुरुष ही नहीं, स्त्री और बच्चे तक उन अंगारों पर से इधर से उधर जाने लगे। मैंने इस तरह आग पर चलनेवालों के बारे में सुना था, देखा कभी नहीं था। आज सोते में ही सही, देखकर मैं आश्चर्य करता रह गया। मुझे लगा, ज़रूर भक्तिभाव के आवेश में आदमी यह सब कर जाता होगा।

इसके बाद आँखों के आगे एक और दृश्य आया। किसी स्त्री ने अपने बच्चे को लाकर मन्दिर के द्वार पर रखा और देवी के आगे हाथ जोड़े हुए बोली, "लो माँ, अपने वचन के अनुसार इसे ले आयी हूँ। ले लो तुम ये प्राण!" और उस नन्हे-से बच्चे की बलि चढ़ा दी गयी।

इस दृश्य के साथ-साथ हिण्डुगानम्मा का वह प्राचीन मन्दिर भी आँखों के सामने से लुप्त हो गया और फिर वहाँ दिखने लगा वही तेल में चिकटा काला शिलाखण्ड। धीरे-धीरे आकार में बढ़ता हुआ वह शिलाखण्ड आकाश तक पहुँच गया, उसके चरण पाताल को पहुँच गये, और कटि भाग वृहदाकार होता गया। फिर एकदम से दसों दिशाएँ अन्धकार में डूब गयीं। मैं भी उसमें डूब गया। मैं या मेरा कुछ भी तो तब नहीं रह गया।

इस अवस्था में ही शायद मैं गहरी नींद में जा रहा। अस्फुट रूप से मन में और कुछ मुँह में यह प्रश्न आया होगा कि सवेरा कब होगा, कब मैं इस दुनिया में आऊँगा? और एकदम से आँखें खुलीं तो देखा नारियल के पेड़ों के पीछे से सूरज झाँक रहा था।

मंजुनाथ ने हिण्डुगानम्मा का उत्सव सचमुच ही बड़ी धूमधाम से मनाया। मैंने सोचा था कि जंगल और पहाड़ी टीलों से घिरे उस पिछड़े हुए गांव में कौन आयेगा। लेकिन मेरा अनुमान निराधार निकला। वहाँ तो आसपास के दस-पन्द्रह गाँवों से सैकड़ों की संख्या में ब्राह्मण आ जुड़े। चण्डिका-होम, ललिता-सहस्रनाम और यज्ञादि का सम्पूर्ण कार्यक्रम विधिपूर्वक सम्पन्न किया गया। मण्डप में धुआँ भरा था। आँखों को भर देनेवाला धुआँ। फिर भी लोग भक्तिभाव से जमे-बैठे थे।

मंजुनाथ को परम तृप्ति मिली थी। उत्सव के भोज में तीन सौ स्वजातीय और पाँच सौ अन्य जातियों के लोग सम्मिलित हुए थे। उसके उदार स्वभाव के के कारण वहाँ न काम करनेवालों की कमी थी न भोजन परोसनेवालों की, और न मजदूरों आदि की ही। यही बात थी कि उत्सव के सारे काम बड़ी सफलता से सम्पन्न हुए। मैं तो नारायण के ब्याह में सौ जन के भोज का प्रबन्ध करते परेशान हो उठा था; और यह प्रायः समूचे बरस गाँव से बाहर रहनेवाला मंजुनाथ : इसके और इसके बड़े बेटों की व्यवस्था-पटुता देखकर तो भीतर-भीतर मैं लज्जित हुआ रह गया।

मुझे लग रहा था कि मंजुनाथ की एक इच्छा मैं शायद पूरी नहीं कर पाऊँगा। अब मन में बराबर यह खटक बनी हुई थी। उसने बहुत-बहुत आग्रह के साथ कहा था कि आजीमाँ को उत्सव में लाऊँ। मगर तिप्पज्जी से उस घटना को सुनने के बाद अब मैं आजीमाँ को वहाँ ले जाते डरता था। सीता भी मुझसे सहमत थी। उसकी दृष्टि क्योंकर अलग होती! उसने कहा, "हाँ, आजीमाँ को वहाँ ले जाना ठीक नहीं होगा। मैं भी घर ही रहूँगी। आप बच्चों को ले जाओ।"

"क्यों, ऐसा क्यों ?" मैंने पूछा।

"और कुछ नहीं, बस डर इस बात का है कि पता नहीं किस समय किसको देखकर आजीमाँ के मुँह से कोई बात निकल जाये।"

और उत्सव के दिन बच्चों को साथ लेकर वहाँ जाने के लिए मैं सबेरे से ही तैयारी में लग गया। आजीमाँ से मैंने ज़िक्र तक नहीं किया कि उन्हें साथ लेते आने के लिए मंजुनाथ ने कितना-कितना आग्रह किया है। नहा-धोकर जैसे ही निकलने लगा कि आजीमाँ ने पुकारा। पास जाने पर बोलीं :

"बेटा, मैं शायद उतनी दूर चल सकती हूँ। छुटपन में वहाँ गयी थी, अब मरने से पहले माँ भगवती का एक बार दर्शन और कर लूँ तो अच्छा। अपनी तिप्पक्का को भी देख आऊँगी। वह तो अब देख नहीं पाती, पर मैं तो अभी देख कर लेती हूँ। अब नहीं गयी तो उससे फिर कब मिल सकूँगी!"

मैं सुनकर ठक रह गया।

आजीमाँ कहने लगीं, "मुझे सब पता है, बेटा। तुम और बहू मुझे घर रोक रहे हो। उत्सव में क्यों नहीं ले जाना चाहते, यह मैं जानती हूँ। सीता से कहो, मैं मुंह पर ताला लगा रखूंगी। डरने की कोई बात नहीं। वह भी साथ चली चले।"

अब रहता ही क्या था! हम सबके सब ही चल पड़े। दोनों बच्चे रास्ते-भर कुछ न कुछ बोलते ही रहे। उनकी बातों को सुनते हुए हम आगे बढ़ते गये। मुझसे थोड़ा पीछे आजीमाँ थीं, सबसे पीछे सीता।

हिण्डुगान पहुँचने पर पहले हम मन्दिर की तरफ़ गये। आजीमाँ ने वहाँ का भव्य दृश्य देखा। हवन-कुण्ड के पास वहाँ बैठे ब्राह्मणों का मन्त्रपाठ सुनने लगीं। मण्डप का धुआँ जब आँखों में लगने लगा तो आँखें मलती हुई वे मन्दिर के द्वार की ओर बढ़ गयीं।

मैं उनके पीछे लपका। मुझे अब भी डर था कि कहीं कुछ हो न जाये। वे जाकर गर्भगृह के बाहर खड़ी हो गयीं और कहने लगीं, "तुम सचमुच महामाता हो! तुम्हारी अजब लीलाएँ हैं: हज़ार-हज़ार खेल, समय-समय के खेल। आज इन बच्चों के द्वारा यह खेल खेल रही हो!"

अगले ही क्षण मेरी ओर देखती हुई बोलीं आजीमाँ, "बेटा, अब मुझे तिप्पक्का के पास ले चल।"

"आजीमाँ," मैंने समझाया, "पहले हम मंजुनाथ के घर चलें।" और मैं उन्हें उधर ले गया। मंजुनाथ की पत्नी श्रीदेवी ने आजीमाँ को आती देख ही सब कामों को जहाँ का तहाँ छोड़ा और आजीमाँ के पास बैठ उनकी आवभगत की।

भोग लगने में अभी देर थी। आजीमाँ को तब तक भीड़ में बैठे रहना होता। उनके लिए बेचैनी न हो इसलिए मैंने उनसे कहा, "आजीमाँ इस बीच तिप्पज्जी के यहाँ हो आना चाहें तो चलें! पर वहाँ पहुँचने के लिए थोड़ी दूर चलना पड़ेगा। आप चल सकेंगी?"

"हाँ-हाँ," और आजीमाँ तत्काल खड़ी हो गयीं।

खेतों की मेंड़ से होते हुए हम तिप्पज्जी के घर पहुँचे। घर से थोड़ा पहले जो एक झरना था वहीं रुककर हमने पैर धोये। उसके बाद उनके आँगन में पाँव रखा।

तिप्पज्जी हाथ में जपमाला लिये बरामदे में बैठी थीं। मैंने सामने पहुँचते ही पुकारते हुए कहा, "अज्जी, मैं सुब्बण्णा आया हूँ, आजीमाँ को भी साथ लाया हूँ।"

मेरी बात पूरी होने से पहले ही आजीमाँ बोल उठीं, "हाँ तिप्पक्का, तुम्हें देखने को आने का योग अब बना सकी। मंजुनाथ के यहाँ भगवती के उत्सव में आना हुआ, सो यहाँ भी आना हो गया। चलो, भगवती की गणना में तुम्हारी भी

गणना हो गयी।"—यह कहती हुई आजीमाँ उनके पास जा बैठी और उनकी पीठ को सुहराने लगीं। फिर ठोड़ी के नीचे हाथ का सहारा देकर उनके मुख को जरा ऊपर उठाकर आजीमाँ ने उनकी आँखों में झाँका। तिप्पज्जी का तो जैसे बोल ही खो गया था। और फिर हाथों में उनके झुर्री भरे हाथ ले लिये।

तिप्पज्जी की आँखों से आँसू बह आये। बोली, "मूकी, मेरे तो न हाथ-पाँव रहे, न आँखें रहीं। भगवान् की दया कि तू ठीक है। आ गयी अच्छा किया, मिलना हो गया। मैं तो आ ही नहीं पाती।"

"हाँ तिप्पक्का, इसीलिए तो आयी। पहले भी आ सकती थी। आज मैं मन को पक्का करके आयी हूँ। क्योंकि तू तो जानती ही है, एक बार यहाँ आने पर जो अनुभव हुआ उससे मुझे कितना तंग होना पड़ा! सोचा था कि अब कभी भी इस भगवती का मुँह नहीं देखूँगी। फिर समझ में आया कि वह भी तो इस देवी का खेल था। यही तो उस दिन यहाँ बुला लायी थी और बोली थी, 'मेरी देह पर कपड़े नहीं है तो इनकी तुझे भी क्यों जरूरत? मैं, मैं भगवती हूँ और तू, तू मेरी बेटी।' मुझे भी लगा मैं, हाँ मैं इसकी छोटी बेटी ही तो हूँ, सो कपड़े उतारकर उसी की तरह बनकर नाचने लगी। सच मान, तिप्पक्का, माँ भगवती को देख उस दिन बड़ा आनन्द मिला था, उसी आनन्द में तो मैं नाचती रही थी।"

थोड़ा ठहरकर आजीमाँ ने आगे कहा, "लेकिन बाद को जो सब मुझ पर बीता वह कितना दारुण था, तू तो जानती ही है। मेरे छोटे-से पागलपन पर गाँव के सौ भीषण पागलपन चढ़ दौड़े। कितनी-कितनी पीड़ाएँ मुझे दी जाने लगीं और किस-किस प्रकार से भूत-प्रेत और ब्रह्मराक्षस आदि सभी के तो प्रभाव बता-बताकर कौन-कौन-सी यन्त्रणाएँ नहीं दी गयी मुझे! और उसके बाद मैंने बोलना ही बन्द कर दिया—चार बरस तक।"

तिप्पज्जी बोलीं, "आज भी, मूकी, यहाँ आने की ऐसी कौन-सी भारी बात थी! आज भी तो उसी भगवती की पूजा हो रही है!"

"हाँ, हो रही है। मगर मैं आज दृढ़ संकल्प करके आयी हूँ। आज वह सब नहीं होने पायेगा। इसीलिए भगवती के भी सामने जाकर हँसते-हँसते बोल आयी हूँ: 'तेरे हजार रूप हैं, हजार-हजार खेल, समय-समय के खेल!'"

"अरे, तो क्या तू मन्दिर गयी थी?" तिप्पज्जी चौंकी, "और गयी तो यह सब कह आने की क्या जरूरत थी? जिसने सुना होगा वही तुझे पागल सोचेगा!"

"पागल तो सबकी नजरों में मैं हूँ ही। बस, माँ के आगे भी कहने का जी हुआ, सो कह आयी। उसके नित-निराले खेल देखकर हँसी आती है। तुम कुछ भी कहो, तिप्पक्का, यह हिण्डुगानम्मा है न! बड़ी ही मायाविनी है। मुझे तो हर रूप और हर वेष में यही सब कहीं दिखाई देती है।"

न जाने किसने दिखाया ! पर हाँ, दीव अवश्य पड़ा । मैं डरनेवाली नहीं हूँ यह बात भगवती अच्छी तरह समझ गयी है। इसीलिए वह मुझे देखकर मुस्करायी। तुम्हीं कहो तिप्पज्जी, बच्चा कभी माँ से डरता है ? उसी माँ के गर्भ से जनमा जो है न !" यह कह आजीमाँ की दृष्टि एकाएक घर में इधर-उधर घूमी। किसी को न देख उन्होंने तिप्पज्जी से पूछा, "क्यों, घर में कोई नहीं है क्या तिप्पक्का ?"

"क्या चाहिए आजीमाँ ?" मैंने पूछा।

इतने में तिप्पज्जी की पतोहू, जो भीतर रसोई में थी, दो कटोरों में गुड़ का शरबत लिये आयी और हम लोगों के सामने रख दिया। आजीमाँ ने बिना किसी उपचार के शरबत लेकर पी लिया। बोली, "अब जरा चैन पड़ा। पता नहीं क्यों, यह सब बोलते-बोलते कुछ अजीब-अजीब-सा लग रहा था। बूढ़ी हो गयी हूँ न, अब पहले जैसी शक्ति नहीं रही।"

"हाँ मेरा भी वही हाल है मूकी ! बस, जी रही हूँ : सूखी पत्ती की तरह !"

"मगर मैं तो तुझसे छोटी हूँ।"

"अरी, तुझ पर तो भगवती की कृपा है !"

"तू भी तो उसी माँ की बेटी है। चराचर जगत् ही उसका जनमा हुआ है।"

"ठीक है वह तो, मगर अब और जीकर भी क्या करना। भगवान् उठा लें अब तो अच्छा !"

"नहीं री तिप्पक्का, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। तुझे न कुछ हुआ है न होना है। तेरा यह काया-कवच अभी चार बरस तो और यों ही चलेगा।"

"क्या ! अभी चार बरस और जीना होगा ?"

"हाँ, वैसे आत्मा तो अविनाशी है। विश्व का जब विलय होगा शायद तभी जीवात्मा का भी विलय होगा। फिर कहीं कोई नहीं रहेगा। यह जो इतने-इतने खेल खिला रही है, यह भी नहीं रहेगी। यह भी ऊब चुकी होगी। अपनी सारी सन्तान को साथ ले एक दिन यह भी विलीन हो जायेगी। तिप्पक्का, जब तक यह है, हम हैं, जब तक हम हैं यह है। और दोनों के रहने तक ही यह जगत् है !"

"ऐसा क्या !"

"और नहीं तो क्या ? जीवात्मा के खेल के लिए ही तो यह सारी सृष्टि है। और जब यह खेल ही पूरा हो जाये तो फिर यह सृष्टि किसलिए ?"

आजीमाँ की ये नयी-नयी बातें मेरी बुद्धि के बाहर थीं। पता नहीं यह सब उन्होंने किससे सीखा। सोचने लगता हूँ तो मैं तो दंग रह जाता हूँ। मेरे पिता-माता, दादा-दादी कोई तो वेदान्ती नहीं थे। किसी को तो यह सब नहीं आता था।

और तो और, इस समय तिप्पज्जी की ही समझ में आजीमाँ की ये बातें कितनी आ रही होंगी! मगर ऐसी मगन होकर सुन रही थीं इनकी बातों को जैसे कोई वर-प्रसाद पा रही हों! उनका चेहरा खिल उठा था। आजीमाँ के हाथ उनके हाथों में ऐसे पड़े थे जिन्हें देखकर आश्चर्य हुआ कि दोनों एक-दूसरे से तीस बरस की इतनी लम्बी अवधि तक अलग कैसे रही आयीं।

आजीमाँ और मैं जब तिप्पज्जी के यहाँ पहुँचे थे तब सूरज के सिर पर आने में दो घड़ी बाकी थी। और वह अब दो घड़ी ढल चुका था। तिप्पज्जी की बहू वहीं बरामदे में हम लोगों के लिए भोजन की व्यवस्था कर रही थी। मैंने यह सोचकर कि मंजुनाथ को इस पर बुरा लग सकता है, आजीमाँ से कहा, "आजीमाँ, मैं यदि वहीं खाऊँ तो शायद अच्छा रहे।"

आजीमाँ ने उत्तर दिया, "यहाँ, बेटा, प्रसाद ले लेंगे।"

मैंने फिर तर्क किया, "वह तो ठीक है, मगर भोज में भाग न लेने पर वे लोग पता नहीं क्या सोचें!"

"बेटा, यह भी उसी भोज का एक भाग है, उसी भगवती का प्रसाद।" तिप्पज्जी का आग्रह था।

फिर तो मुझे भी यहीं बैठ जाना पड़ा। सोचा कि यहाँ जल्दी से खाकर मंजुनाथ के यहाँ पहुँच जाऊँगा और अतिथियों को भोजन परोसने में तो हाथ बटा ही सकूँगा। और सचमुच मेरे वहाँ पहुँचते-न-पहुँचते पहली पंगत को भोजन परोसा जाने लगा था। सबके साथ मैं भी उस काम में जुट पड़ा। उसके बाद जब दूसरी पंगत के बैठने की बारी आयी तब औरों के साथ जीमने बैठने में मुझे कोई संकोच नहीं हुआ।

तिप्पज्जी के यहाँ खा आया हूँ, यह राज मैंने किसी को बताया ही नहीं। सीता ने भी जब आजीमाँ के लिए पूछा तब मैंने मात्र इतना कहा "आजीमाँ वहीं हैं, तिप्पज्जी के यहाँ।" सीता ने एक साँस ली, बोली, "चलो, ठीक हुआ।"

भोज के बाद मैं तिप्पज्जी के यहाँ गया और आजीमाँ को साथ ले आया। मंजुनाथ ने आजीमाँ को देखा तो गद्‌गद हो गया और पत्नी और पुत्रों समेत चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया।

उत्सव-समारोह में दस जन इकट्ठा होते है तो वहाँ से निकल आना आसान नहीं होता। फिर भी कुछ देर से मैं बराबर चाह रहा था कि अब यदि यहाँ से चल दिया जाये तो अच्छा रहे। आजीमाँ तो 'भगवान् तुम सबका भला करे!' कह कर जैसे आगे बढ़ भी गयीं। मेरा चल पड़ना भी इसलिए आसान हो गया। सीता दोनों बच्चों को लेकर पहले ही मण्डप के बाहर पहुँच गयी थी। हम दोनों उसके पीछे-पीछे ही बढ़ चले।

घर हमारा बहुत दूर नहीं था। लेकिन रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा था। अँधेरा भी फैल

आया था। मैंने सोचा आजीमाँ को सहारे की जरूरत पड़ेगी, इसलिए सीता और बच्चों को आगे बढ़ने देकर मैं आजीमाँ का हाथ थामते हुए बोला, "धीरे-धीरे ही चलिए आजीमाँ, मैं साथ हूँ।"

लेकिन आजीमाँ तो आजीमाँ ! हाथ छुड़ाते हुए बोली, "नहीं रे, मेरे लिए यह रास्ता नया थोड़े ही है !"

फिर आजीमाँ और मैं धीरे-धीरे बढ़ने लगे। सीता बच्चों को लिए हुए इस बीच काफी आगे निकल गयी थी।

लगभग आधा रास्ता पार करने के बाद हमारे गाँव की तरफ एक मोड़ आता है, और वहाँ से एक रास्ता दूसरी ओर को भी घूमता है। पता नहीं कैसे, या किस भ्रम में, आजीमाँ और उनके पीछे-पीछे मैं इस दूसरे रास्ते की ओर मुड़ गये। हम दोनों में से किसी को पता नहीं चला कि दोनों ग़लत रास्ते पर बढ़ रहे थे।

लेकिन थोड़ी ही दूर गये होंगे कि आजीमाँ एकाएक रुक गयी। मैंने रुक जाने का कारण पूछा तो बोलीं, "सुनाई नहीं देता क्या तुझे ?"

"नहीं, कुछ भी तो नहीं आजीमाँ !" मैंने उत्तर दिया।

"ठीक से कान देकर सुनो," कहकर वे बिना मेरे पास अटके थोड़ा और आगे बढ़ गयीं और वहाँ पड़ी एक बड़ी भारी शिला के पास रुककर ध्यान से कुछ देखने लगीं। मेरी समझ में कुछ न आया। कुतूहलवश मैंने पूछा, "आजीमाँ, इस तरह यहाँ खड़ी हुई क्या देख रही हैं ?"

"बेटा, साफ तो सुनाई आ रहा है ! ब्राह्मण लोग मन्त्रपाठ कर रहे हैं। 'ओम् इन्द्रा इदन्नमः, ओम् वरुणा इदन्नमः, ओम् मित्रा इदन्नमः।' ध्यान देकर सुनो, ऐसा ही कुछ बोल रहे हैं !"

"कहाँ आजीमाँ, कहीं तो कुछ नहीं।" मैंने कहा, "यहाँ जंगल में कौन मन्त्र-पाठ करने आयेगा ? आपने भगवती के उत्सव में चण्डिका-यज्ञ होते देखा, वही ध्यान में आ रहा होगा !"

"तू भी मुझे पागल समझता है क्या रे ?" और उन्होंने एक ओर को संकेत किया, "उधर देख, यज्ञ किया जा रहा है। लम्बी-लम्बी दाढ़ीवाले तीन-चार ब्राह्मण भी दिखाई दे रहे हैं। मन्त्रपाठ हो रहा है, यज्ञकुण्ड में घृत और समिध् डाली जा रही है।"

इधर-उधर जब आँखें दौड़ायीं तब समझ में आया कि हम रास्ता भटक गये हैं। कुछ घबराहट में आजीमाँ से बोला, "आजीमाँ, आप आगे-आगे जो चल रही थीं, रास्ता भटक गयीं। मुझे भी कुछ ध्यान नहीं रहा। चलिए, अँधेरा होता जा रहा है, लौट चलें। जल्दी घर नहीं पहुँचेंगे तो सीता घबड़ा जायेगी।" और उनका हाथ थामकर उधर से ले जब आने लगा तो वे लौट तो पड़ीं मगर जैसे बेमन से।

घर पहुँचे तो समीप ही अपने पीपल-चबूतरे को देखते ही आजीमाँ बोलीं,

"तुम घर चलो बेटा, मैं थोड़ी देर यहाँ बैठूँगी।"

भीतर जाकर सीता को अपने लौट आने की खबर देकर मैं कुएँ पर आ पहुँचा। हाथ-पाँव धोये और फिर सन्ध्या करने बैठ गया।

सन्ध्या-वन्दन का नाटक पूरा कर घर के बरामदे में पहुँचा तो मुझे देखते ही किट्टू हठ करने लगा, "पापा, रात को फिर मन्दिर चलें न! वहाँ उत्सव अभी भी चल रहा है।" उसने वैसा आयोजन पहली बार देखा था, इसलिए वह उसे बार-बार देखने को जैसे उतावला हो आया था। चन्दू तो घर पहुँचते ही सो गया था। किट्टू को समझाना-मनाना पड़ा पर उसमें विशेष कठिनाई नहीं हुई।

उस रात अपने यहाँ तो किसी को खाना-पीना था नहीं, सब मंजुनाथ के यहाँ खा आये थे। पर आजीमाँ के लिए ज़रूर कुछ व्यवस्था करनी थी। उन्होंने दोपहर को तिप्पज्जी के यहाँ भी बहुत थोड़ा ही लिया था और फिर साँझ को चलते समय मंजुनाथ के यहाँ केवल ज़रा-सा प्रसाद पाया था।

सीता ने पूछा, "कहाँ हैं आजीमाँ?"

"पीपल-चबूतरे पर।" मैंने बताया।

"उन्हें वहाँ बैठाकर आप यहाँ चले आये! आप भी खूब हैं। जाइये, बुलाकर लाइये उन्हें! थोड़ा-सा चिवड़ा खाकर लस्सी ही पी लेंगी। अच्छा, तिप्पज्जी के साथ तो उनकी खूब बातें हुई होंगी वहाँ?"

"हाँ, पहुँचते ही पहले तो घड़ी भर बातें हुईं लेकिन बाद में तो दोनों बहुतकर चुप ही रहीं।"

सीता तपाक से बोली, "वे तो चुप रह सकती हैं लेकिन ये कैसे चुप रह गयी होंगी?"

मैंने कुछ क्षुब्ध होकर कहा, "ऐसा क्यों बोलती हो? उनकी उम्र में जब हम पहुँचेंगे तो शायद डोकने में बैठाकर ले जाने लायक हो जायेंगे!"

फिर सीता कुछ विशेष नहीं बोली। मैं आजीमाँ को बुला लाने बाहर जाने लगा तो किट्टू मुझे देख मेरे पीछे हो लिया। मैंने उसे डाँटा, "तू कहाँ चला?" तो बच्चे ने राग अलापना आरम्भ कर दिया, "तुम तो हिण्डुगान जा रहे हो! मुझे भी…।"

"छिः, हिण्डुगान कितनी बार जाना है? और इस अँधेरे में?" यह कहते हुए नंगे पैर ही मैं पीपल-चबूतरे जा पहुँचा। देखा कि आजीमाँ बैठी-बैठी कुछ अपने में ही बड़बड़ाये जा रही थीं। गति धीमी कर दबे पाँव जाकर मैं भी चबूतरे के एक ओर जा बैठा। जब-कभी वे आत्म-चिन्तन में लगी होती हैं, मैं कभी उसमें बाधा नहीं डालता। अनेक अवसरों पर उनका यह बड़बड़ाना बहुत सरल और स्पष्ट अर्थ देनेवाला होता है। लगता है किसी से बात कर रही हों।

आजीमाँ के मुँह से बार-बार वे ही मन्त्र निकल रहे थे, 'ओम् इन्द्राय स्वाहा!

इदम्-इन्द्राय इदन्न मम ! ओम्-वरुणाय स्वाहा ! इदम्-वरुणाय इदन्न मम !'
फिर सामने देखती हुई बड़बड़ाने लगी।

"बेचारे ! देख लो, क्या हो गयी तुम्हारी दशा ! कौन पूछता है इस युग में तुम्हें ! वे युग तुम्हारे गये। ब्राह्मणों ने तुम्हें मान-सम्मान दिया सो आप लोग भी जिये और वे लोग भी। और ये पुरोहित ? देवों से भी ऊँचे ! चार-पांच सौ बरस चला तुम लोगों का राज ! सबके लिए बस एक इन्द्र ! हर बात के लिए वरुण, मित्र ! सब कोई तुम्हारा ही नाम जपते और अग्निकुण्ड में सबेरे से दोपहर तक लगातार घृत डालना, दूध-धान का होम करते रहना, और सब तरफ धुंआ ही धुंआ फैलाना ! और यह इन्द्रभोग ? किसी और देवता को न मिलनेवाला सम्मान !

"और हां, तुम सबमें भी सबसे बड़ा इन्द्र ! वरुण, तुम भी तो कम नहीं ! आज कौन पूछता है तुम्हें ! किसे चाहिए तुम्हारा स्वर्ग ? तुम्हारा स्वर्ग-नरक तो बस लोगों को डराने के लिए था। पर डरे तो डरनेवाला ही। निडर के लिए कैसा स्वर्ग और कैसा नरक ? और स्वर्ग नरक है ही तो फिर पुनर्जन्म क्यों ?

"और अग्नि ! तेरी तो बिलकुल ही और माया है। तेरा तो ब्राह्मण लोग आज तक सम्मान करते आये है, तेरी मर्यादा को तो वैसा ही बनाये हुए है ! इतना-इतना घृत और शाकल्य तुझे ये लोग खिलाते है कभी अपच नहीं होता तुझे। मंजुनाथ ने ही आज कितना-कितना तुम्हें खिलाया है। मगर उसमें से कितना तूने इन्द्र तक या स्वयं भगवती तक पहुँचाया होगा, मैं यही सोच रही हूँ।

"धत् ! तू कहाँ किसी को पहुँचायेगा कुछ भी ! सारा का सारा तो तेरे अपने उदर में समाता जायेगा। कुछ अगर पहुँचायेगा कहीं तो केवल धुआं ! चारों ओर सारे में धुआं फैलाकर तू कहता है कि जो भागीदार है वे आकर ले जायें। तेरी यह ठगी क्या मैं नहीं जानती ? तू, जो सब ठगों का ठग है !"

आजीमां की इन बातों को सुनने के साथ ही मुझे एक धक्का-सा लगा। ये चार्वाक जैसी बातें क्यों करती हैं ? क्या इन्हें किसी देवता में आस्था-विश्वास नहीं है।

वे बड़बड़ाये जा रही थीं : "वह दिन तुझे याद है ? उस दिन तेरी प्रदक्षिणा भी की थी। उनका हाथ पकड़कर सात फेरे भी डाले थे, मेरे विवाह का तू ही तो साक्षी था। आखिर क्या किया तूने उनके जीव का ? वह तो तुझे कहाँ मिलेगा, किन्तु उनके शरीर को अवश्य निगल लिया। वे तो जलकर राख हुए, किन्तु फिर भी तूने उनको पूरी तरह से नहीं खाया। खाता भी तो तुझे पचता नहीं। उनकी कुछ अस्थियां तूने छोड़ दी थीं। मेरे ससुरजी ने उन अस्थियों को रामेश्वर ले जाकर वरुण को समर्पित कीं।

"इन्द्र कभी का लुप्त हो चुका था। लेकिन तू फिर भी बना रहा, और बना रहा हमारी काया की बची-खुची राख को निगलने के लिए वरुण। मैं पूछती हूँ,

जिन देवताओं ने तुझ पर भरोसा किया था उनका सम्मान अब क्यों नहीं रहा? मैं इतना ही जानना चाहती हूं। और मेरी माँ देवी भगवती का हाल? उसका तेरे इन्द्र के हाल जैसा नहीं हुआ। वह तो प्राणदायिनी है: जन्मदात्री है। वह ही तो रक्षक है हमारी। चाहेगी तो वही ले जायेगी। उसे तो सदा-सर्वदा सभी युगों में मर्यादा दी जाती है। और, उसी भगवती से 'वह' है और उसी के कारण तेरी भी कुछ मर्यादा बची हुई है।"

मुझे जैसे अपनी कुछ सुध-सी नहीं रही। आजीमाँ से पूछ बैठा, "आप यह 'वह' किस को लक्ष्य कर कह रही हैं?"

"वह यानी वह! कहते हैं स्त्री के मुंह कहे जाने की यह बात नहीं। लेकिन मैं क्यों न कहूं? मुझमें जितना अंश स्त्री का है, उतना ही पुरुष का। मेरा आशय लिंग और योनि से है। इन दोनों के मिलने से ही तो सृष्टि है। इन दोनों को छोड़ दें तो रहता ही क्या है? भगवान् की लीला, भगवान् की माया—सब यही तो है, इन्हीं में तो है। बेटा, हम यह जानते भी हैं, फिर भी सत्य को सामने देखते हैं तो शरमाते हैं।"

आजीमाँ बोलती गयीं, "नहीं तो और है क्या, बेटा! पुरुष की बुद्धि-चपलता ही कुछ ऐसी है कि जो आज है, कल के लिए वह बासी बन जाता है। क्या गाँव, क्या खाना, क्या पीना—सबकी यही हालत है।"

"पर ऐसा क्यों हुआ आजीमाँ? क्यों आया इतना परिवर्तन?"

"क्या बताऊँ, बेटा! इन्द्र-वरुण, और शेष अष्ट-दिक्पालक आदि नाम जपनेवाले उन्हें भूलकर अब नये-नये कितने ही देवताओं को पूजने लगे हैं। देखो न! कितने-कितने देवता! ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, पार्वती, दुर्गा, मूकांबू और न जाने कितने! ऊपर से एक-एक देवता के हज़ार-हज़ार नाम।"

"हाँ आजीमाँ, आज मंजुनाथ के उत्सव में माँ भगवती का ललिता-सहस्र-नाम भी तो जपा गया!" मैंने अपनी होशियारी जताने के भाव में कहा।

"सो ठीक है। हमारे तो सैकड़ों ही क्यों—हज़ारों-हज़ार देवता हैं। और हर देवता के हज़ारों नाम हैं। मानो समय-समय पर गाँव-गाँव के लोगों ने अपने अलग-अलग देवताओं की कल्पना की होगी और अलग-अलग उन्हें नाम भी दिये होंगे।" आजीमाँ ने कहा।

"मगर वे सभी एक ही देवता हैं न? एक ही देवता के अनेक नाम हैं न?"

"हाँ बेटा, पर हमें इसका ज्ञान हो जब तो। इन्द्र, वरुण, अग्नि और मित्र अलग-अलग चार-चार नाम लेकर उन्हें चार-चार बार हवि देते आये। फिर भगवान् स्त्री है या पुरुष— जब यह सन्देह उपजा तो दो नाम हो गये। उसके बाद भगवान् सचमुच स्त्री है या पुरुष या कुछ और ही—यह समझते होते नहीं बना तो अपने-अपने मन के अनुसार हमने उसकी कल्पना कर ली। जब देखो जब हमारी

यह कल्पना ही हमारे लिए प्रश्नों की जननी बन बैठी तो हम लोग भटक गये, उलझन में पड़ गये। हारकर अब कहने लगे हैं कि भगवान् न अनेक हैं, न यह हैं न वह; भगवान्, एक ही है, मात्र एक। बेटा, यह सब एक खेल है। कैसा खेल? अज्ञान का ही होगा, ज्ञान का तो है नहीं।

"खेल तो खेल ही है! मगर मनुष्य का अज्ञान भी तो अज्ञान ही है। नहीं तो माँ भगवती के मन्दिर के सामने, उसकी इच्छा से जनमे भैंसे और बकरे की कोई बलि देता? जिसने हमारे देह की नस-नस में रक्त को प्रवाहित किया वही क्या स्वयं उसका पान करके तृप्ति-लाभ करेगी? सुना है किसी युग में नरबलि देने की प्रथा थी। धारणा कुछ ऐसी थी कि इससे भगवती माँ को तृप्ति मिलती है, वह ऐसा ही चाहती है। अज्ञान के साथ-साथ यह अन्याय भी चलता है। नहीं होना चाहिये यह सब।"

अकस्मात् ही आजीमाँ ने जो समस्या उठा दी थी, कितनी जटिल थी वह! उनकी बुद्धि तो पारद की भाँति हर दिशा में ही बह जाती थी। वे जो सब कहती उसमें मुझे असंगति तो नहीं दिखाई देती लेकिन उनकी तमाम बातों का एक पूरा और समूचा चित्र बनाने की सामर्थ्य ही मुझमें नहीं थी।

अचानक ध्यान आया कि मैं तो आजीमाँ को बुलाने के लिए आया था। सीता बैठी राह देखती होगी। कहीं इसी बात पर रूठ न जाये, मैंने आजीमाँ से कहा, "आजीमाँ, सीता ने आपके लिए उपाहार तैयार कर रखा है, चलिये।"

"चलो बेटा, मैं भी न जाने किस-किस निरख-परख में पड़ गयी। समय का ज्ञान ही नहीं रहा। वहाँ से आते हुए रास्ते में कुछ दिखाई दिया, कुछ सुनाई दिया, सो उसी में मन बह गया। आज तो बेटा, सारे दिन मेरी हालत ऐसी ही रही। जब तक निप्पका के घर थी, मैं बहुत खुश थी।" कहते हुए वे उठीं तो मैंने उनका हाथ थाम लिया और वहाँ से हम दोनों घर चले आये।

आजीमाँ अपना उपाहार करके सो गयीं। सीता भी बच्चों के साथ बरामदे में जा सोयी। किन्तु उस दिन की घटनाओं ने मुझमें एक आलोडन पैदा कर दिया था। जैसे किसी विचित्र नाटक के साथ और भी अधिक विचित्र दृश्य जुड़े-बँधे हों; उसी तरह, वास्तविक विषयों के साथ-साथ कुछ अवास्तविक दृश्य भी मेरी आँखों के आगे नाचने लगे। हिण्डुमान का मन्दिर, वहाँ का छप्पर, चण्डिका होमस्तवन, वहाँ का जनसमूह—फिर एक-एक कर दिखाई देने लगे। हिण्डुमानम्मा कभी कराल काली बनकर, कभी दुर्गा और कभी चण्डिका बनकर अपना प्रचण्ड रूप प्रदर्शित करती हुई दिखाई देती रहीं। उसका कराल काली रूप देखकर तो मैं काँप गया। बड़ी-बड़ी आँखें फाड़े, मुँह से बाहर लटकी हुई लम्बी जीभ, सब ओर को उठी हुई सैंकड़ों भुजाएँ, बिखरे केश, और पादाक्रान्त महिषासुर! परम आत्मीयता और मधुर भाव-ध्वनि से पुकारे जानेवाली 'माँ' का यह रूप? इतना विक-

जिन देवताओं ने तुझ पर भरोसा किया था उनका सम्मान अब क्यों नहीं रहा ? मैं इतना ही जानना चाहती हूँ। और मेरी माँ देवी भगवती का हाल ? उसका तेरे इन्द्र के हाल जैसा नहीं हुआ। वह तो प्राणदायिनी है : जन्मदात्री है। वह ही तो रक्षक है हमारी। चाहेगी तो वही ले जायेगी। उसे तो सदा-सर्वदा सभी युगों में मर्यादा दी जाती है। और, उसी भगवती से 'वह' है और उसी के कारण तेरी भी कुछ मर्यादा बची हुई है।"

मुझे जैसे अपनी कुछ सुध-सी नहीं रही। आजीमाँ से पूछ बैठा, "आप यह 'वह' किस को लक्ष्य कर कह रही हैं ?"

"वह यानी वह ! कहते हैं स्त्री के मुँह कहे जाने की यह बात नहीं। लेकिन मैं क्यों न कहूँ ? मुझमें जितना अंश स्त्री का है, उतना ही पुरुष का। मेरा आशय लिंग और योनि से है। इन दोनों के मिलने से ही तो सृष्टि है। इन दोनों को छोड़ दें तो रहता ही क्या है ? भगवान् की लीला, भगवान् की माया—सब यही तो है, इन्हीं में तो है। बेटा, हम यह जानते भी हैं, फिर भी सत्य को सामने देखते हैं तो शरमाते हैं।"

आजीमाँ बोलती गयीं, "नहीं तो और है क्या, बेटा ! पुरुष की बुद्धि-चपलता ही कुछ ऐसी है कि जो आज है, कल के लिए वह बासी बन जाता है। क्या गाँव, क्या खाना, क्या पीना—सबकी यही हालत है।"

"पर ऐसा क्यों हुआ आजीमाँ ? क्यों आया इतना परिवर्तन ?"

"क्या बताऊँ, बेटा ! इन्द्र-वरुण, और शेष अष्ट-दिक्पालक आदि नाम जपने-वाले उन्हें भूलकर अब नये-नये कितने ही देवताओं को पूजने लगे हैं। देखो न ! कितने-कितने देवता ! ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, पार्वती, दुर्गा, मूकाँबू और न जाने कितने ! ऊपर से एक-एक देवता के हज़ार-हज़ार नाम।"

"हाँ आजीमाँ, आज मंजुनाथ के उत्सव में माँ भगवती का ललिता-सहस्र-नाम भी तो जपा गया !" मैंने अपनी होशियारी जताने के भाव में कहा।

"सो ठीक है। हमारे तो सैंकड़ों ही क्यों—हज़ारों [illegible] देवता हैं। और हर देवता के हज़ारों नाम हैं। मानो समय-समय पर [illegible] लोगों ने अपने अलग-अलग देवताओं की कल्पना की होगी और [illegible] भी दिये होंगे।" आजीमाँ ने कहा।

चक्कर लगा आया। जंगल से घिरे और पत्थरों से भरे हुए उस मैदान में पेड़-पौधे उगने की तो सम्भावना ही नहीं थी। उस पथरीले मैदान के बीचों-बीच एक रास्ता गया था। बरसों से लोगों का उस पर से आना-जाना बना रहा है। परिणाम यह हुआ कि इसके दोनों ओर काई जम-जमकर धरती काली पड़ गयी थी और बीच में यह रास्ता सफेद तिलक जैसा लगता था। घूमते-घामते मैं उस मैदान के एक कोने पर पहुँचा तो वहीं पेड़ों के झुरमुट में पत्थर की एक चरई दिखाई दी। उसके पास ही पत्थर का एक स्तम्भ भी था।

आज तक मेरी दृष्टि उधर नहीं गयी थी। अब देखा तो लगा कि उधर से आने-जानेवाले लोगों ने अपने बोझ उतारकर साँस लेने की सुविधा के लिए शायद उस स्तम्भ को खड़ा किया होगा। पर प्रश्न उस चरई का फिर भी रहता था। पत्थर की उस चरई की वहाँ क्या जरूरत थी? थके-प्यासे बैलों को पानी पिलाने के लिए क्या? लेकिन पानी कहाँ से आता होगा? एक-सवा मील तक पहाड़ी इलाका था। उसे पार करने तक कहीं पानी नहीं था। तब क्या किसी युग में यहाँ सरोवर था और पानी की व्यवस्था किसी तरह कहीं और से करके इस चरई में भर लिया जाता था?

एकदम से मुझे सूझा कि पास ही कहीं कुआँ हो! और मन में यह विचार आते ही मैं इधर-उधर मँडराने लगा। सूखे पत्तों पर पाँव पड़ते ही चरमराहट की आवाज होती। उस आवाज पर रह-रहकर लगता कि पत्तों के नीचे कहीं साँप आदि न हो। साँप की याद आने के साथ ही जग्गा की भी याद आयी। नारायण के ब्याह के समय का गया हुआ, अभी तक घर नहीं लौटा था। कोई खबर तक उसकी नहीं आयी थी।

काफी देर मैं कुएँ को खोजने में लगा रहा। बार-बार लगता कि सहारे के लिए कोई साथी होता तो ठीक रहता। उस छोटे-से जंगल में रास्ता भूल जाना तो संभव नहीं था, मगर कुएँ को खोज निकालना उतना आसान नहीं था। मन तो यहाँ तक कहता कि कहीं यदि कुआँ था भी तो घास-पात से पट गया होगा। फिर भी अपना काम मैंने जारी रखा। कुछ देर बाद, कुआँ तो नहीं लेकिन एक खड्ड दिखाई दिया। और आश्चर्य कि उस खड्डे में केवड़े के झाड़ ही झाड़ थे। अर्थात् पास ही कहीं पानी जरूर होगा। ऐसा कुछ देखने की मेरी आकांक्षा तो थी ही, सो उसे देखकर मुझे कोई विशेष आश्चर्य नहीं हुआ। लेकिन आजीमाँ को तो यहाँ कहीं से *'इन्द्राय स्वाहा'* आदि *मन्त्रों की ध्वनि आती सुनाई पड़ी थी।* क्या कारण होगा उसका? क्या किसी काल में किसी ऋषि का आश्रम था इधर? यदि ऐसा था तब उनकी बस्ती के सामने यज्ञकुण्ड भी रहा होगा? लेकिन हजारों वर्ष पुराना यज्ञकुण्ड, या उस जैसा कुछ और, क्या अब तक बना रह सकता है? मन में इस विचार के उठते ही मैं आप-से-आप हँस पड़ा। जरूर आजीमाँ किसी

राल ? यह तो माँ नहीं, महामाई है। 'महामाई' का भी तो अर्थ बड़ी माँ ही है। तब यह विकराल रूप उसे किसने दिया ? क्यों पुराण लिख-लिखकर लोगों के मन में क्यों यह भय का अंकुर गाड़ दिया।

इसी प्रकार के दृश्य देखते सपनों में रात बीती। तड़के जब सीता उठकर काम-काज में लग गयी तब मेरी नींद खुली। फिर भी मैं लेटा रहा। थोड़ी देर बाद सीता के बरतन माँजने की आवाज़ कानों में आयी। आँखें खोलकर देखा तो सूरज निकल चुका था। झट से उठकर बिस्तर समेटा और जाकर उसे मियानी में रखा। उसके तत्काल बाद दातौन करता हुआ थोड़ी देर कुएँ की जगत पर बैठा रहा हूँगा। और फिर घड़े पर घड़ा पानी कुएँ से खींचकर सिर पर डाला तब कहीं खुमारी दूर हुई और लगा कि आकाश से धरती पर उतर रहा हूँ।

अब जब नित्य के काम-धन्धे से लगा तो धीरे-धीरे वह सारा स्वप्न-चित्र धुँधलाने लगा। फिर भी उनमें से कुछ-एक को नहीं ही भूल पाया। पिछली साँझ को आजीमाँ के साथ हिण्डुगान से लौटते हुए रास्ते में भटककर जहाँ पहुँचे थे, वह कोई अनजानी जगह नहीं थी। मैं सोचने लगा कि वहाँ जो विशाल शिलाखण्ड पड़ा था उस स्थान पर ज़रूर कुछ न कुछ विशेषता रही होगी। अन्यथा आजीमाँ के वहाँ पहुँचने पर उनमें वह स्मृति कैसे जाग उठती ? कुछ भी हो, दोपहर को भोजन के बाद धूप जब कुछ कम हो जाये तो एक बार वहाँ जाकर मालगुज़ारी विभाग के अधिकारियों की तरह उस स्थान की जानकारी प्राप्त करने के लिए मेरा मन ललक उठा !

भोजन करके नित्य की तरह थोड़ी देर आराम किया। उठा तो देखा कि ग्रीष्म की यह तेज़ धूप अभी नरम नहीं हुई है। कुछ और न करना सूझा उस समय तो हँसिया लेकर पिछवाड़े के बगीचे में चला गया और बाड़ को सम्हालने में लगा रहा। काम करने से पसीना आ गया। कुएँ पर जाकर नहाया तो नहीं, मगर ठण्डे पानी से मुँह-हाथ खूब धोया। इस बीच धूप हलकी पड़ चली थी। बच्चे भी संयोग से कहीं इधर-उधर खेलने चले गये थे। बस मौक़ा पाकर मैं चल निकला।

पीपल-चबूतरा के पास से ही हिण्डुगान को पगडण्डी जाती है। उधर से ही मैं आगे बढ़ा। जब दोराहे वाला मोड़ आया तो मैं उस स्थान की दिशा में मुड़कर चलने लगा। वहीं से मेरी नज़र और कान तेज़ हो गये। लगभग सौ पग-डग चलने पर वह विशाल शिलाखण्ड दीख पड़ा। मुझे भी शायद कोई मन्त्रपाठ सुनाई दे—यह सोचकर कान खोले खड़ा रहा। दूर एक झाड़ी से आवाज़ आयी किसी भारद्वाज पक्षी की।

"ओ भारद्वाज जी !" मेरे मुँह से हठात् निकला और मुझे जैसे वैदिक युग का स्मरण हो आया। पहले मुझे जब कुछ नहीं सूझा तो मैं उस स्थान का एक

"क्यों नहीं, यहीं नजदीक ब्राह्मणों का एक घर है—पीपल-चबूतरे वाले अडिग जी का। हमें उनके घर तक जाने की आवश्यकता नहीं है। वहीं उस चबूतरे पर सो जायेंगे।"

वह स्त्री इसी उधेड़-बुन में थी कि इस बीच मैं स्वयं उनके पास जा पहुँचा। उसका चेहरा देखकर मुझे लगा कि जैसे मैंने उसे कभी कहीं देखा हो। इतने में उस लड़के ने मुझे सम्बोधित कर पूछा, "पीपल-चबूतरे वाले अडिग जी का घर किधर है?"

"वहाँ मूकम्मा नाम की है न! उनका घर कहाँ किस ओर को है, मालिक?" उस स्त्री ने भी प्रश्न किया।

"वह तो हमारा ही घर है। तुम लोग मेरे साथ चलो। उनसे आपको क्या काम है?" थोड़ा रुककर बोला, "लगता है, तुम लोग बेत-लकड़ी काटने गये थे। अच्छा हमारे घर चलकर थोड़ी भूख-प्यास शान्त कर लेना।"

वे लोग मेरे पीछे-पीछे चलने लगे। यह तो ठीक है कि मैंने उनसे थोड़ी बात की थी। लेकिन मात्र पानी पिलाकर उनसे सो जाने की कह दें—यह क्या उचित रहेगा? घर जाकर उन्हें खाना खिलाने के बारे में सोचते हुए मैं आगे बढ़ गया। इधर उन सबको हमारे घर के सामने का पीपल-चबूतरा देख इतनी खुशी हुई मानो उन्हें कोई धर्मशाला मिल गयी हो। वे वहीं पर अपना बोझ उतार कर बैठ गये। वह स्त्री, जो शायद उन दोनों बच्चों की माँ होगी, कहने लगी, "बेटे, मालिक के साथ जाकर उनके यहाँ से एक लोटा पानी माँग ला।"

"तुम लोग हमारे घर तक क्यों नहीं आते? क्या तुम तीनों को थोड़ी-सी खिलाने-पिलाने की भी शक्ति नहीं है हममें?" मैंने कहा।

"दसों को अन्न देनेवाला है आपका घर—यह मुझे पता है। फिर भी मालिक, हमें कुछ नहीं चाहिये। थोड़ा-सा पानी जरूर दे दीजिए, बस।"

मैंने पूछा, "क्या तुम मूकज्जी को जानती हो?"

"मालिक, मैं उन्हें अच्छी तरह जानती हूँ। साथ ही, इस अभागिन नागी को, अगर मूकज्जी हैं तो, वह भी जानती है।"

"नागी" मेरे कण्ठ से शब्द निकल जानेवाले थे कि हठात् ही उन्हें रोककर मैंने कहा, "सकोच की कोई बात नहीं। घर का आँगन काफी साफ-सुथरा है। मुँह-हाथ धोकर, थोड़ा-सा गुड़ खाकर पानी पी लेना। और फिर थोड़ी भूख शान्त कर लेट जाना। इससे आजीमाँ को भी हर्ष होगा। उसके बाद जैसा ठीक लगे; कर लेना।" यह कह मैं घर चला आया।

पुराने युग की संवेदना से अभिभूत होकर बड़बड़ा उठी होंगी। मैं तो आजोमाँ हूँ नहीं। मेरे लिए तो उस चरइ और स्तम्भ का दिखना भी बड़ा रोमांचक और हर्षकर था।

उधर के जंगल की ओर एक पीपल का पेड़ दिखाई पड़ा तो मैं कुछ चकित हुआ। अवश्य उन ऋषिगणों ने समिधा के लिए इसको रोपा होगा। परन्तु यह तो सौ वर्ष से भी अधिक पुराना नहीं होगा। इसका उपनयन संस्कार करानेवालों का तो कहीं चिह्न तक नहीं मिला। यों तो हमारे घर के सामने भी पीपल है। वह चार-पाँच सौ वर्ष पुराना तो होगा ही। तब तो अगर कोई ऋष्याश्रम कहीं रहा होगा तो वह हमारे घर के सामने ही रहा होगा—अचानक यह तर्क मेरे मन में जाग उठा।

हो सका तो किसी दिन केवड़े की उन झाड़ियों को साफ़ करके देखूँगा। कौन जाने उनकी ही आड़ में या आस-पास वहीं कहीं कुआँ मिल ही जाये! मेरी इस खोज और सोचा-विचारी में काफ़ी समय बीत चुका था। धूप सिमट कर जा चुकी थी। और सारे आकाश को लाल करता हुआ सूरज डूब रहा था। अकस्मात् किसी की आवाज सुनाई पड़ी। वह स्थान हिण्डुगान से हमारे गाँव आने-जाने के रास्ते पर था। उधर से कोई आता-जाता यदि पूछ उठे कि मैं यहाँ क्या कर रहा हूँ तो उत्तर देना मुश्किल हो जाएगा।

इतने में, उसी रास्ते से, दो लड़के कुछ बोझ लिये हुए इसी ओर आते दिखे। उनके पीछे-पीछे एक स्त्री आ रही थी। वह भी अपने सिर पर एक बोझा रखे थी। तीनों देखने में ही थके-माँदे जान पड़ते थे। वे सीधे उस स्तम्भ के सहारे बोझ उतारकर खड़े हो गये। फिर अपने शरीर से बहते हुए पसीने को पोंछ वहीं बैठ गये और आराम से बातें करने लगे।

दोनों लड़कों में से एक ने कहा, "माँ, अब तो अँधेरा हो आया, अभी और कितनी दूर चलना होगा? लगता है हम मूडूरु के नजदीक आ गये हैं। रात में यहीं कहीं रुक जायेंगे। कहीं थोड़ा-सा पानी मिल जाये तो पीकर सो जायेंगे और फिर तड़के चल पड़ेंगे।"

"यहाँ क्यों रुकना है, बेटे! हमें मूडूरु में भी रुकने की ज़रूरत नहीं है और न किसी के घर जाने की।" उस स्त्री ने जवाब दिया।

"मेरे पैर तो छिल गये हैं। नहीं तो रुकने को मैं क्यों कहता!"

"ठीक है! अँधेरे में चलकर के पत्थरों की ठोकरें खाने से क्या लाभ? क्या जरूरत! चलो, आज रात हमारे भाग्य में मूडूरु का पानी बदा है सो उसे कौन टाल सकता है?"

"वहाँ हम किसके यहाँ जायेंगे? तुम्हारी पुरानी जान-पहचान का क्या कोई है वहाँ?"

लगा कि आजीमाँ नागी को भूली नहीं थी। उन्होंने नागी को देखकर हँसते हुए कहा, "नागी, मान गयी तुझे ! तूने अपनी वह ज़िद पूरी कर ही ली। आज तेरे भाग्य में हमारे घर आने का योग था। साथ ही हमारे कुएँ का पानी भी तुझे बदा था।"

आजीमाँ की इस बात से नागी को रोना आया या हँसी आयी, मैं समझ नहीं सका। वह तो कुछ देर के लिए मूक होकर रह गयी। बाद में मेरी ओर देखकर बोली, "मालिक, हमें खाना-पीना कुछ नहीं चाहिये। हम जाते हैं, जाकर वहाँ चबूतरे पर सो जाते हैं।"

यह सुनकर आजीमाँ बोल उठी, "नागी, बस अब ज्यादा मत बनो ; मूकज्जी के घर दो कौर खा लेने से तेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा।"

"आप तो हमारी मालिक है, भगवान् है। जब आप कहतीं है तो—"

"हाँ, यह हुई समझदारी की बात। पता नहीं क्यों तेरे छुटपन में ही मेरे मन में तेरी याद बसी है। आज तू आयी, बहुत ही अच्छा हुआ। अब मैं तुझे कुछ नहीं कहूँगी। आँगन में बैठकर खा-पी ले तो उसके बाद तुझसे कुछ बात करनी है।" आजीमाँ ने कहा।

यह सुनकर मैं तो आश्चर्य में पड़ गया। वे दोनों कोई बीसेक साल से एक-दूसरे से नहीं मिली थी। फिर उनमें जात-बिरादरी का भी तो कोई सम्बन्ध नहीं था। लेकिन फिर भी आजीमाँ नागी से ऐसी कौन-सी बात करना चाहेगी, यह मेरी समझ में नहीं आया। रसोई में कुछ देर थी इसलिए आजीमाँ ने समय काटने के लिए बात बढ़ाई

"ये दोनों तेरे बेटे है न ?"

"हाँ, मालकिन।"

"अच्छे हट्टे-कट्टे दीख रहे है। लगता है, तुझसे बहुत प्यार है इन्हें !"

"इन्हीं के लिए तो जी रही हूँ, मालकिन !"

"माँ का तो कर्तव्य यही है। लेकिन बच्चों को भी माँ का ध्यान रखना चाहिये। आजकल कितने ऐसे हैं जो अपनी माँ को चाहते है, प्यार करते है ?"

"ये दोनों तो मुझे बेहद प्यार करते है, मालकिन। मुझे ये अपने प्राण मानते हैं। मैं तो बस इतना ही चाहती हूँ कि ये दोनों बड़े हो जायें और घर-गिरस्ती बसा लें। उसके बाद मेरी कोई भी दुर्गति हो, मुझे चिन्ता नहीं।"

इस पर आजीमाँ हँसते हुए बोली, "तेरे बेटे जब तेरे साथ है तो तुझे क्या चिन्ता ?"

"अभी तो मुझे इन्हीं की चिन्ता है। न जाने इनके भाग्य में क्या-क्या लिखा है ?" कहते-कहते नागी का स्वर भारी हो आया।

"बस रहने दे, नागी। मुझे सुनाने की कोई जरूरत नहीं। मुझे सब पता है,

दस

नागी और उसके बच्चे, शायद थकावट के कारण, घर तक आने के लिए मान गये। घर आकर उन्होंने हाथ-मुँह धोया। इतने में अन्दर जाकर मैं उनके लिए गुड़ और पानी ले आया। आते समय सीता से, 'बाहर से कोई तीन जन आये हैं, किसी दूसरे गाँव के हैं। उनके लिए थोड़ा चावल या काँजी पका दो और साग-सब्जी न बनाना चाहती हो तो तेल-अचार से चल जायेगा,' कह आया था। नागी ने जलपान करके कहा, "बस मालिक, पानी पी लिया अब जाकर सो जाते हैं।"

"अरे, यह गुड़ और पानी तो ऐसे ही पड़ा है। लिया नहीं ?" मैंने आश्चर्य से कहा।

"माँ," नागी का बेटा बोला, "थोड़ा गुड़ खाकर पानी पी लेते हैं; नहीं तो मालिक को अच्छा नहीं लगेगा।" और यह कहकर उसने गुड़ का एक टुकड़ा उठा लिया।

मैंने कहा, "घर आये लोगों को खाली पेट नहीं जाना चाहिये। थोड़ी देर लगेगी, कुछ खाकर ही जाओ।"

"नहीं मालिक ! हमारी वजह से मालकिन को तकलीफ़ मत दीजिए।" इतना कहकर, नागी जाने को उतावली हो गयी।

बरामदे में लालटेन जल रही थी। उसके प्रकाश में नागी का चेहरा साफ़ दीख पड़ता था। मैंने उसे कोई पन्द्रह साल पहले देखा था। मेरे आगे वह चेहरा कौंध गया। तब तो वह काफ़ी सुन्दर लगती थी, अब कुछ लटक चली थी। उम्र भी तो हो गयी न ! फिर भी उसका शरीर आज भी हट्टा-कट्टा था। और उसके ये दोनों लड़के भी बलिष्ठ दीख रहे थे।

इस बीच आजीमाँ अपने कमरे से बाहर आकर बरामदे में खड़ी-खड़ी सभी कुछ देख रही थीं। उन्होंने शायद मेरी बात भी सुन ली होगी। एकदम से उन्होंने पूछा, "कौन नागी ? अपने गाँव की नागी ?"

सुनकर नागी का चेहरा उतर गया। वह खड़ी-खड़ी आजीमाँ को एक टक बांधे देखने लगी। आजीमाँ के प्रश्न का उसने डरते-डरते उत्तर दिया, "बड़ी मालकिन, मेरा तो इस गाँव से नाता टूटे कितने ही दिन हो गए। इस गाँव के दाने-पानी से तो कब की वंचित हो गयी हूँ।"

आजी माँ तो नागी को पहले से, बहुत पहले से ही जानती थीं। उसके बारे में लोगों के मुँह से भी बहुत कुछ सुन चुकी थीं। पर वैसा प्रत्यक्ष शायद कभी नहीं देखा होगा। एक बार जब रामण्णा अपना पनडब्बा भूलकर चला गया था तब आजीमाँ ने नागी के बारे में जो कुछ कहा था उस घटना के याद आ जाने से मुझे

लगा कि आजीमाँ नागी को भूली नहीं थी। उन्होंने नागी को देखकर हँसते हुए कहा, "नागी, मान गयी तुझे ! तूने अपनी वह ज़िद पूरी कर ही ली। आज तेरे भाग्य में हमारे घर आने का योग था। साथ ही हमारे कुएँ का पानी भी तुझे बदा था।"

आजीमाँ की इस बात से नागी को रोना आया या हँसी आयी, मैं समझ नहीं सका। वह तो कुछ देर के लिए मूक होकर रह गयी। बाद में मेरी ओर देखकर बोली, "मालिक, हमें खाना-पीना कुछ नहीं चाहिये। हम जाते हैं, जाकर वहाँ चबूतरे पर सो जाते हैं।"

यह सुनकर आजीमाँ बोल उठी, "नागी, बस अब ज्यादा मत बनो ; मूकज्जी के घर दो कौर खा लेने से तेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा।"

"आप तो हमारी मालिक है, भगवान् हैं। जब आप कहती है तो—"

"हाँ, यह हुई समझदारी की बात। पता नहीं क्यों तेरे छुटपन से ही मेरे मन में तेरी याद बसी है। आज तू आयी, बहुत ही अच्छा हुआ। अब मैं तुझे कुछ नहीं कहूँगी। आँगन में बैठकर खा-पी ले तो उसके बाद तुझसे कुछ बात करनी है।" आजीमाँ ने कहा।

यह सुनकर मैं तो आश्चर्य में पड़ गया। वे दोनों कोई बीसेक साल से एक-दूसरे से नहीं मिली थीं। फिर उनमें जात-बिरादरी का भी तो कोई सम्बन्ध नहीं था। लेकिन फिर भी आजीमाँ नागी से ऐसी कौन-सी बात करना चाहेंगी, यह मेरी समझ में नहीं आया। रसोई में कुछ देर थी इसलिए आजीमाँ ने समय काटने के लिए बात बढ़ाई.

"ये दोनों तेरे बेटे है न ?"

"हाँ, मालकिन।"

"अच्छे हट्टे-कट्टे दीख रहे है। लगता है, तुझसे बहुत प्यार है इन्हे।"

"इन्हीं के लिए तो जी रही हूँ, मालकिन।"

"माँ का तो कर्तव्य वही है। लेकिन बच्चों को भी माँ का ध्यान रखना चाहिये। आजकल कितने ऐसे हैं जो अपनी माँ को चाहते है, प्यार करते है ?"

"ये दोनों तो मुझे बेहद प्यार करते है, मालकिन। मुझे ये अपने प्राण मानते हैं। मैं तो बस इतना ही चाहती हूँ कि ये दोनो बड़े हो जायें और घर-गिरस्ती बसा लें। उसके बाद मेरी कोई भी दुर्गति हो, मुझे चिन्ता नहीं।"

इस पर आजीमाँ हँसते हुए बोली, "तेरे बेटे जब तेरे साथ हैं तो तुझे क्या चिन्ता ?"

"अभी तो मुझे इन्हीं की चिन्ता है। न जाने इनके भाग्य में क्या-क्या लिखा है ?" कहते-कहते नागी का स्वर भारी हो आया।

"बस रहने दे, नागी। मुझे सुनाने की कोई जरूरत नहीं। मुझे सब पता है,

मैं सब जानती हूँ। तू पहले खा-पी ले फिर मैं तुझे एक बात बताऊँगी। सुनकर तुझे चैन मिले ऐसी बात बताऊँगी।" कहकर, आजीमाँ अपने कमरे में चली गयीं।

अब तो मेरा कुतूहल और भी जाग उठा। आजीमाँ स्वयं किसी से कभी बात नहीं किया करतीं। नागी से उन्होंने ही चर्चा छेड़ी—यही एक बड़े आश्चर्य की बात थी। दूसरी बात यह कि जब भी आजीमाँ किसी से कुछ कहती हैं तो वह मन की सारी बातें सही-सही कह जाती हैं जो अक्सर चुभन पैदा कर देती हैं। पर तिप्पज्जी से उन्होंने आत्मीयता से बात की थी। सौ में एक ही तो ऐसा होता है जिसके साथ वे इतना आत्मीय भाव दिखाती हैं। फिर ये नागी तो कहीं से आयी एक निराश्रित नारी थी। वह पहले दसेक दिन हमारे गाँव में रही थी, यह ठीक है, पर उन दिनों की उसकी चाल-चलन याद करें तो कोई आश्चर्य नहीं कि लोग उसके मुँह पर थूके। और एक यह आजीमाँ हैं जो उसके साथ ऐसी बात कर रही थीं जैसे घर पर कोई अपनी बेटी या पोती आयी हो। मैं तो देखकर चकित रह गया।

वे उससे क्या कहती हैं, यह सुनने को मैं लालायित था। दूसरों की बात सुनना बुरा है उस समय इतना भी न सोचा। यूँ तो नागी को मैं ही घर बुला लाया था। वह भी अपने में एक बड़ा काम था। आजीमाँ की एक इच्छा भी अनायास मैंने पूरी की थी। निश्चित ही मेरे लिए यह एक गर्व की बात थी।

सीता ने रसोई तैयार हो जाने पर खाने को बुलाया। बच्चों के साथ बैठकर मैंने भोजन किया। आजीमाँ भी उपाहार करके अपने कमरे में चली गयीं। अपनी पत्नी के कहे अनुसार मैंने उन लोगों के लिए खाने की व्यवस्था बाहर के बरामदे में की। पत्नी ने उनके लिए कांजी बनाई होगी—यह सोचकर मैंने केले के पत्तों के स्थान पर सुपाड़ी के गोल पत्ते उनके आगे रख दिये। लेकिन जब सीता स्वयं वहाँ आकर परोसने लगी तब मैंने देखा कि उन्हें भी वही सब परोसा गया जो मेरे भोजन में था। अर्थात् चावल, सार और सब्जी, साथ में लस्सी भी। सीता ने उन्हें आग्रह कर-करके खिलाया। नागी से पूछा, "किस गाँव की हो? लगता है बहुत चलकर आयी हो! जंगल में बेंत काटना तो काँटों के बाड़ी में हाथ डालना है।"

नागी का बड़ा बेटा बोला, "मालकिन, कुछ दिनों बाद शायद फिर इधर आऊँगा। बारिश के बाद खेतों में काम शुरू हो गया तब तो नहीं आ पाऊँगा। मगर जब आऊँगा तो आपके लिए बेंत की एक अच्छी पेटी बुन लाऊँगा। बेंत की पेटी सौ बरस तक काम देती है। और बेंत के काम में मेरी माँ का तो बस जवाब नहीं।"

'क्या सीता ने पेटी की आशा से इन्हें खिलाया?' मेरे मन में सहज ही यह प्रश्न

उठा। पर इसी बीच सीता, "नहीं-नहीं, मेरी ऐसी कोई अपेक्षा नहीं है," नागी से कहती हुई भीतर चली गयी और मेरा भी सन्देह जाता रहा।

वे सब खा चुके तो नागी जूठन के पत्ते फेंक आयी और गोबर से उस जगह को लीप भी दिया। हाथ धोकर आ गयी तो रूढ़ि के अनुसार उनको भी पान-सुपारी और चूना-तम्बाकू दिया गया। बाद में बगल के कमरे का बरामदा दिखाकर कहा, "वहाँ चटाई रखी है, बिछाकर सो जाओ।"

इतने में किट्टू को राग अलापते सुना, "पापा, आओ न! नींद आ रही है।"

भीतर बरामदे में ही बच्चों को चटाई पर लिटाकर मैंने भी सोने का अभिनय किया। पर छोटू यों कैसे सो जाता? कहने लगा, "कोई कहानी सुनाइए न!"

इस प्रहगति से छुटकारा पाने का जब कोई उपाय न दिखा तो मैंने कहानी शुरू की। "एक गाँव में एक बहुत बड़ा राजा था।" इसी बीच, "नहीं, हमें राजा की कहानी नहीं सुननी है। हमें तो हाथी वाली कोई अच्छी कहानी सुनाओ," उसका यह रुख देख मैंने तुरन्त कहानी मोड़ दी, "हाँ-हाँ उस राजा के पास एक हाथी भी था।" इस बार किट्टू ने टोका, "किस राजा के पास?"

कहानी पूरी होने से पहले ही छोटा सो गया था और बड़े को भी झपकी आने लगी थी। मैं भी अभ्यागतों के विषय को भूल तकिया का सहारा लेकर ऊँघने लगा।

एकाएक सीता का बोल सुनकर मेरी ऊँघ टूटी। वह जैसे अपने से ही कह रही थी, "कितनी देर से बातें हुए जा रही हैं। न जाने वह औरत कहाँ की है, कौन है? उससे इनकी बातें पूरी ही नहीं हो पा रही हैं।"

झपकी तोड़ते हुए मैंने पूछा, "औ···क्या?"

"देखिये न", सीता ने बताया, "इस औरत के साथ पता नहीं, वे इतनी देर तक क्या बात कर रही हैं?"

"कौन? कौन किससे बात कर रही हैं?"

"आजीमाँ, और कौन?"

मैं एकदम से सँभला। आजीमाँ ने जो नागी से कहा था, 'तुमसे कुछ बात करनी है, सुनेगी तो तुझे खुशी होगी,' वह भी मुझे सहसा स्मरण हो आया।

बच्चों को कहानी सुनाते-सुनाते मुझे भी झपकी आ गई थी। पर अब पछतावा हुआ और मैं झट से उठकर बाहर आया। चाँदनी फैली हुई थी। प्रकाश हमारे घर के बरामदे में भी पड़ रहा था। दोनों बच्चे सो गये थे। मैं अपना कुतूहल लिये आजीमाँ के कमरे के पास पहुँचा। दरवाजा खुला हुआ था। लगा कि शायद वे भीतर नहीं हैं इसलिए फिर बाहर चला आया। हवा चल रही थी, और उसी के साथ-साथ किसी के बातें करने की फुसफुसाहट भी सुनाई दे रही थी। "ओ, तो आजीमाँ नागी के साथ कहीं और बैठकर बातें कर रही हैं।"

मैं सब जानती हूँ। तू पहले खा-पी ले फिर मैं तुझे एक बात बताऊँगी। सुनकर तुझे चैन मिले ऐसी बात बताऊँगी।" कहकर, आजीमाँ अपने कमरे में चली गयीं।

अब तो मेरा कुतूहल और भी जाग उठा। आजीमाँ स्वयं किसी से कभी बात नहीं किया करतीं। नागी से उन्होंने ही चर्चा छेड़ी—यही एक बड़े आश्चर्य की बात थी। दूसरी बात यह कि जब भी आजीमाँ किसी से कुछ कहती हैं तो वह मन की सारी बातें सही-सही कह जाती हैं जो अक्सर चुभन पैदा कर देती हैं। पर तिप्पज्जी से उन्होंने आत्मीयता से बात की थी। सौ में एक ही तो ऐसा होता है जिसके साथ वे इतना आत्मीय भाव दिखाती हैं। फिर ये नागी तो कहीं से आयी एक निराश्रित नारी थी। वह पहले दसेक दिन हमारे गांव में रही थी, यह ठीक है, पर उन दिनों की उसकी चाल-चलन याद करें तो कोई आश्चर्य नहीं कि लोग उसके मुंह पर थूकें। और एक यह आजीमाँ हैं जो उसके साथ ऐसी बात कर रही थीं जैसे घर पर कोई अपनी बेटी या पोती आयी हो। मैं तो देखकर चकित रह गया।

वे उससे क्या कहती हैं, यह सुनने को मैं लालायित था। दूसरों की बात सुनना बुरा है उस समय इतना भी न सोचा। यूँ तो नागी को मैं ही घर बुला लाया था। वह भी अपने में एक बड़ा काम था। आजीमाँ की एक इच्छा भी अनायास मैंने पूरी की थी। निश्चित ही मेरे लिए यह एक गर्व की बात थी।

सीता ने रसोई तैयार हो जाने पर खाने को बुलाया। बच्चों के साथ बैठकर मैंने भोजन किया। आजीमाँ भी उपाहार करके अपने कमरे में चली गयीं। अपनी पत्नी के कहे अनुसार मैंने उन लोगों के लिए खाने की व्यवस्था बाहर के बरामदे में की। पत्नी ने उनके लिए कांजी बनाई होगी—यह सोचकर मैंने केले के पत्तों के स्थान पर सुपाड़ी के गोल पत्ते उनके आगे रख दिये। लेकिन जब सीता स्वयं वहाँ आकर परोसने लगी तब मैंने देखा कि उन्हें भी वही सब परोसा गया जो मेरे भोजन में था। अर्थात् चावल, सार और सब्जी, साथ में लस्सी भी। सीता ने उन्हें आग्रह कर-करके खिलाया। नागी से पूछा, "किस गाँव की हो ? लगता है बहुत चलकर आयी हो ! जंगल में बेंत काटना तो कांटों के बाड़ी में हाथ डालना है।"

नागी का बड़ा बेटा बोला, "मालकिन, कुछ दिनों बाद शायद फिर इधर आऊँगा। बारिश के बाद खेतों में काम शुरू हो गया तब तो नहीं आ पाऊँगा। मगर जब आऊँगा तो आपके लिए बेंत की एक अच्छी पेटी बुन लाऊँगा। बेंत की पेटी सौ बरस तक काम देती है। और बेंत के काम में मेरी माँ का तो बस जवाब नहीं।"

'क्या सीता ने पेटी की आशा से इन्हें खिलाया ?' मेरे मन में सहज ही यह प्रश्न

उठा। पर इसी बीच सीता, "नही-नही, मेरी ऐसी कोई अपेक्षा नही है," नागी से कहती हुई भीतर चली गयी और मेरा भी सन्देह जाता रहा।

वे सब खा चुके तो नागी जूठन के पत्ते फेंक आयी और गोबर से उस जगह को लीप भी दिया। हाथ धोकर आ गयी तो रूढ़ि के अनुसार उनको भी पान-सुपारी और चूना-तम्बाकू दिया गया। बाद में बगल के कमरे का बरामदा दिखाकर कहा, 'वहाँ चटाई रखी है, बिछाकर सो जाओ।"

इतने मे किट्टू को राग अलापते सुना, "पापा, आओ न ! नीद आ रही है।"

भीतर बरामदे में ही बच्चों को चटाई पर लिटाकर मैंने भी सोने का अभिनय किया। पर छोटू यों कैसे सो जाता ? कहने लगा, "कोई कहानी सुनाइए न !"

इस ग्रहगति से छुटकारा पाने का जब कोई उपाय न दिखा तो मैंने कहानी शुरू की। "एक गाँव में एक बहुत बड़ा राजा था।" इसी बीच, "नहीं, हमे राजा की कहानी नही सुननी है। हमे तो हाथी वाली कोई अच्छी कहानी सुनाओ," उसका यह रुख देख मैंने तुरन्त कहानी मोड दी, "हाँ-हाँ उस राजा के पास एक हाथी भी था।" इस बार किट्टू ने टोका, "किस राजा के पास ?"

कहानी पूरी होने से पहले ही छोटा सो गया था और बड़े को भी झपकी आने लगी थी। मैं भी अभ्यागतों के विषय को भूल तकिया का सहारा लेकर ऊँघने लगा।

एकाएक सीता का बोल सुनकर मेरी ऊँघ टूटी। वह जैसे अपने से ही कह रही थी, "कितनी देर से बातें हुए जा रही है। न जाने वह औरत कहाँ की है, कौन है ? उससे इनकी बातें पूरी ही नही हो पा रही है।"

झपकी तोड़ते हुए मैंने पूछा, "आँ···क्या ?"

"देखिये न", सीता ने बताया, "इस औरत के साथ पता नही, वे इतनी देर तक क्या बात कर रही हैं ?"

"कौन ? कौन किससे बात कर रही हैं ?"

"आजीमाँ, और कौन ?"

मैं एकदम से सँभला। आजीमाँ ने जो नागी से कहा था, 'तुमसे कुछ बात करनी है, सुनेगी तो तुझे खुशी होगी,' वह भी मुझे सहसा स्मरण हो आया।

बच्चों को कहानी सुनाते-सुनाते मुझे भी झपकी आ गई थी। पर अब पछतावा हुआ और मैं झट से उठकर बाहर आया। चाँदनी फैली हुई थी। प्रकाश हमारे घर के बरामदे मे भी पड़ रहा था। दोनों बच्चे सो गये थे। मैं अपना कुतूहल लिये आजीमाँ के कमरे के पास पहुँचा। दरवाजा खुला हुआ था। लगा कि शायद वे भीतर नहीं हैं इसलिए फिर बाहर चला आया। हवा चल रही थी, और उसी के साथ-साथ किसी के बातें करने की फुसफुसाहट भी सुनाई दे रही थी। "ओ, तो आजीमाँ नागी के साथ कही और बैठकर बातें कर रही हैं।"

मैंने सब तरफ़ नज़र दौड़ाई। कान बराबर आवाज़ की ओर लगे थे। मेरे पाँव उसी ओर चल पड़े। आवाज़ पीपल-चबूतरे से आ रही थी। दबे पाँव जब मैं वहाँ पहुँचा तो, "तुम यहाँ क्यों आये? जाओ, जाकर सो जाओ। इस तरह दूसरों की बातें सुनना बुरी बात है!" आजीमाँ ने मुझे डाँट दिया।

मुझे लगा जैसे किसी ने थप्पड़ मार दिया हो। मेरी ही तो मूर्खता थी। नागी से वे कुछ भी कह रही थीं, उससे मेरा क्या सम्बन्ध! नागी सुख-दुख सुना रही होगी और आजीमाँ सुन रही होंगी। वह दुखिया जो है। एक समय था जब बहुत बदनाम थी तो उससे क्या? उसकी कहानी गाँव की पुराण-कथा तो नहीं बन सकती।

यह सोच मैं कुछ लज्जित-सा हो गया। आजीमाँ के पास जाकर, 'मेरी ग़लती हुई, मुझे क्षमा करो' कहने तक का साहस नहीं जुटा सका और उसी हालत में बच्चों की तरह मुँह लटकाये अन्दर जाकर लेट गया। पर मुझे नींद भला कैसे आती? मूर्खता जो की थी। अपने को कोसते हुए मैं लेटा रहा। कुछ पड़े रहकर शायद सो ही गया था। आँख खुली, तो सवेरा हो चुका था।

बच्चे अभी सोये हुए थे। सीता कब की उठकर घर के काम में लग गयी थी। सामने बरामदे में सोये हुए वे लोग उठकर शायद चले भी गये होंगे। बाहर आकर देखा तो सच में वहाँ कोई नहीं था। बाहर दीवार के सहारे रखा उनका बेंत का गट्ठर भी अब वहाँ नहीं था। ज़रूर वे लोग तड़के ही चले गये।

मैंने नागी और उसके बच्चों का विचार मन से निकाल दिया था पर आजीमाँ से जो डाँट पड़ी थी उसे नहीं भुला सका। उसके साथ आजीमाँ इतनी लम्बी चर्चा क्यों करती रहीं, मैं अब तक समझ नहीं पाया था। अपने मन के इस क्लेश को भुलाने के लिए मैं नहा-धोकर पूजा के लिए बैठ गया। निश्चित ही उसमें काफ़ी समय बीता।

आजीमाँ भी नित्य विधि के अनुसार नहाकर आ गयी थीं। पूजापाठ से निबटने पर मैंने देखा तो वे बाहर आँगन में चहल-कदमी कर रही थीं। मैंने उनसे कुछ नहीं कहा। वे भी कुछ नहीं बोलीं। मैं अपने मन का क्लेश सीता से व्यक्त कर सकता था लेकिन यदि वह भी 'तुम्हारे साथ ऐसा ही होना चाहिये था' कह बैठे तो क्या होगा—इस आशंका से मन मारे हुए मैं चुप का चुप रह गया।

आजीमाँ को मैं सचमुच कितना मानता था। सबकी तरह नहीं थीं वे। सबसे भिन्न थीं, उनमें कोई न कोई एक अद्भुत शक्ति थी। भूत और भविष्यत् में झाँककर देखने की शक्ति भी थी उनमें। गाँव के अन्य लोगों की नजरों में वे भले ही एक बेकार और सिरफिरी अज्जी थीं, मगर मेरी दृष्टि में वे असामान्य ही लगती थीं। उनकी बातों में कितना सत्य है, कितना असत्य, यह तो मैं नहीं जान पाया था लेकिन वे जो भी कहती थीं उस पर भरोसा न करूँ और उनकी अटपटी बातों

को झूठ मानकर न सुनूँ—ऐसा मुझे कभी नहीं लगा। मुझे वे पागल जैसी कभी नजर नहीं आयीं, इसका एक कारण शायद मेरा उनके प्रति अपनत्व का अहं भी हो सकता है।

दोपहर का भोजन कर मैं विश्राम करने लगा। जब उठा तो सोचने लगा कि शाम क्या काम किया जाय। मेरे अन्तम् के किसी कोने में घाटी की उस तलहटी में फिर एक बार जाने की उत्कट इच्छा छिपी हुई थी। पहली बार जब वहाँ गया था, तब मेरे साथ जग्गा था और रास्ता दिखाने को अण्णुनायक भी था। अब उनको साथ लिये बिना मेरे वहाँ जाने में खतरा था। आखिर जंगल ही तो है। बाघ-आघ का भय तो छोड़ो, कहीं रास्ता ही भटक गया तो—घर पर कैसे पहुँचूँगा? सोचा, अण्णुनायक के घर जाकर पूछूँ 'वहाँ जाना है, साथ चलोगे क्या?' लेकिन फिर उस ओर जाने का मन नहीं हुआ। उस समय आकाश में कुछ-कुछ काले बादल मँडरा रहे थे। उन्हें देखकर लगा कि आज जोर की बारिश होगी। आज न भी हुई तो कल जरूर होगी। यही सोचता हुआ घर से बाहर आया। उफ्, उस दिन कितनी उमस थी! उधर आँगन की धरती भी अपनी गरमी फूँक रही थी, ऊपर देखा तो आकाश में बादल ही बादल। आज बारिश जरूर होगी—मैं अपने आपसे कह रहा था।

एकाएक मुझे लगा जैसे किसी ने मेरे मन की बात सुन ली हो। किसी की आवाज आयी, 'हाँ-हाँ आज जरूर बारिश होगी, अभी ही घड़ी भर के भीतर!'

यह कौन हो सकता है जिसने मेरे मन को ताड़ लिया। मैंने देखा कि सामने के कुएँ की जगत से हाथ-पैर धोकर मंजुनाथ इधर को चला आ रहा था।

"मंजुनाथ," मैंने पुकारा, "बारिश होगी—यह तुमने कहा? मुझे भी ऐसा ही लगता है कि आज बारिश होगी।"

"आज, आज क्यों", उसने उत्तर में कहा, "अभी होगी! देखो न, थोड़ी ही देर पहले कैसी कड़ी धूप थी और अब कितनी उमस हो रही है। किसी तरह दो-एक दिन और बीत जाते तो मैं अपना यहाँ का काम पूरा कर लेता और फिर निश्चिन्त हो गाँव में निकल पड़ता। भगवती के उत्सव के लिए जो [illegible] था उसे भी तो उतारना है। जिस-जिसका हिसाब पड़ा है वह सब भी देखना है। सोचा था बारिश आने से पहले ही मैसूर चला जाऊँगा, पर [illegible] रह गया।"

"कुछ भी हो मंजुनाथ, तुम्हारा साहस, तुम्हारे [illegible] भगवती की पूजा धूम-धाम से करवायी। [illegible] में भी नहीं देखी थी। न जाने कहाँ-कहाँ से लोग [illegible] सारे लोगों को तुम निमंत्रण कैसे दे पाये [illegible] किया।

"आप उत्सव में आये लोगों के बारे में पूछ रहे हैं? उन्हें मैं कौन होता हूँ बुलानेवाला। वह तो माँ जगदम्बा की ही लीला थी। मैंने तो सिर्फ़ आमन्त्रण देने के लिए अपने बेटे को भेजा था। वह कालतोड़, हेरेंजालु, बीजूरु और बैंदूर के ब्राह्मणों के घर-घर जाकर यहाँ उत्सव में आने के लिए कह आया था। भगवती की सेवा थी न! क्यों न आते लोग?"

"फिर भी, तुम्हारी उदारता भी कुछ कम नहीं थी।"

"उसमें भी मेरा क्या था? सब ही तो माँ की देन थी। उसने खुले हाथों मेरी झोली भर दी तो उत्सव में आये हर एक को एक चवन्नी दक्षिणा में भी मिल गयी। सबको दक्षिणा देने का माँ ने आदेश दिया: मैंने खुशी-खुशी उस आदेश का पालन किया। मुझे संतोष तो इस बात का हुआ कि उत्सव का हर काम आसानी से निबट गया। वंडसे वालों ने और शंकरनारायण के लोगों ने भोजन आदि की व्यवस्था अपने ऊपर लेकर बहुत परिश्रम किया, बहुत सहारा दिया मुझे, मैंने भी उनको मुँह-माँगा दिया।"

"इस ज़माने में तो मंजुनाथ, बस पैसा होना चाहिये। पैसा है तो सब कोई आगे-पीछे फिरते हैं।"

"हाँ, बात तो सच है, भाई! फिर भी लोगों की भगवान् पर आस्था है, श्रद्धा है, इसीलिए तो इतने लोग आये थे, मात्र दक्षिणा के लिए नहीं।"

"लेकिन क्या मात्र उसके लिए ही सब कोई इतनी-इतनी दूर से चलकर आये थे? पर छोड़ो इस बात को। मैसूर कब जा रहे हो?"

"आजकल में ही तो जाना है। बारिश दो दिन न आये तो अच्छा। छप्पर उतारने का काम पूरा हो जायेगा; साथ ही, जहाँ से जो बरतन-भाँडे माँग लाया हूँ उन्हें भी वापस भिजवा सकूँगा। और फिर बस इस साल की मेरी जवाबदारी भी खत्म हो जायेगी। लेकिन इस सबकी मुझे इतनी चिन्ता नहीं है। माँ भगवती के लिए एक सुन्दर-सा मन्दिर बनवाकर मुख-मण्डप और शिखर बनवा सका तो मेरे मन को बहुत शान्ति मिलेगी। जब तक यह सब नहीं करा पाता तब तक, सच, चैन नहीं मिलेगा।"

उसके इस संकल्प को मानो सम्पुष्ट करने के लिए सीता भी वहाँ चली आयी।

मंजुनाथ की माँ भगवती के प्रति अटूट श्रद्धा थी, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु उसे अपने पैसे का घमण्ड भी था। दक्षिणा की चवन्नी के लालच से भी तो लोग आ जमे होंगे। पैसे हैं तो क्या? उसे सार्थक रूप से खरचने की वह बुद्धि भी चाहिये।

इन सबके बावजूद मंजुनाथ को अपने उत्सव के बारे में चार लोगों के मुँह से शाबाशी पाने का लोभ भी था। शायद आजीमाँ से भी उसे ऐसी ही अपेक्षा थी। उसने पूछा, "आजीमाँ कहाँ हैं?"

"यहीं कहीं होंगी," सीता ने जवाब दिया।

"उनसे भी मिलने आया था," कहते हुए मंजुनाथ उठ खड़ा हुआ।

सीता ने आजीमाँ के कमरे में झाँककर देखा और कहा, "वे तो यहाँ नहीं हैं। पीपल-चबूतरे पर बैठी होंगी। इस समय प्रायः यहीं बैठती हैं।"

ठीक उसी समय बादल गरजने लगे, बिजली चमकने लगी और उसी के साथ तेज हवा भी चल पड़ी। देखते-देखते आँधी आ गयी। सुपारी के पेड़ झूमने लगे। बरामदे का घास-फूस का छप्पर जगह-जगह से खड़खड़ाने लगा। दरवाजे और खिड़कियाँ, खटपटाने लगे। उस तूफान में आजीमाँ को कहीं कष्ट न हो, यह सोच कर मैं उन्हें लाने दौड़ पड़ा। आँधी की धूल में मैं तो अट गया। ऊपर से पानी भी पड़ने लगा। आजीमाँ उन हवाओं के झकोरे से डगमगाती सामने से आती हुई दिखाई दीं तो मैंने लपककर उनको सहारा दिया।

पर आजीमाँ तो बस आजीमाँ। बोलीं, "छोड़ो बेटा, मैं बच्ची नहीं हूँ [illegible] यार जोर से पानी बरस ही जाये।"

सहसा पास के एक आम के पेड़ की एक बड़ी-सी डाल टूटकर गिरी। [illegible] बड़े पेड़-पौधे सब इस तरह झूम रहे थे मानो पी रखी हो।

एकदम से किट्टू भीतर से दौड़ा आया और [illegible] हुए उस गिरी हुई डाल की तरफ दौड़ा। मैं घबरा गया। और [illegible] "किट्टू, चल अन्दर; आम पड़े हैं, वहीं पड़े रहेंगे, कौन ले जायेगा। [illegible] तेरे सिर पर कोई डाल-टहनी आ गिरी तो वहीं दब जायेगा। [illegible]

लेकिन, तब तक वह उस पेड़ की तरफ बढ़ चुका था। [illegible] छोड़ उसको पकड़ने भागा। पेड़ के नीचे और इधर-उधर [illegible] किट्टू उमंग में उन अँबियों को उठा-उठाकर तोल, [illegible] अपनी दोनों हथेलियों में भर रहा था। अँबियाँ [illegible] हथेलियों को उसने पेट से लगा लिया था। मैं [illegible]

आजीमाँ भी तब तक वहाँ पहुँच चुकी थीं। [illegible] में बैठी थीं। हवा के साथ-साथ बादलों का [illegible] तेज हो गया था। उस कोलाहल में भी [illegible] कोशिश कर रहा था। मैं भी आकर [illegible] मेरे पास आ बैठा। लगभग एक [illegible] बैठे रहे जैसे किसी भूत-पिशाच [illegible] पहले नहीं देखा था। घर के [illegible] और केले के पेड़ों के टूट [illegible] बारिश है? क्या पूरे [illegible] आ टूटेगी?

मुकर्जी

थोड़ी देर बाद बारिश थमी। उसके साथ ही हवा भी रुक गयी। आकाश भी अब बादलों से मुक्त हो चुका था। साँझ की सुनहली धूप बारिश में भीगी धरती और नहाये खड़े पेड़-पौधों पर अपना रंग बिखेरती झिलमिला रही थी। उसे देखा तो लगा, हमारे गाँव पर यह कनकाभिषेक किसने किया? दो ही क्षणों में यह अद्भुत चमत्कार कहाँ से कैसे हो गया?

गरजते बादलों से डरकर मेरे दोनों बच्चे मेरे पीछे दुबके बैठे थे। दूसरी ओर मंजुनाथ बैठा था। उसके सामने दीवार की टेक लिये आजीमाँ बैठी थीं। एकाएक उनके मुँह से निकला, "इसके सामने हमारा अहंकार भला क्या चलेगा!" मुझे लगा, उन्होंने ये शब्द मंजुनाथ के मन के भाव को लक्ष्य करके कहे होंगे। मंजुनाथ चुपचाप बैठा रहा। शायद उस समय उसका ध्यान अपने घर और मन्दिर के छप्पर की ओर था। पानी रुकते ही वह झट से उठा और "मैं अब घर भागूँ! न जाने वहाँ क्या-क्या तहस-नहस हुआ होगा? छप्पर और बिछौने पता नहीं कहाँ के कहाँ उड़े होंगे? घर की छत बची रही हो तो बड़ी ग़नीमत!" कहते हुए वह चल पड़ा।

"अरे हाँ, मैं भी जाकर बाग़ की हालत देख आऊँ," कहते हुए मैं भी उठ पड़ा।

इसी बीच दोनों बच्चों ने माँ को पुकारकर शोर मचाना शुरू कर दिया, "माँ, चलो अँबियाँ बीन लायें।" सीता भी टोकरी ले उस ओर चल पड़ी।

मैंने सुपारी के बाग़ में जाकर देखा कि सात-आठ पेड़ टूटे पड़े थे। केले के भी बीस-तीस झाड़ ज़मीन को माप रहे थे। देखकर जी मुरझा गया। अगले दिन इन सबको काटकर सफ़ाई करनी होगी—यही चिन्ता लिये मैं घर को लौट पड़ा।

घर पहुँचा तो बच्चे ख़ुशी से नाच रहे थे। बरामदे में सीता बैठी थी और उसके आगे आम और अँबियों के चार-चार टोकरी के ढेर लगे हुए थे। मुझे देखते ही बोली, "पेड़ पर तो एक भी दाना नहीं बचा। इन ढेरों में भी पचासेक अच्छे निकल आयें तो बहुत समझिये।"

"ऐसा है तो फिर ये सारे उठा क्यों लायीं?"

"वहाँ छोड़कर भी क्या होता? कल को इन्हें काटकर, धूप में सुखा तो सकते हैं। उबालकर उनकी चटनी बना-सुखा ली जा सकती है।"

मुझे आम की चटनी बहुत ही पसन्द है, यह सोच मैंने बात नहीं बढ़ायी।

सूरज डूबने को अभी दो-ढाई घंटे थे। सोचा, गाँव में क्या हाल हुआ है, एक बार देख आऊँ। रास्ते में प्रथम दर्शन हुआ रामण्णा का। सिर पर घड़ा रखे चला आ रहा था। कपड़े भीग गये थे। अच्छी तरह अभिषेक हुआ लगता था। घड़ा तेल का था, लेकिन उसमें तेल था या पानी कहना मुश्किल था।

मैंने पूछा, "जब बारिश आयी तो तुम कहाँ थे? बड़ी भयंकर बारिश

थी न ?"

"भयंकर ? मैंने तो अपनी ज़िंदगी में ऐसी बारिश आज ही देखी। मेरा तो आधा तेल भी पानी में बह गया।"

"तेल पानी में बह गया !"

"हाँ, हवा जब उठी तो मैं उस ओर की झाड़ियों को पार करता हुआ आ रहा था। आँधी आने की आशंका हुई तो पाँव तेज़ किये। मगर न जाने कहाँ से किसी पेड़ की एक टहनी टूटकर ऊपर आ गिरी और उससे घड़ा उलट गया। मैं अपने भाग्य को कोसते हुए उसे उठा ही रहा था कि एकदम से मूसलाधार पानी गिरने लगा। उस रास्ते में न किसी का घर है न सिर छिपाने लायक कोई और ही जगह। किसी तरह भाग कर मन्दिर की आड़ में जा पहुँचा लेकिन वहाँ भी पानी से बच नहीं सका। मन्दिर की वह छत, बस नाम को ही छत थी। पानी चू-चूकर मेरे ऊपर गिर रहा था। मैं था कि ठण्ड के मारे सिकुड़कर वहीं का वहीं बैठा रहा। एकाएक तड़ककर बिजली गिरी। मैं तो काँप गया। मेरा विश्वास था कि बिजली मन्दिर पर नहीं गिरेगी। मगर उस आँधी-तूफान में मन्दिर के गोपुर का बाहरी मण्डप मेरे देखते-देखते ढह गया।"

"क्या कहा ? गिर गया ? अपने ही मन्दिर का मण्डप ? इस पानी-तूफान में सच, कुछ भी हो सकता था।"

"आपने देखा, मालिक ! वहाँ मण्डप के पास जो वसन्त-पुष्करिणी है वह भी लाल-लाल पानी से भर गयी है। इतना पानी कि भगवान के साथ एक होली का खेल और रचा सकते हैं। पानी रुकते ही यहाँ से चल पड़ा। लेकिन मेरा तेल; वह तो पानी में बह गया, वह तो अब क्या वापस मिल पायेगा।"

रामण्णा ज़रा ठहरकर आगे बोला, "झाड़ियों के रास्ते से चलकर मैं मैदान में उतर आया। वहाँ भी सारे में पानी भरा है। इस बार तो पहले पानी में ही चारों तरफ मेढक बोलने लगे हैं। आपने देखा होगा उस मैदान में पहुँचने से पहले पत्थर का एक मण्डप आता है न, मालिक ! वह भी उलट गया है। मैं रामण्णा अगर मन्दिर की आड़ में न जाकर उस मण्डप में रुका होता तो उससे दबकर चटनी बन गया होता। मेरी लाश से बदबू आने पर ही गाँववालों को पता चलता कि रामण्णा वहाँ दबकर मर गया।"

रामण्णा का यह मनोहारी वर्णन मैं मुग्ध होकर सुनता रहा। उसने जो कुछ बताया उसमें सच्चाई थी। कहाँ कितनी हानि हुई, यह देखने को मैं उस ओर चल पड़ा। सचमुच उस मैदान में सब ओर घुटने-घुटने पानी भरा था। आसपास की पहाड़ियों पर से और भी पानी बहकर वहाँ चला आ रहा था। रामण्णा ने सच ही कहा था। हर कहीं पानी ही पानी ! और मेढ़कों का ये अजीब वाद्य-घोष !

मैदान पार कर वहाँ से मैं पहले जन्ना के घर गया। सोचा, उसके आने की खबर भी मिलेगी और वहाँ की हालत भी देख आ सकूँगा। लेकिन पता नहीं क्यों, आँधी-पानी का जितना उत्पात हमारे यहाँ हुआ था उतना वहाँ नहीं हुआ था। जन्ना के माता-पिता आँगन में पड़े कचरे को बाहर फेंकने में लगे थे। मुझे देखते ही वह भी बोले, "कैसी वर्षा थी! महीने भर का पानी घण्टे भर में बरस गया।" जन्ना के बारे में पूछने पर उन्होंने बताया कि उन्हें स्वयं कोई पता नहीं उसका। इसके बाद मैं 'चलो शाम की वाकिंग हो गयी' मन ही मन कहता हुआ घर की ओर लौट पड़ा।

घर पहुँचने से पहले पीपल का दर्शन होना ही था। देखा, हज़ारों पत्ते, कोपलें और छोटी-छोटी टहनियाँ टूटकर नीचे धरती पर बिछी पड़ी थीं। और आजीमाँ हर दिन की भाँति वहीं बैठी हुई थीं। आज भी अपना नित का नियम नहीं टूटने दिया उन्होंने। धरती भीगकर बरफ़-सी ठण्डी हो गयी थी। फिर भी वे पत्थर पर बैठी किसी से बात कर रही थीं। उनसे तीनेक गज़ के फ़ासले पर कोई व्यक्ति बैठा हुआ था।

एकदम से मुझे उस रात का वह अनुभव याद आया। मैं उनसे दस गज़ दूर से ही घर की ओर को बढ़ चला। मैं नहीं सुनना चाहता था कि आजीमाँ किससे क्या बात कर रही थीं, फिर भी एक-दो बातें कानों में पड़ ही गयीं। आजीमाँ कह रही थीं, "तुम मेरी बात मान लो, महाराजा नल को जब शनि की दशा लगी थी तो उन पर क्या-क्या नहीं बीता! इसे भी उसी तरह समझ लो। तेरी बड़ी बहन मर चुकी है। और तू कह ही रहा है कि छोटी तुझे छोड़कर चली गयी। अब कौन रह गया है तेरा? तुझे तो किसी से जैसे कोई मतलब ही नहीं है। समझ लो, हाथ से जो गँवा बैठे थे भगवान् उसे लौटा रहा है।"

मैं घर पहुँच गया। मगर वह क्या बातचीत थी, क्या विषय था और किससे कह रही थीं आजीमाँ, कुछ भी समझ में नहीं आया। मुझे सोचते-सोचते यही लगा कि होगा कोई गाँव का ही। हित की दो बातें सुननेवाले अभी भी गाँव में दो-चार हैं, बाकी तो आजीमाँ को बस पागल ही समझते हैं।

थोड़ी देर के बाद आजीमाँ अकेली ही घर पहुँचीं। मैंने सीता को फ़ुरसत से बैठा देखकर कहा, "सीता, सुना है मन्दिर का भारी नुकसान हो गया। वहाँ जो गोपुर के सामने का मण्डप था न! उसकी छत गिर गयी है। नडूर के रास्ते में जो पत्थर का मण्डप था वह भी ढह गया है। गाँव के पास वाले मैदान में तो जैसे भारी बाढ़ आ गई है। जहाँ देखो वहाँ मेंढ़क ही मेंढ़क बोल रहे हैं। लगता है बरसात शुरू हो गयी।"

"सच? इतनी जल्दी? एक ही बारिश में यह सब हो गया!"

मैंने बताया, "यों तो हमें इस बारिश की ज़रूरत थी। नहीं तो खेती का

क्या होता ! लेकिन इस तरह एकाएक बिना किसी पूर्व सूचना के इतनी टूट पड़ी—यही आश्चर्य की बात है।"

"हाँ, जैसे हर साल, वह घर-घर जाकर 'मैं आ रही हूँ' कह आती थी और इस साल पितृपक्ष के ब्राह्मणों की तरह बिना कहे-पूछे ही आ गिरी है—यही न ?" सीता ने मेरी हँसी उड़ाई।

"पितृपक्ष के ब्राह्मण ? कौन आये है ?" आजीमाँ ने हमारी बात सुनकर पूछा।

"नहीं आजीमाँ, यहाँ कोई नहीं आया ! मैं तो बारिश के बारे में कह रही थी।" सीता ने उत्तर दिया।

"हाँ, यह जो बारिश आई थी उसके बारे मे तेरी यह बात ठीक ही है। हवा कुछ तेज थी। मगर ऐसी हवा किसलिए आयी, मैं जान गयी हूँ। मंजुनाथ ने अच्छा काम किया, यह ठीक है। लेकिन 'मेरे बराबर कोई नहीं' यह अहंकार भी उसके मन मे जागा है। उसके इस अहंकार को धूल मे मिलाने के लिए यह आँधी-पानी आया। तुमने देखा नहीं ? बातें बन्द कर अपना-सा मुँह लेकर वह चुपचाप घर भाग गया न ?"

आजीमाँ की यह टीका-टिप्पणी सीता को नहीं भायी। उनकी ऐसी बातों पर ही वह चिढ़ी हुई-सी रहती थी। मैं भीतर-भीतर यह जानने को उत्सुक था कि आजीमाँ शाम को किस महानुभाव के साथ बातें कर रही थी। सो मैंने कहा, 'आजीमाँ, बारिश से वह चबूतरा भीगकर एकदम ठण्डा हो गया था, फिर भी अपना नित का नियम आपने भग नहीं होने दिया।"

"बेटा, आखिर मेरी जगह वही तो है !"

"मगर वहाँ तो कोई और व्यक्ति भी था, जिससे आप बात कर रही थी ?"

"हाँ था, मनुष्य ही था, कोई भूत नहीं ! मनुष्य से ही मनुष्य बात करता है—चाहे वह सुख की बात हो चाहे दुख की", आजीमाँ ने कहा।

मैं तो फिर एक बार लज्जित-सा होकर चुप रह गया। आजीमाँ ने तो स्वयं उसका नाम बताया नहीं। और उस समय यदि मैं पूछता तो 'तुझे उस सबसे क्या ?' कहकर मुझ पर कहीं उल्टी डाँट न फोड दें ?

ग्यारह

मंजुनाथ के यहाँ कल कितना क्या नुक़सान हुआ, मुझे नहीं पता। मैं तो आज दिन भर अपने घर और बगीचे में आंधी-पानी के इस काण्ड को ठीक से देखने-समझने में लगा रहा। घर की हालत ठीक करनी थी, छाजन भीगा पड़ा था उसे भी सुखाना था और तहस-नहस पड़े केले तथा सुपारी के पेड़ों को साफ़ करना था। मैं एकदम से इस काम में जुट गया।

मंजुनाथ को तो मुझसे दस गुना काम होगा। मेघराज ने उसके अहंकार को कुचला था, आजीमां तो यही कह रही थीं। अपने काम से उबरने के बाद दूसरे या तीसरे दिन मैं मंजुनाथ के यहाँ गया था। उसके घर से पहले मां भगवती का मन्दिर आता ही है। सौभाग्य से मन्दिर पर डलवाया गया फूंस का नया छप्पर ज्यों का त्यों अवस्थित था। लेकिन उत्सव-भोज के लिए बनवाये गये छप्पर को भारी नुकसान पहुँचा था। उसे उतारकर और सुखाकर रखने में ही पूरे दो दिन लगे थे।

मंजुनाथ घर पर नहीं था। उसके बेटे भी वहाँ दिखाई नहीं दिये। फिर भी उत्सव के लिए उसके घर के आगे डलवाया गया छप्पर उतारकर और धूप में सुखाकर एक ओर रख दिया गया था। हाथ में पैसा हो तो हर काम आसान हो जाता है।

पैसा देने पर और लोग तो काम करने आ ही जाते हैं, फिर उस दिन तो मंजुनाथ के काश्तकार भी आ गये थे। ये लोग सभी उसके कर्जदार भी थे। नहीं तो अपनी खेती का काम छोड़कर यहाँ कौन फटकता? मेरे काश्तकार तो 'हमें तीन दिन तक न बुलाना' कह गये थे। जो भी हो, मंजुनाथ की स्थिति मुझसे अच्छी थी। उसकी आमदनी भी ज्यादा थी, खर्च से भी कभी पीछे नहीं हटा, और देवी पूजा-उत्सव के लिए तो उसने हाथ खोल रखा था।

मंजुनाथ घर पर नहीं था, फिर भी उसकी पत्नी श्रीदेवी ने मेरी अच्छी आव-भगत की। उपाहार के साथ कॉफ़ी भी पिलायी। साथ ही बारिश के कारण हुई क्षति का सारा ब्योरा भी सुनाया। यही सब बातें करते वे बोलीं, "आप बुरा मत मानियें, पर सुना है, आपकी आजीमां ने मेरे पति को अहंकारी कहा है। हमने ऐसा क्या किया था जो हमें यह उपाधि दी गयी?"

"नहीं तो", मैंने प्रतिवाद किया, "आजीमां ने ऐसा कब कहा?"

"परसों, जब ये आपके घर गये थे तब उनके मुंह पर यह बात कही गयी। यह भी सुना है कि ज़ोर के आंधी-पानी को देखकर उन्होंने यह बात कही। क्या आप भी ऐसा सोचते हैं कि देवी की सेवा हमने दिखावे के लिए की?"

आजीमां का उस तरह बोल उठना मुझे भी अच्छा नहीं लगा था। तो भी

उनका पक्ष तो मुझे लेना ही था। इसलिए मैंने उत्तर दिया, "बिना सोचे ही कुछ कह उठी होंगी। यों भी तो जब बारिश नहीं होती तो हम उसे 'भगवान् का कोप' कहने लगते है। उसी तरह बारिश का प्रकोप देखकर आजीमाँ ने कुछ कह दिया होगा। हमारे ही घर का छप्पर, देखो न, उस तूफान में तिनके-तिनके हो गया! फिर तो आजीमाँ की वह बात मुझ पर भी लागू हुई!"

इसी तरह का कुछ कह-सुनकर मैंने उनका समाधान करना चाहा। लेकिन मेरी बात से शायद कोई विशेष संतोष उन्हें हुआ नहीं होगा। आखिर श्रीदेवी कह ही उठी, "कुछ भी कह लो, आपकी आजीमाँ का मुँह है बहुत बड़ा। बिना सोचे-समझे कुछ भी कह देती हैं। उसी दिन की बात ले लो, कितनी श्रद्धा के साथ यहाँ बुलवाया था उन्होंने आपकी आजीमाँ को। वे आयी तो लेकिन देवी का प्रसाद ग्रहण करने के बजाय उस तिप्पज्जी के घर जाकर खाना खाया। यह ठीक बात थी?"

मैंने समझाया, "आजीमाँ ने स्वयं वहाँ जाने की इच्छा व्यक्त की तो मुझे ले जाना पड़ा। दस जन के बीच बैठकर खाना उन्हें वैसे भी अच्छा नहीं लगता। आसपास बैठे जनों में कब किसे वह क्या कह बैठें, इसका भी तो भरोसा नहीं था। उन्हें तिप्पज्जी के यहाँ ले जाने का यह भी एक कारण था। फिर तिप्पज्जी आजीमाँ की छुटपन की सहेली है, अन्धी-लाचार भी हैं। मैंने सोचा उनसे मिलकर आजीमाँ खुश होंगी, उनका मन तृप्त हो जायेगा। वहाँ उस वृद्धा का आग्रह टालते नहीं बना तो भोजन करना पड़ा। फिर भी वहाँ से लौटने के बाद मैं तो सबके साथ भोज में सम्मिलित भी हुआ था। आजीमाँ ने भी भगवती का प्रसाद ग्रहण किया था। छोटी-सी बात का यह रूप बन जायेगा, मैंने सोचा भी नहीं था।"

अपनी बात का प्रभाव परखने के लिए दो क्षण मैं उनके चेहरे की ओर देखता रहा, उसके बाद बोला, "श्रीदेवम्मा, आप ही सोचिये, इस वृद्धावस्था में आजीमाँ के मुँह पर ताला लगाया जा सकता है क्या? उनके पागलपन को दुनिया जानती है। वे तो स्वयं कभी घर से बाहर नहीं निकलती। मंजुनाथ के आग्रह करने पर ही वे यहाँ आयी थी। उन्होंने कुछ कह भी दिया तो उसे भूल जाइये। मंजुनाथ मिला तो उससे भी यही कहूँगा।"

मेरी बातों से उनका समाधान हुआ या नहीं, मैं नहीं जानता। बस मन ही मन यह कहकर, 'पता नहीं आज किसका मुँह देखकर उठा', मैं वहाँ से चल पड़ा।

मैं भगवती के मन्दिर के पास वाले रास्ते से लौट रहा था। उस समय न जाने किन विचारों का मन्थन मेरे भीतर चल रहा था। थोड़ा-सा सँभला तो देखा कि मैं उसी शिलाखण्ड के पास जा पहुँचा था जहाँ आजीमाँ को मन्त्रपाठ सुनाई दिया था। कैसे पहुँच गया वहाँ, यह कोशिश करने पर भी नहीं समझ सका। थोड़ी देर तक मैं वहाँ अमनस्क-सा खड़ा रहा। फिर तो आश्चर्य, मेरे कानों में भी उन

मन्त्रों की ध्वनि आने लगी। "ओम इन्द्राय स्वाहा, इदं न मम···।" आगे के मंत्र भी एक-एक कर सुनाई देने लगे। मुझे हँसी आ गयी। इस चक्कर से निकलने में मुझे लगभग दस मिनट लग गये। लेकिन मेरे अन्तम् में एक बात बार-बार अवश्य उठ रही थी ; सचमुच, यह कोई महत्व का स्थान होना चाहिए। यहाँ प्राचीन युग के अवशेष भी जरूर होंगे। किसी न किसी तरह आजीमाँ को यहाँ एक बार और लाना होगा।

आजीमाँ को उस गड्ढे तक भी ले जाना आवश्यक है जो केवड़े की झाड़ियों से भरा पड़ा है। मगर क्यों न पहले, चार मजदूर लगाकर यह सारी लतर-पतर साफ़ करवा दी जाये। यही कुछ सोचता हुआ मैं उस खड्ड तक पहुँच गया। उसे देख मेरी दृष्टि फिर कुछ खोजबीन में लग गयी। जरूर उस ज़माने का कोई कुआँ भी वहाँ होगा। पहले भी मुझे ऐसा लगा था। शायद उस भारी शिलाखण्ड के पास जो नरई है उसे उसी कुएँ से पानी ले जाकर भरते होंगे। तब तो आश्चर्य नहीं कि कुएँ के अलावा कुछ और भी वहाँ हो।

इतने में किसी जीव-जन्तु के सामने से सरकते हुए आने का आभास हुआ। ध्यान देने पर मुझे पत्तों पर से आवाज़ भी आती सुनाई दी। मैंने उस ओर दृष्टि डाली। उस पर आँख पड़ते ही मैं काँप उठा। बिलकुल पीले रंग का नाग। केवड़े के फूलों में नाग रहते हैं यह सभी को ज्ञात है। वह नाग कहीं कालिय होता तो उस दिन तो मेरा क्रिया-कर्म ही हो जाता। कम से कम एक गज़ का था वह। उसने अपना फन नहीं खोला था, न ही मेरी ओर देखा। बस अपने आप उन पौधों में सरक गया।

मैं तब सोचने लगा कि इस लतर-पतर और झाड़ियों को काटकर साफ़ करना ठीक होगा क्या ? ये नाग यहाँ आज के नहीं लगते। ज़रूर किसी ज़माने में यहाँ नागवन रहा होगा। एक दूसरा विचार भी मन में आया। यहाँ नाग रहते हैं यह जान जाने पर कोई भी तो इस खड्डे की झाड़ियों को साफ़ करने नहीं आयेगा। तब तो मेरी सारी साध अधूरी ही रह जायेगी। मैंने फ़ैसला किया कि इस नाग के बारे में किसी को भी कुछ नहीं बताऊँगा।

क्षण भर बाद मेरे मन में एक और विचार कौंधा। सुना था, जहाँ नाग हो वहाँ अक्सर धन गड़ा रहता है। शायद यहाँ भी कहीं कुछ गड़ा हो। उस पत्थर वाले मण्डप के नीचे तो निधियाँ बतायी भी जाती हैं। हो सकता है यहाँ भी कुछ हो। मूडूरु में तीन सौ मन्दिर रहे हैं एक समय। कहावत है : 'मूडूरिनल्लि मुन्नूरु गुडिगुन' अर्थात् मूडूरु में तीन सौ मन्दिर। किसी समय यहाँ बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं का राज था। तब गेरसोप्पा की तरह यह भी एक बहुत बड़ा नगर रहा होगा। जहाँ कहीं देखो किसी-न-किसी मन्दिर का कोई-न-कोई पाया दिख जाता है। अगर यह माना जाय कि हमारे गाँव में या गाँव के आसपास तीन सौ मन्दिर थे

तो हमारे गाँव मे तीन हजार या तीस हजार घर तो जरूर रहे होंगे। तीस हजार शायद बहुत ज्यादा हो सकते हैं, लेकिन तब तीन हजार बहुत कम हो जाते हैं। कुछ भी हो, किसी जमाने में हमारा गाँव एक समृद्ध नगर था इसमें कोई सन्देह नहीं। उन दिनों हिन्दुस्तान की देवी भगवती की प्रसिद्धि मूकाम्बिका से भी ज्यादा रही होगी।

व्यक्ति जब तर्क का आश्रय ले विचारों की गहराई में उतर जाता है तो कल्पना के तन्तु जल्दी-जल्दी फूटने लगते हैं। सम्पत्ति, नाग और निधि इन तीन शब्दों ने मेरे मन को किसी गुप्त खज़ाने की ओर को खींचना शुरू कर दिया। 'कहीं मुझे यहाँ कोई गुप्त निधि मिल जाये तो! हीरे-जवाहरात से भरा एक घड़ा मिल जाये तो!' मेरे मन में लालच उछालें भरने लगा। 'सचमुच कुछ हाथ आ जाये तो मंजुनाथ से भी अधिक जोरदार भोज दूँगा।' मैंने अपने आपसे कहा।

वहाँ से चलकर मैं फिर उसी शिलाखण्ड की ओर आया। स्वभावतः वहाँ के उस खम्भे पर नज़र पड़ी। पत्थर की वह चरई भी दिखाई दी। गरमी तपनी धूप में बेंत का गट्ठर इसी खम्भे के सहारे उतार कर नागी ने पसीना सुखाया था। न जाने क्यों मेरी नज़रों के सामने वही चित्र आ खड़ा हुआ। लेकिन उसके साथ उसके दोनों बच्चे नहीं दिखाई दिये। उनके बजाय मुझे दो-दो नागी दिखाई देने लगी। एक वह सुन्दर युवती नागी जिसे उस मेले में कुछ पैसे देने लगा था। दूसरी यह श्रमजीवी नागी जो गाँव और घर-गृहस्थी को ठुकराकर पश्चिम के किसी गाँव में जा बसी और जिस किसी तरह मेहनत-मजदूरी से अपना और अपने दोनों बच्चों का पेट पाल रही थी।

नागी की याद आते ही उसे अपने पास बिठाकर देर तक उसके साथ बात करती हुई आजीमाँ दिखाई देने लगी। उनकी बातों को सुनने की लालसा में खिड़की जो मिली थी! दूसरे ही दिन बारिश में भीगकर घर आये रामण्णा के साथ भी आजीमाँ ने बहुत देर तक बातें की थीं, वे भी चित्र अब सामने आने लगे। कुछ भी हो, नागी—उसकी अपनी प्यारी नागी है, अपनी ब्याहता नागी है। गाँववालों ने उसे भले ही जात-बिरादरी से निकाल दिया, भले ही वह बुरी सोहबत में पड़ गयी थी; फिर भी रामण्णा को उससे लगाव था। हमेशा उसके पास रहनेवाला वह पनडब्बा ही इस बात का साक्षी था। उस दिन रामण्णा भूल से हमारे घर छूट गये उस पनडब्बे को ऐसे खोजता हुआ आया था मानो उसने अपना कोई सोने का जेवर खो दिया था।

एक-एक करके वे सब घटनाएँ याद आयीं तो लगा, रामण्णा एक क्षण के लिए भी नागी को भूला नहीं है। उसने उस पनडब्बे को ही नागी की यादगार बना लिया था। लेकिन वह अभागिन नागी क्या से क्या हो गयी? नागी के पतित

मन्त्रों की ध्वनि आने लगी। "ओम इन्द्राय स्वाहा, इदं न मम...।" आगे के मंत्र भी एक-एक कर सुनाई देने लगे। मुझे हँसी आ गयी। इस चक्कर से निकलने में मुझे लगभग दस मिनट लग गये। लेकिन मेरे अन्तस् में एक बात बार-बार अवश्य उठ रही थी; सचमुच, यह कोई महत्व का स्थान होना चाहिए। यहाँ प्राचीन युग के अवशेष भी ज़रूर होंगे। किसी न किसी तरह आजीमाँ को यहाँ एक बार और लाना होगा।

आजीमाँ को उस गड्ढे तक भी ले जाना आवश्यक है जो केवड़े की झाड़ियों से भरा पड़ा है। मगर क्यों न पहले, चार मज़दूर लगाकर यह सारी लतर-पतर साफ़ करवा दी जाये। यही कुछ सोचता हुआ मैं उस खड्ड तक पहुँच गया। उसे देख मेरी दृष्टि फिर कुछ खोजबीन में लग गयी। ज़रूर उस ज़माने का कोई कुआँ भी वहाँ होगा। पहले भी मुझे ऐसा लगा था। शायद उस भारी शिलाखण्ड के पास जो चरई है उसे उसी कुएँ से पानी ले जाकर भरते होंगे। तब तो आश्चर्य नहीं कि कुएँ के अलावा कुछ और भी वहाँ हो।

इतने में किसी जीव-जन्तु के सामने से सरकते हुए आने का आभास हुआ। ध्यान देने पर सूखे पत्तों पर से आवाज़ भी आती सुनाई दी। मैंने उस ओर दृष्टि डाली। उस पर आँख पड़ते ही मैं काँप उठा। बिलकुल पीले रंग का नाग। केवड़े के फूलों में नाग रहते हैं यह सभी को ज्ञात है। वह नाग कहीं कालिय होता तो उस दिन तो मेरा क्रिया-कर्म ही हो जाता। कम से कम एक गज़ का था वह। उसने अपना फन नहीं खोला था, न ही मेरी ओर देखा। बस अपने आप उन पौधों में सरक गया।

मैं तब सोचने लगा कि इस लतर-पतर और झाड़ियों को काटकर साफ़ करना ठीक होगा क्या? ये नाग यहाँ आज के नहीं लगते। ज़रूर किसी ज़माने में यहाँ नागवन रहा होगा। एक दूसरा विचार भी मन में आया। यहाँ नाग रहते हैं यह जान जाने पर कोई भी तो इस खड्डे की झाड़ियों को साफ़ करने नहीं आयेगा। तब तो मेरी सारी साध अधूरी ही रह जायेगी। मैंने फ़ैसला किया कि इस नाग के बारे में किसी को भी कुछ नहीं बताऊँगा।

क्षण भर बाद मेरे मन में एक और विचार कौंधा। सुना था, जहाँ नाग हो वहाँ अक्सर धन गड़ा रहता है। शायद यहाँ भी कहीं कुछ गड़ा हो। उस पत्थर वाले मण्डप के नीचे तो निधियाँ बतायी भी जाती हैं। हो सकता है यहाँ भी कुछ हो। मूडूरु में तीन सौ मन्दिर रहे हैं एक समय। कहावत है: 'मूडूरिनल्लि मुन्नूरु गुड़िगुल' अर्थात् मूडूरु में तीन सौ मन्दिर। किसी समय यहाँ बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं का राज था। तब गेरसोप्पा की तरह यह भी एक बहुत बड़ा नगर रहा होगा। जहाँ कहीं देखो किसी-न-किसी मन्दिर का कोई-न-कोई पाया दिख जाता है। अगर यह माना जाय कि हमारे गाँव में या गाँव के आसपास तीन सौ मन्दिर थे

तो हमारे गाँव में तीन हजार या तीस हजार घर तो जरूर रहे होंगे। तीस हजार शायद बहुत ज्यादा हो सकते हैं, लेकिन तब तीन हजार बहुत कम हो जाते हैं। कुछ भी हो, किसी जमाने में हमारा गाँव एक समृद्ध नगर था इसमें कोई सन्देह नहीं। उन दिनों हिण्डुगान की देवी भगवती की प्रसिद्धि मूकाम्बिका से भी ज्यादा रही होगी।

व्यक्ति जब तर्क का आश्रय ले विचारों की गहराई में उतर जाता है तो कल्पना के तन्तु जल्दी-जल्दी फूटने लगते हैं। सम्पत्ति, नाग और निधि इन तीन शब्दों ने मेरे मन को किसी गुप्त खजाने की ओर को खींचना शुरू कर दिया। 'कहीं मुझे यहाँ कोई गुप्त निधि मिल जाये तो! हीरे-जवाहरात से भरा एक घड़ा मिल जाये तो!' मेरे मन में लालच उछालें भरने लगा। 'सचमुच कुछ हाथ आ जाये तो मंजुनाथ से भी अधिक जोरदार भोज दूँगा।' मैंने अपने आपसे कहा।

वहाँ से चलकर मैं फिर उसी शिलाखण्ड की ओर आया। स्वभावतः वहाँ के उस खम्भे पर नजर पड़ी। पत्थर की वह चरई भी दिखाई दी। परसों तपती धूप में बेंत का गट्ठर इसी खम्भे के सहारे उतार कर नागी ने पसीना सुखाया था। न जाने क्यों मेरी नजरों के सामने वही चित्र आ खड़ा हुआ। लेकिन उसके साथ उसके दोनों बच्चे नहीं दिखाई दिये। उनके बजाय मुझे दो-दो नागी दिखाई देने लगीं। एक वह सुन्दर युवती नागी जिसे उस मेले में कुछ पैसे देने लगा था। दूसरी यह श्रमजीवी नागी जो गाँव और घर-गृहस्थी को ठुकराकर पश्चिम के किसी गाँव में जा बसी और जिस किसी तरह मेहनत-मजदूरी से अपना और अपने दोनों बच्चों का पेट पाल रही थी।

नागी की याद आते ही उसे अपने पास बिठाकर देर तक उसके साथ बात करती हुई आजीमाँ दिखाई देने लगीं। उनकी बातों को सुनने की लालसा में झिड़की जो मिली थी! दूसरे ही दिन बारिश में भीगकर घर आये रामण्णा के साथ भी आजीमाँ ने बहुत देर तक बातें की थीं, वे भी चित्र अब सामने आने लगे। कुछ भी हो, नागी—उसकी अपनी प्यारी नागी है, अपनी ब्याहता नागी है। गाँववालों ने उसे भले ही जात-बिरादरी से निकाल दिया, भले ही वह बुरी सोहबत में पड़ गयी थी; फिर भी रामण्णा को उससे लगाव था। हमेशा उसके पास रहनेवाला वह पनडब्बा ही इस बात का साक्षी था। उस दिन रामण्णा भूल से हमारे घर छूट गये उस पनडब्बे को ऐसे खोजता हुआ आया था मानो उसने अपना कोई सोने का जेवर खो दिया था।

एक-एक करके ये सब घटनाएँ याद आयीं तो लगा, रामण्णा एक क्षण के लिए भी नागी को भूला नहीं है। उसने उस पनडब्बे को ही नागी की यादगार बना लिया था। लेकिन यह अभागिन नागी क्या से क्या हो गयी? नागी के पतित

हो जाने के बाद रामण्णा चाहता तो उसे भूल भी सकता था, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। उसने तो किसी दूसरी स्त्री का मुँह तक नहीं देखा। अब जब उसकी इस नेकी की याद आयी तो उस बेचारे के प्रति मेरा मन एक अव्यक्त सहानुभूति से भर गया।

आजीमां के विचार से स्त्री और पुरुष का एक-दूसरे के प्रति मोह-आकर्षण अद्भुत होता है। पुराणों में कहा गया है कि शिव-पार्वती और विष्णु-लक्ष्मी बार-बार अवतार लेते हैं और हर जनम में वही पति और वही पत्नी बनकर रहे। इसी भाव में रहे और समय आने पर दोनों का विलय हो गया। सच, शरीर है तो आत्मा है। आत्मा को शरीर के द्वारा ही सुख-शान्ति मिलती है। शरीर से ही दुख मिलता है, कोई सुख चाहता है तो उसे कुछ दुख भी झेलना पड़ता है। यह सब, यानी बार-बार अवतार लेना, अवतार लेकर उन्हीं का पति-पत्नी बनकर रहना—यह सिर्फ़ भगवान के लिए सम्भव है। लक्ष्मी राजा जनक की बेटी होकर जनम सकती है; भगवान् विष्णु राजा दशरथ के बेटे बनकर जनम सकते हैं। सीता का स्वयंवर हुआ तो सैकड़ों राजकुमार उपस्थित थे उसमें। स्वयं रावणासुर भी आया था। उसने शिव-धनुष को तोड़ने का प्रयास भी किया। फिर भी सीता तो राम की ही पत्नी बन सकती थी। जब वही सब होना था तो आये हुए दूसरे कोई भला क्या कर सकते थे?

ये विचार मन में आये तो एकाएक हँसी फूट पड़ी। मेरी पत्नी का नाम भी तो सीता है। क्या यह भी जन्म-जन्मान्तर से मेरी ही पत्नी बनकर पीछा कर रही है? फिर तो किसी पिछले जन्म में थोड़ा-सा ही सही, मुझपर अपना अधिकार भी जमाती रही होगी? मैंने इस बारे में आजीमां से पूछना ठीक समझा। आजीमां तो हजारों साल पहले के लोगों के बारे में भी सब कुछ कह सकती हैं। इसी क्रम में एक प्रश्न और उभरा। जब उनकी अन्तर्दृष्टि में यह शक्ति है तब तो अपने पूर्व जन्म के बारे में भी वे जानती होंगी? फिर जन्म-जन्मान्तर का यह क्रम यदि सच है तो रामण्णा को, इस जन्म में न सही, अगले जन्म में तो नागी मिलनी ही चाहिये। नागी के लिए जो उसके मन में प्यार है, उसके होते क्या भगवान् उसे उसकी नागी से नहीं मिलाएँगे?

वही नागी? वही जो अपने ऊपर निछावर अपने पति को छोड़कर भाग गयी थी—वही नागी? अब तो बेचारी वह दीन-दुखी भी लगने लगी थी। लेकिन जैसा उसने स्वयं कहा, वह तो अब किसी का जूठा निवाला बन चुकी थी, सच था। मुझे इस पर एक और पौराणिक कथा याद आ गयी। वह भी रामायण से ही सम्बन्धित है। गौतम की पत्नी अहल्या ने क्या किया था? उसके पीछे उद्देश्य रहा हो या न रहा हो, वह 'इन्द्राय स्वाहा' हो गयी। महर्षि गौतम ने शाप दिया तो पत्थर बनकर पड़ी रही। राम की कृपा से फिर स्त्री बनी। उसके

वाद, पत्थर से स्त्री बनने के वाद, क्या अहल्या जाकर अपने पति गौतम से मिली ? इसके वारे मे कुछ नहीं कहा गया। मगर कहा नही गया तो उससे क्या, वह तो ज़रूर गौतम के पास ही गयी होगी। कहीं और वह जा भी कहाँ सकती थी? शाप में तपकर वह अव ग्रहणीय हो गयी थी। नागी भी अब तप-तपकर ग्रहणीय हो गयी है—ऐसा मुझे लगा। अगले जन्म मे नागी रामण्णा की होगी, ज़रूर होगी। वह उसकी होकर रहे यही मेरी कामना है। लेकिन एक प्रश्न फिर सामने आ खड़ा हुआ। रामण्णा को अगले जन्म मे वह मिल भी जाय तो उससे क्या लाभ ? क्या रामण्णा उस जन्म में भी तेली रामण्णा ही रहेगा ? क्या नागी भी नागी ही रहेगी ? क्या उन्हें अपना पूर्व जन्म याद रहेगा ? अगले जन्म में भी वे पति-पत्नी बनकर एक होंगे इसका भरोसा भी कहाँ ? बिलकुल नही।

विचारों की इस सरणि मे मुझे अपनी सीता का ध्यान हो आया। हम भी इस जन्म की अवधि के लिए पति-पत्नी बने है। अगले जन्म में भी हम पति-पत्नी ही बनकर रहेंगे, इसका कौन भरोसा ? वैसा हुआ भी तो क्या इस जन्म का हमें स्मरण रहेगा ? बिलकुल नहीं। पर इस वात को यहीं छोड़िये। इस लोक मे असंख्य स्त्रियाँ हैं, असंख्य पुरुष। क्या वे सभी जन्म-जन्मान्तरों मे भी 'यही मेरा पति बना रहे या यही मेरी पत्नी बनी रहे', यह अपेक्षा करते हैं ? इस संसार में दुख झेलने वालों की क्या कोई ऐसी अभिलाषा बनी रह सकती है ? मेरा ही उदाहरण लीजिए ! सीता से अच्छी पत्नी मिल जाती तो कितना अच्छा होता—यह विचार मेरे मन मे भी आ सकता है। उसे भी क्या ऐसा नहीं लगता होगा कि इस जडभरत सुब्बाराव से भी उत्तम कोई और पति मिले ? मान लो मन में ऐसे विचार न भी आये पर अपने साथी में जो अवगुण है वे दूर हो जायें, उनका रूप और भी निखर जाय, उनके पास धन-सम्पत्ति और अधिक हो जाय आदि-आदि तो सभी चाहते होंगे। फिर सोचिये, सभी अवगुणों से मुक्त होकर और सब प्रकार से मरम्मत होकर पुनर्जन्म लेनेवाला वह पति, इस जन्म के पति की तरह दिखेगा भी तो कैसे ?

यह सारे विचार एक के बाद एक मेरे मन में आये तो मुझे बरबस लगा कि पुनर्जन्म का यह झमेला भगवान् की सीमा तक यानी रामचन्द्र जी और सीतामाई तक ही रहे तो ठीक। हमारे और आपके लिए इस झंझट की जरूरत नहीं है। जहाँ तक रामण्णा की बात है, सो नागी भले ही वह कितनी बिगड़ैल क्यों न हो, आपस में सच्ची प्रीत के कारण इसी जन्म मे ही उसकी पत्नी बनकर रहे तो बात कुछ जँचती है। अगले जन्म मे वे एक-दूसरे को मिल भी जायें तो कौन किसको जान सकेगा ? वह मिलना तो न मिलने के बराबर रहा ! क्या फायदा उससे ?

मैं इन्हीं सब विचारों में डूबा रहा और धूप थी कि चढ़ती ही गयी। लगा, काफी समय बीत चुका था। सवेरे जब घर से निकला था तब कहाँ जा रहा हूँ यह

किसी को नहीं बताया था। अब तो भोजन का समय हो चुका था। सीता मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी। शायद उसकी चार बातें भी सुनने को मिलें। यह सोच-कर मैंने चटपट घर का रास्ता पकड़ा। बाहर के बाहर कुएँ पर हाथ-पाँव धोकर बरामदे में जैसे ही कदम रखा कि सीता की आवाज़ सुनाई दी, "कहाँ गई थी सवारी ?"

"बस यूं ही ज़रा चला गया था।" मानो अपने से कहते हुए रसोईघर में जा घुसा।

आजीमाँ भोजन कर आराम करने जा रही थीं। बच्चे खा-पीकर पहले ही कहीं खेलने चले गये थे। सिर्फ सीता ही मेरी प्रतीक्षा करते-करते थककर रसोई में ही लेट गयी थी। वहीं से शायद मुझे उसकी आवाज़ सुनाई दी थी। आने में देरी तो हो ही गयी, अब भोजन करते रहने में कहीं और अधिक देरी न हो जाय इस विचार से झटपट भोजन कर मैं बाहर निकला और बरामदे में चटाई डालकर सो गया। आँख लगते ही पहले नाग का दर्शन हुआ। फिर नागी भी आयी, रामण्णा भी आया। लेकिन जिस गड़ी हुई निधि की मुझे प्रतीक्षा थी वह तो दिखाई तक नहीं दी।

नींद से उठकर घर के आँगन में चहल-कदमी करने लगा। सोच रहा था आज का समय कैसे काटा जाय ? इतने में सीता आकर बोली, "खेतों में काम का भी कुछ ध्यान है ? अभी तक तो आपने एक भी मजदूर को नहीं बुलाया है। सौभाग्य से बारिश अच्छी हुई है। मजदूर आ जाते तो जुताई-बुआई आसानी से हो जाती।"

पिछले ही दिन मैं अपने यहाँ के काश्तकार हलवाहा से बात कर आया था। मगर वह तो कहता था, "इतनी जल्दी क्या है मालिक ! अपने खेत का काम निबटाकर मैं आपका काम भी कर दूँगा। बारिश ज़ोर की हुई है। खेत सात-आठ दिन तक नहीं सूखेगा।"

सीता को समझाते हुए मैंने कहा, "वेंका से बात कर ली है। अब दो दिन बाद वह आ ही जायेगा और सारा काम निपटा जायेगा। तुम भी क्या हो कि इतनी सी बात भी नहीं समझती ?"

"हाँ-हाँ, समझदार तो आप ही हैं, बुद्धू तो एक मैं ही हूँ इस घर में !" सीता ने रूठते हुए कहा।

एकाएक मेरे दिमाग़ में यह सवाल कौंधा—क्या मुझे बात-बात में फटकारने वाली यही सीता अगले जन्मों में भी मेरी पत्नी होगी ? लेकिन जब कुछ ही देर बाद वही सीता बच्चों के लिए रखे हुए हलुवे का एक बड़ा-सा हिस्सा लेकर मुझे देने आयी तो मेरा भाव बिलकुल ही बदल गया। हलुवा खाते-खाते मैं सोचने लगा—ज़रूर यह बात-बात पर मुझे जली-कटी सुनाती रहती है लेकिन इसकी

बनायी मिठाई तो लाजवाब होती है। मुझे लगा कि अगर भगवान् को मंजूर हो, मेरे जनम के आठ-दस साल बाद इसका जनम हो, हम दोनों की एक ही जाति हो और गोत्र भिन्न-भिन्न होकर दोनों की कुंडलियाँ भी मिलती हों तो शायद अगले भव में मैं फिर इसे अपनी पत्नी बनाने को राजी हो जाऊँ।

शाम को मैं अक्सर जनार्दन के यहाँ जाया करता था। लेकिन इस भूपति का तो अता-पता ही नहीं। न उसकी माँ का पता, न ही पिता का। और एक मैं हूँ जो मूडूरु जैसे गाँव में जन्म लेकर, पैतृक घर में रहकर और थोड़ी-बहुत अँगरेज़ी सीखने के बावजूद घर-गिरस्ती चलाने के शौक में यहाँ गाँव में पड़ा हूँ—यह सोच मुझे भी अपने ऊपर तरस आ गया।

कुछ भी कहो मेरा भाई मुझसे कहीं अधिक बुद्धिमान निकला। उसकी नई-नवेली दुल्हन का स्वभाव कैसा है यह तो मैं नहीं जानता। पर वह भी पढ़ी-लिखी है, सीता की तरह अनपढ़ नहीं जिसने कभी स्लेट भी नहीं छुई। मेरा भाई नारायण छुट्टियों के आधे दिन शिवमोग्गा में ही गुजार देता है। आखिर शिव-मोग्गा हज़ारों लोगों का शहर है, इस मूडूरु की तरह नहीं। वहाँ तो घर से बाहर पाँव रखते ही लोग मिल जाते हैं। यहाँ गाँव में वह सब कहाँ? फिर भी मैं इस गाँव को प्राचीन काल का एक महानगर प्रमाणित करने के प्रयास में इधर-उधर फिर रहा हूँ। आजीमाँ की जैसी बुद्धि अगर मेरी भी होती तो कितना अच्छा होता! पर अब तो गत वैभव की इस कल्पना को अपने में जागृत करने के लिए और हर एक बात ठीक-ठीक समझने के लिए उन्हीं की सहायता लेनी होगी। गाँववालों ने तो उन्हें मूकी नाम दे डाला। कहते हैं, इस उम्र में वे सठिया गयी हैं। लेकिन मुझे तो उनकी इस विलक्षण अन्तर्दृष्टि में सदैव गहरा विश्वास रहा है। काश उनकी वह दृष्टि मुझे मिल जाती, मैं तब क्या-न-क्या आप ही देख लिया करता!

मूडूरु गाँव के जिस पत्थर वाले मण्डप के गिरने की खबर रामण्णा परसों दे गया था उसे देख आने की इच्छा तो थी, पर उस ओर अभी जा नहीं सका था। और भी जहाँ जो ढह गया या नष्ट हो गया था, उसने सब बताया था। सभा-मण्डप की छत पूरी की पूरी ढह गयी थी, और वसन्त-पुष्करिणी पानी से भर गयी थी। रामण्णा से ये सब समाचार मिले आज तीन दिन हो गये थे। फिर मैं उधर नहीं जा सका था। सोचा, आज हो ही आऊँ। इधर-उधर दृष्टि दौड़ाकर यह निश्चय कर लेने के बाद कि किट्टू और चन्द्रू तो कहीं आसपास नहीं है, मैं वहाँ से चुपके से निकल पड़ा।

गाँव के बाहरवाले मैदान के बीच से निकलकर खेतों से होता हुआ कोई सौ गज आगे बढ़ा और फिर दायीं ओर मुड़कर झाड़ियोंवाले जंगल में घुस गया। उसमें से चार-पाँच पगडण्डियाँ इधर-उधर जाती थीं। मैं मन्दिर की ओर जाने

वाली राह पकड़कर आगे बढ़ा। अजीब दृश्य था वहाँ का। आँधी के भीषण प्रहार यहाँ भी हुए थे। वृक्षों की टहनियों और हरे-हरे पत्तों से धरती पटी पड़ी थी। उन सबके ऊपर से होता हुआ मैं मन्दिर की ओर बढ़ा।

वहाँ पहुँचने पर मैं स्तब्ध रह गया। कौन कह सकता है कि वहाँ मण्डप था? जो मण्डप पहले था उसकी कल्पना उसकी स्थिति को देखकर करना व्यर्थ-सी जान पड़ी। एक बड़े-से पत्थर का अधिष्ठान भी था वहाँ। उस अधिष्ठान के चारों ओर सीढ़ियाँ थीं। मगर ये सीढ़ियाँ किसलिए? मेरी समझ में नहीं आया। अधिष्ठान के चारों ओर बड़े-बड़े आधार-स्तम्भ। उन स्तम्भों के बीचों-बीच चार-दीवारी का एक मन्दिर-गृह। जहाँ तक मुझे याद है, उसमें एक दरवाजा था। दिखने में मन्दिर कमरे जैसा था। उसके ऊपर और परिधि के स्तम्भों पर किसी समय पत्थर की ही एक छत रही होगी—ऐसा मेरा अनुमान था। उस पर मिट्टी या ईंट का एक टीला-सा था। शायद ईंटों से ही बना था। पहले जब यह जगह पेड़-पौधों और जंगली घास से भरी थी तो बेडौल लगती थी। इस जगह पर क्या था या क्या है हमारे गाँववालों ने उसके बारे में सोचा भी नहीं था। मैं भी इसके लिए अपवाद नहीं था यह मैं स्वीकार करता हूँ। मूडूरु, नडूरु, पडूरु—इन तीनों गाँवों के बीच के इलाके में ऐसे कई मन्दिर हैं यह मैंने पहले भी कहा है। बचपन में इन जीर्ण मन्दिरों को मैंने देखा था। लेकिन वहाँ लिंग या किसी मूर्ति को देखा हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं। यह तो कोरा मण्डप था, मन्दिर नहीं कहा जा सकता था। तो यहाँ क्या रहा होगा? अन्दर यदि कोई गर्भ-गृह होता तो उसके सामने नन्दि की मूर्ति ज़रूर होती। वह तो थी नहीं यहाँ। मैं शोध-खोज करने जो आया था, इसलिए गंभीर मुद्रा में थोड़ी देर तक वहीं खड़ा रहा। उलटे पड़े आधार-स्तम्भों को और छज्जे के टूटे पड़े पत्थरों को कुतूहल से देखने लगा। उस छज्जे के गिरने में परसों की मात्र बारिश ही कारण नहीं थी, उसके पास खड़े एक बड़े-से खोखले पेड़ के उस पर गिर जाने के कारण शायद वह और वे आधार-स्तम्भ उलट-पुलट गये थे और उस भयंकर बारिश से कीचड़ में सन गये थे। इस घटना का जीता-जागता साक्षी था खोखले पेड़ का वह ठूँठ जो सिर कटे राक्षस की तरह आकाश को ताक रहा था। यह सब देख वह कहावत याद हो आयी—घड़ा बनाने में कुम्हार का एक साल और डण्डे को एक क्षण।

उन शाप-ग्रस्त शिलाओं पर अब धूप नाच रही थी। उनके पास जाकर मैं उन्हें एक-एक कर जाँचने लगा। उनमें से कुछ पर चित्र उकेरे गये थे। छह अँगुल से भी ज्यादा मोटी, लम्बी-लम्बी फर्शियाँ दो टुकड़े हो गयी थीं। मण्डप का मध्य भाग तो रह ही नहीं गया था। उचक कर उन पत्थरों के ऊपर से मैं जाँच करने लग गया। वृक्ष के गिरने से मण्डप की जगत में भी दरार पड़ गयी थी। नीचे बिछाये गये पत्थरों पर मिट्टी भी जमा थी। मैंने वहाँ सब छूकर देखा। नीचे आकर उसके

चारों ओर दो-एक प्रदक्षिणा दे डाली। किसलिए इस मन्दिर का निर्माण किया गया होगा ? किसलिए इस मण्डप को बनाया गया होगा ? ऐसे कई प्रश्न अब मेरे मन में उभर आये। तब एक और विचार भी मेरे मन में आया। कहीं ऐसा तो नहीं कि यहाँ पर ही कोई निधि गड़ी हो ? और इस प्रश्न के साथ ही मन में एक आशा जग उठी। मैं वहीं पास पड़ा लकड़ी का एक खूँटा उठा लाया और मण्डप के बीचों-बीच गिरी मिट्टी के उस ढेर को कुरेदने लगा।

अभी थोड़ा ही कुरेद पाया था कि उसमें लोहे का एक टुकड़ा हाथ लग गया। उसे कमीज़ से घिस-घिसकर साफ़ करने लगा। आशा यह थी कि सोने का कोई सिक्का होना चाहिए, पर मेरा दुर्भाग्य कि वह ताँबे का निकला। फिर भी आशा नहीं टूटी। कौन जाने वहाँ और भी सिक्के हों ? मेरे भाग्य से उनमें कुछ सोने के भी हों ? बस इसी लालच में मैंने वहाँ पर पड़े उस पूरे ढेर को कुरेद डालने का निश्चय कर लिया।

इसका एक विशेष कारण भी था। हमारे गाँव के लोगों को गाँव के आसपास झाड़ियों के इन्हीं जंगलों में सोने-चाँदी से भरे घड़े मिले थे—ऐसा मैंने बचपन में सुन रखा था। भाग्य को कौन जानता, उसे पलटते देर नहीं लगती। मुझे यहाँ देखनेवाला कोई नहीं है, इस धारणा से लाज-संकोच छोड़ मैं मिट्टी को कुरेदने लगा। इसी बीच एक 'टन्न' जैसी आवाज़ आयी। मैंने वहाँ की मिट्टी के उस पूरे के पूरे ढेले को हाथों में उठा लिया। काफ़ी वज़नदार लगा वह। मैं उस पर जमी मिट्टी को साफ़ करने लगा। पूरे आठ अंगुल की काँसे की मूर्ति थी वह। कीचड़-मिट्टी में लथपथ हो गयी थी। अपनी धोती से साफ़ करने का मन न हुआ तो आसपास दृष्टि डाली। पास के एक गड्ढे में बारिश का पानी भरा था। मैं उस मूर्ति को वहीं ले जाकर धोने लगा। देखा, वह मनुष्य की एक सुन्दर मूर्ति थी। उसमें बस एक ही कमी थी। उसके ऊपर कोई वस्त्राभरण का चिह्न न था, न ही किसी प्रकार का अलंकरण। वह हमारे देवी-देवताओं की मूर्ति नहीं थी। वह एक नग्न मूर्ति थी, शायद जैन मूर्ति होगी। जैन मूर्ति हो या बौद्ध मूर्ति, बिना किसी वस्त्राभरण के वह आँखों को आनन्द नहीं देती। उस मूर्ति को देखकर मुझे तिप्पज्जी की एक बात याद आ गयी। वह कोटल देवी की बात ! हिण्डुगान की भगवती के नामों में 'कोटल देवी' भी एक नाम था, यह मैं तीन-चार लोगों से और बाद में तिप्पज्जी के मुँह से भी सुन चुका था। तभी से उस नाम का अर्थ जानने के लिए मैं उत्सुक था। कोटले यानी पानी के रोग की कोई पीड़ा। ऐसा ही कुछ अभी तक मैं समझ पाया था। घर पहुँचकर एक पुराना शब्दकोश देखा तो उसमें 'कोटले : कोट्टरि कोट्टम्मा, नग्न स्त्री, दुर्गा आदि' विवरण मिला। देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। अपनी युवावस्था में आजीमों के उस मन्दिर में पहुँचने पर मुझे वस्त्रों को उतार फेंकनेवाली घटना की संगति समझ में आयी। मातृदेवी के नग्न

रूपाराधन के सदियों पुराने रिवाज ने आजीमाँ के मन पर गहरा प्रभाव छोड़ा था। नहीं तो सारे समाज में वैसी हरकत वे नहीं करतीं। आजीमाँ की अन्तर्दृष्टि कितनी गहरी और दूरगत थी इसके प्रमाण मुझे मिल चुके थे। अब यहाँ भी एक नग्न मूर्ति मिली थी। परन्तु यह मूर्ति हम लोगों की कल्पना से भिन्न थी। यह जैनों की होनी चाहिए। मेरी यह मान्यता यदि ठीक है तो किसी ज़माने में यह मण्डप जैन बसदि रहा होगा। इसके विषय में और अधिक जानने का मेरा कुतूहल बढ़ गया। सोचा, आजीमाँ के हाथ में इसे देकर उनसे भी मालूम करूँ।

मेरा कौतुक वहीं तक शान्त नहीं हुआ। उस भग्न मन्दिर के चारों ओर पेड़-पौधों में नीचे देखते हुए मैं वहीं घूमने लगा। जैसा मेरा अनुमान था, मन्दिर के द्वार की ओर पास ही ज़मीन में अधगड़ा एक और स्तम्भ दिखा। उसके पास वैसे ही चार-पाँच पत्थर और पड़े हुए थे। वहीं एक नग्न पाषाण-मूर्ति भी पड़ी थी। बीच से टूटी हुई वह मूर्ति किसी देवी की थी। देखने पर पाया कि वह हमारी ही देवियों में से किसी एक की थी—दुर्गा, लक्ष्मी या किसी और की।

उस मूर्ति के खण्ड काफ़ी भारी-भारी थे। उन्हें घर ले जाने का साहस मुझमें नहीं था। कांसे की उस मूर्ति को ले जाने को अवश्य ही जी चाह रहा था। पर साँझ से पहले ही उसे लेकर घर पहुँचने का साहस फिर भी न जुटा पाया। कहीं सीता ने देख लिया तो 'यह कहाँ से क्या उठा लाये' आदि-आदि कहना शुरू कर देगी। कुछ भी हो उस मूर्ति को घर ले ही जाना चाहता था। आजीमाँ उसे देखकर क्या कहती हैं यह सुनने को मैं उत्सुक था। फिलहाल तो उसे वहीं-कहीं छुपाकर रखना उचित था।

इधर-उधर देखने के बाद मैंने एक झाड़ी के नीचे उसे रख दिया और ऊपर से मिट्टी डालकर गाँव के मन्दिर की ओर चल दिया। वहाँ ढहे और टूटे पड़े सभा-मण्डप और वसन्त-पुष्करिणी को देखना बाकी था। जहाँ मैं था वहाँ से वह स्थान चारेक फ़र्लांग भी नहीं था।

अभी तक अपने देवालय के बारे में मैंने कुछ नहीं बताया। अब सुनो। हमारे गाँव का मन्दिर काफ़ी बड़ा है। ताँबे का छतवाला अर्धवर्तुलाकार मन्दिर है। पत्थर के इस मन्दिर के ऊपर एक काष्ठ निर्मित मुखमण्डप है। सुन्दर चित्रकारी की गयी है उसमें। नीचे गर्भगृह है और उसके चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ। आगे नवरंग है, फिर नंदी के लिए बिना नापे-जोखे बनाया हुआ बड़ा-सा पत्थर का मण्डप। इसे 'नन्दिमण्डप' कहने को मैं तो तैयार नहीं। गाँववाले भले ऐसा कहते हैं सो कहते रहें। गर्भगृह में लिंगरूपी शिव हैं। इन्हें हम कपालेश्वर कहते हैं। क्या अर्थ है इस नाम का, मैं नहीं जानता। कपालियों के बारे में मैंने कुछ सुना ज़रूर है। कहते हैं इस नाम का भी एक पुरातन मत था। हमारे लिए तो यह शिव का मन्दिर है, पीठस्थ लिंग को छोड़ इस गर्भगृह में और कोई चिह्न नहीं

है। यह शिव भी रुण्डमाली शिव नहीं है।

वहाँ काँसे की एक उत्सव-मूर्ति भी है। यह मूर्ति किस प्रकार है यह तो देवालय के पुजारी सुब्बण्णा भट्ट को ही मालूम। पर हर साल यात्रा के सातों दिन उस मूर्ति के पीछे रेशम और चाँदी की प्रभावलि बाँधकर उसे सिर पर रखे हुए उत्सव मनाया जाता है। सवेरे, दोपहर और शाम तीनों समय भगवान् की विधिवत् पूजा-अर्चना-सी की जाती है। उस समय एक बड़ा मेला भी लगता है। उस मेले में ग्रामीण लोग, और शहरी व्यापारी आकर दूकानें लगाते हैं। कोई बर्तन बेचता है, कोई कपड़ा। मिठाई की भी दूकानें रहती हैं और मनिहारी की भी।

बरसों पहले मैंने इसी मेले में पहली बार नागी को देखा था। उसपर और उसके दोनों बच्चों पर तरस खाकर कुछ पैसे देने के लिए दुस्साहस करने पर उससे जली-कटी भी सुनी थी। वह सब मैं भूला नहीं हूँ। उसके बाद कॉलिज चला गया तो गाँव के मेले में जाने का अवसर ही नहीं मिला। पढ़ाई पूरी होने के बाद गृहस्थ बनकर जब गाँव में रहने लगा तब से सीता और बच्चों को साथ लेकर हर साल इस मन्दिर के मेले में जाया करता हूँ। एक आजीमाँ ही हैं जो पता नहीं कब से मेले में जाना छोड़ चुकी हैं। मैं भी उन्हें अब साथ चलने के लिए ज़ोर नहीं देता।

बचपन की बात सचमुच कुछ और होती है। मैं और मेरा भाई नारायण जुड़वाँ बच्चों की तरह थे। हम दोनों मिलकर ही खाते थे, मिलकर ही स्कूल जाते थे। गाँव में कहीं मेला लगा हो तो बस मेले के आठों दिन हम दोनों मन्दिर में जमे रहते थे। सिर्फ भोजन के लिए घर आते और फिर जल्दी लौट जाते। मन्दिर में मेला तो अब भी होता है पर रथोत्सव का क्रम अब कई बरसों से बन्द हो गया है। आजीमाँ जब छोटी थीं तब यहाँ रथोत्सव भी होता था। सुना है, जिस साल हमारे दादाजी स्वर्गवासी हुए थे उस साल वह आखिरी रथोत्सव था। न जाने वह रथ किस ज़माने का था। चालीस-पचास बरस पहले उसे एक कोने में ढकेल दिया था। वहाँ पड़ा-पड़ा वह समय के साथ-साथ जर्जर होता गया। काठ का बड़ा रथ था वह। यहाँ तक कि बरसा-पानी में भीग-भीगकर उसकी लकड़ी भी गल-सड़ गयी। सब मिलाकर अब वह एक मिट्टी का ढेर बनकर रह गया है। अब तो जैसे वह कपालेश्वर भगवान् के वैभव के प्रतीक की समाधि बन चुका है। जाति, मत, धर्म, देवी-देवता, संपदा, वैभव—सभी का यही तो हाल होना है।

कपालेश्वर मन्दिर के प्रांगण में पहुँचने पर मेरी दृष्टि पहले उसके सामने की वसन्त-पुष्करणी पर पड़ी। मन्दिर अगर किसी नदी के तट पर होता है तो देवताओं को अवभृत स्नान के लिए नदी पर ही ले जाते हैं। हमारे गाँव के पास नदी तो है नहीं, पर एक-दो नाले अवश्य हैं। मेले के दिनों कभी-कभी उनमें भी पानी नहीं रहता। इसी कारण पत्थर से बनी इस छोटी पुष्करिणी में पानी भर लिया जाता

है। भगवान की मूर्ति को उसमें डुबाते हैं या नहीं, यह मैंने नहीं देखा है। भगवान् के अवभृत के लिए एक लोटा पानी काफ़ी है। शूद्रों से भरवाये गये उस पानी में भगवान का अवगाहन तो नहीं हो सकता! तो फिर यह पुष्करिणी यहां क्यों है? मन्दिर यदि भगवान् श्रीकृष्ण का होता तो होली खेलने के लिए उसका औचित्य भी समझ में आ सकता है।

पर, हमारे गांव में तो उत्सव की परम्परा ही निराली है। हम अपनी इस हौदी अर्थात् इस पुष्करिणी में हल्दी नहीं डालते। मेले के आखिरी दिन सभा-मण्डप में उत्सव-मूर्ति को बिठाकर ज़ोर-शोर से बाजा बजाया जाता है। मानो भगवान् के कानों को कोप देना चाहते हों। उसी समय उस उत्सव-मूर्ति के आगे ही लोग उस पुष्करिणी में कूद पड़ते हैं। उसी के ऊपर बीचों-बीच केले का भौरा रस्सी के एक ओर बांधकर घिरनी से उसे ऊपर-नीचे खींचा जाता है। लोग-उचक उचककर उस भौरे को पकड़ने का प्रयास करते हैं। उचकने वालों को केला मिले या न मिले, पानी में तो वे गिरते ही हैं। इस तमाशे के लिए हमारे गांव की एक विशिष्ट जाति के लोगों को ताड़पत्र पर निमंत्रण भी भेजा जाता है। वे लोग बाजे सहित 'हौदिराय का उत्सव' उद्घोषण करते हुए मन्दिर आते हैं। लगता है, किसी ज़माने में मूडूरु, नडूरु और पडूरु का कोई हौदिराय नाम का राजा रहा होगा। उसी ने यह रिवाज चलाया होगा। निमंत्रण को स्वीकार करके वह आमन्त्रित जन जब यहां आकर कपालेश्वर के सान्निध्य में इस प्रकार की जल-क्रीड़ा करते रहे होंगे। दिन-रात श्मशान भूमि में रहनेवाले कापाली शिव के इस वसन्तोत्सव का भला क्या औचित्य? शायद किसी और देवी-देवताओं के पूजाविधान के अनुकरण में हमारे गांव के शिव को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा। कुछ भी हो इस बारे में मैंने कभी ज़्यादा कुछ सोचा भी नहीं। हमारे गांव के बुजुर्ग भी मेरे ही जितने समझदार हैं। बचपन में तो यह उत्सव देखकर हम बहुत खुश होते थे। पुष्करिणी के ऊपर लटके हुए केले हमारे गांव का कौन बहादुर हस्तगत कर लेता है—उस समय यह उत्सुकता रहती थी। परन्तु अब मुझे उसमें कोई दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन जहां उत्सव-मूर्ति को बिठाते थे, पत्तों की उस आंधी में उस मण्डप की छत ढही हुई देख मैं खिन्न हो गया। उस प्रचण्ड आंधी ने भगवान् के उस मण्डप को भी नहीं छोड़ा था।

वह सब देखने के बाद घर लौटा तो दरवाज़े पर ही किट्टू पूछ बैठा, "कहां गये थे?"

"मन्दिर।"

"मुझे छोड़कर क्यों गये?"

"मेला हो चुका है। अब तुझे किसलिए ले जाता?"

"तो आप वहां किसलिए गये थे?"

"सुना था मण्डप टूटा पड़ा है। सो देखने चला गया था।"

"क्यों टूट पड़ा ? उसे किसने गिराया ?"

"परसों की आँधी-बारिश में ढह गया।"

"तो फिर क्या अगले साल खेल-तमाशा नहीं होगा ?"

किट्टू के उस प्रश्न से मुझे मेरा बचपन याद आ गया। बचपन में रथोत्सव बन्द हो गया सुनकर मैं बहुत उदास हो गया था। किट्टू को मैंने समझाया, "मण्डप गिर गया तो क्या हुआ, दूसरा बन जायेगा। और मण्डप नहीं भी हो तो खेल-तमाशे के लिए पुष्करिणी तो है ही।"

वहाँ से जब मैं कुएँ की ओर चल पड़ा तभी ध्यान आया कि पत्थर के उस मण्डप की तरफ से लौटता तो काँसे की उस प्रतिमा को भी साथ लेता आता। पता नहीं कैसे भूल गया ?

बारह

दूसरे दिन शाम को सूरज डूबने में थोड़ी देर पहले, मैंने आजीमाँ को पीपल-चबूतरे पर बैठा पाया। वे अपने आप कुछ बड़बड़ा रही थी। उनसे बातचीत करने का ठीक यही समय है यह सोचकर मैं धीरे से उनके पास गया। आजीमाँ को जब कभी थकावट महसूस होती है वे चुपचाप सो जाती हैं। अगर वे बैठी होती है तो समझ लीजिए उनका शरीर और उनका अन्तर्मन दोनों जाग्रत है, सक्रिय है। यह उनका स्वभाव था, और मैं इसे अच्छी तरह जान चुका था। वे जब उठ बैठती है और उनकी आँखें खुली रहती हैं तो उनका मन न जाने कहाँ-कहाँ घूमता रहता है। उस समय उनके होंठ भी हिलते हैं और उनके मुँह से कुछ न कुछ आवाज़ जरूर निकलती रहती है। दो-एक बार तो त्वर चढ़ाते या क्रोध से होंठ हिलाते भी मैंने उन्हें देखा था। यों तो उनके अन्तर्मन का द्वन्द्व स्वतः प्रकट हो जाता है, परन्तु उनकी मनोदशाओं, इन भाव-भंगिमाओं का क्या अर्थ होता है यह पता लगाना सम्भव नहीं होता। घर की वे ही बड़ी है, बुजुर्ग हैं। जो उन्हें पसन्द नहीं होता, हम वह कभी नहीं करते। मैं सीता और मेरे बच्चे किसी ने भी उनके मन को कभी दुखी नहीं किया। वे तो अपने जीवन की संध्या में पैर रख चुकी थी। उनकी अब कोई अपेक्षाएँ नहीं है। जब से मैं बड़ा हुआ हूँ उनके विषय में दिलचस्पी लेने लगा, तब से उन्होंने कभी किसी चीज़ के लिए दूसरों से नहीं कहा। वैसे भी वे कभी किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं करतीं।

भगवान् से उन्होंने कभी कुछ नहीं माँगा। बाल्यावस्था में ही वैधव्य प्राप्त होने पर शायद विधाता को कोसा होगा, अपने स्त्री-जन्म की निन्दा भी की होगी, परन्तु मैंने वह सब देखा ही नहीं। बाद में बड़ी होकर लोकानुभव के साथ प्रौढ़ जीवन कैसा बीता होगा, यह भी मुझे ज्ञात नहीं। मुझे तो उनको जानने-समझने का अवसर तब मिला जब वे अपनी आयु के तीसरे पहर में पाँव रख चुकी थीं। ब्रह्म, विधि, भगवान्, परमात्मा आदि का नाम तो वे भी लेती हैं, परन्तु जिस अर्थ में हम उन्हें मानते हैं, उस अर्थ में वे इन शब्दों का प्रयोग नहीं करतीं—ऐसा मुझे लगा। अपनी समझ के बाहर की वस्तु को ही शायद वह भगवान् मानती हैं फिर भी उनके मानने से कभी भी दीन नहीं बनीं; लेकिन अहं की बात भी उन्होंने कभी नहीं की होगी।

उनकी बड़बड़ाहट या स्वगत संभाषण से एक प्रकार से उनके चिन्तन की अभिव्यक्ति होती है।

जब मैं उनके पास गया तो वे किसी चिन्तन में डूबी हुई थीं। मैं चुपचाप बैठा रहा। चिन्तन की कड़ी टूटते ही आजीमाँ जब मुझे देखेंगी तो जरूर बुलाएँगी, यह मैं जानता था। अपने मन में दो विषयों से सम्बन्धित अर्जी लेकर मैं उनकी इस कचहरी में उपस्थित हुआ था। थोड़ी ही देर हुई थी कि उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा, "कौन, अरे तुम हो बेटे!"

आजीमाँ कभी-कभी मुझे बड़ा बेटा भी कहती थीं। कुछ भी हो, घर में अब नानादन तो था नहीं। सो बेटा भी मैं था और बड़ा बेटा भी मैं।

"हाँ आजीमाँ, मुझे लगा कि आपसे कुछ पूछूँ, यदि आपको फ़ुरसत हो तो…!" मैंने बातचीत करने की भूमिका बाँधी।

"फ़ुरसत? मुझे जाना भी कहाँ है? वह भी तो मुझे बुलाता नहीं। सो मैं भी नहीं जाती।"

"आजीमाँ, मेरे मन में एक विचार आया है, उसी के बारे में पूछने आया था।"

"क्या है बोलो!"

"रामायण के राम-सीता, भागवत के श्रीकृष्ण-रुक्मिणि, सत्यभामा; इसी तरह शिव और पार्वती—ये सभी देवी-देवता बार-बार अवतार लेते रहे; मनुष्य होकर हमारे बीच जन्मे। दुष्टों का विनाश और शिष्टों का परित्राण ही उनके अवतार लेने का उद्देश्य रहता है—यह तो हम सुनते आ रहे हैं। लोग तो कहते ही हैं, भागवत, रामायण और महाभारत में भी यही लिखा हुआ है। लेकिन कौन जाने उसमें क्या सच्चाई है, क्या झूठ है! सकल-स्वरूपी, सकल-व्यापी भगवान् को यहीं पड़े हुए कूड़े-करकट को हटाने के लिए क्या अवतार लेना आवश्यक है? कूड़ा-करकट से मेरा तात्पर्य केवल छोटे-मोटे प्राणियों से ही नहीं है, रावण या

हिरण्यकशिपु जैसे दुष्ट ही क्यों न हों, इन कीड़े-मकोड़ों को नाश करने के लिए तो उनपर गाज गिराने से ही काम चल सकता है। इतने से कार्य के लिए भी भगवान् को अवतार लेने की क्या जरूरत ? वस्तुतः अवतार तो हम सबका है। हम सबका अर्थात् पुरुष-स्त्री, कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी ये सब।

"अब देखिये, विष्णु और लक्ष्मी का, राम और सीता का अवतार हुआ। यहाँ भी, इस अवतार में भी, ये पति-पत्नी बने। तो क्या मैं और मेरी सीता इसी तरह अगले जन्म में भी पति-पत्नी बने रहेंगे ? अगर भगवान् की आत्मा के विषय में यही बात हो सकती है तो हमारी आत्मा के विषय में क्यों नहीं ?" मैंने पूछा।

"मरने के बाद किसका क्या होगा यह तो मैं नहीं जानती, बेटा। पूर्व जन्म में मैं थी भी, या मेरा अगला जन्म भी होगा—यह मैं नहीं जानती। कहते हैं, हमारी इस आत्मा को सैकड़ों जन्म ढोने पड़ते हैं। इसमें क्या सच्चाई है, क्या झूठ है—यह भी मैं नहीं जानती। भगवान् यानी परमात्मा। और उस परमात्मा को भी जन्म ढोना पड़ता है यह मेरी समझ के बाहर है। भगवान् तो सम्पूर्ण है, अखण्ड है। इस अखण्ड के एक अंश का जन्म लेना या अवतार धारण करना, यह एक मात्र कहानी है। हमें अपनी तुष्टि के लिए कोई समाधान चाहिए। दुष्टों का नाश और शिष्टों का परित्राण यही तो हम चाहते हैं। इसीलिए, हमारे इसी समाधान के लिए, हमने सैकड़ों देवी-देवताओं को जन्म दिलवाया। हजारों दुष्टों का संहरण करवाया। इन्द्र और वरुण को भी अपने बीच घसीट लाये। फिर बाद में उन्हें हटा भी दिया। माँ, दुर्गा, कोट्टम्मा, चण्डि, चामुण्डि—ऐसे कई देवी-देवताओं को हमने जन्म दिलवाया। उनकी पूजा भी की और फिर उन्हें भूल भी गये। इस प्रकार हमने अपनी तरह अपने भगवान् को भी अल्प आयु ही दी। शायद इसी कारण से इन्द्र, वरुण, मरुत कोई भी आज हमारे बीच नहीं रह गये।"

"तो क्या आप यह कहती हैं कि पुनर्जन्म होता ही नहीं ?"

"बेटा, कुछ हैं जो मानते हैं, कुछ नहीं भी मानते। पर मुझे तो लगता है, अगर स्वर्ग और नरक है तो फिर पुनर्जन्म की बात नहीं बनती।"

"आजीमाँ, तो फिर हम क्या स्वर्ग-नरक को मान लें ? यमराज और चित्र-गुप्त को भी मान लिया जाय ?"

आजीमाँ समझाते हुए बोलीं, "देखो छोटे बच्चे जब शरारत करते हैं [illegible] बड़ों की बात नहीं मानते तो हम उन्हें 'गुम्मा भूत आकर उठा ले जायेगा' [illegible] डराते हैं, परन्तु तुमने या मैंने उस गुम्मा को कभी देखा है ? फिर भी [illegible] हठ करने लगता है तो तुम उसे भूत का नाम लेकर ही डराते हो। [illegible] थे तो मैं भी यही करती थी। जो कुछ हम कहते हैं वह सब सच [illegible]

पहले यह बताओ, तुम्हारे मन में यह विचार क्यों उठा ? मुझे तो मरने का डर नहीं है। मरने के बाद मुझे कुछ भी नहीं होगा। जब मैं ही नहीं डरती तो तुम्हारे मन में यह भय कैसा ?"

"उस भय से तो मैंने नहीं पूछा, आजीमाँ। मरना तो सभी को है। जब मौत आती है तो कोई उसे रोक नहीं पाता। हम बिना किसी से पूछे जन्म लेते हैं और बिना कुछ कहे मर भी जाते हैं। यह सब मैं अपने बारे में नहीं पूछ रहा था। बेचारी उस नागी को देखकर मेरे मन में पुनर्जन्म का यह प्रश्न उठा था। नागी ने अपनी बेबसी में गलती तो की, यह तो सच है परन्तु रामण्णा, उसने तो कोई गलती नहीं की। वह तो उसके दिये हुए पनडब्बे को ही नहीं भूला। राम और सीता की तरह, ये दोनों अगले जन्म में भी पति-पत्नी बन सकते तो कितना अच्छा होता।" मैंने अपने मन की बात बता दी।

"ओः यह बात है !" आजीमाँ मुसकरायीं। बोलीं, "बेटा, वे दोनों इसी जन्म में पति-पत्नी बनकर रहें तो ठीक होगा। पुनर्जन्म एक बार मान भी लें तो पता नहीं कौन कहाँ जन्म लेगा। हो सकता है अगले जन्म में यह कौवा बन जाय और वह चिड़िया या फिर वह कौआ बन जाय और यह चिड़िया !"

आजीमाँ की इस बात को सुनकर मुझे तो हँसी आयी। उसके साथ ही, मेरे मन में जो विचार आया था उसकी प्रतिध्वनि उनके मन में भी आयी होगी, ऐसा मुझे लग रहा था। इस विषय में कुछ कहूँ यह इच्छा होते हुए भी मैंने उस बात को वहीं छोड़ दिया। मेरे सामने एक और प्रश्न था न ! वही पत्थर के मण्डप से उठाकर लायी काँसे की मूर्ति के बारे में जिज्ञासा। कपड़े में लिपटी उस मूर्ति को निकालकर, 'आजीमाँ इसे देखिये,' कहकर उनके सामने बढ़ायी। वे उसे अपने हाथ में लेकर अपने स्वभाव के अनुसार कुछ क्षण मौन रहीं। मैंने खुद ही सब कुछ बता दिया कि मुझे यह कहाँ मिली, कैसे मिली।

वजनदार है ! लगता है काँसे की है।" कहकर आजीमाँ उस मूर्ति के ऊपर अपना हाथ फेरने लगीं। फिर थोड़ी देर के बाद कहा, "यह भी किसी आराध्य देव की ही मूर्ति है। ऐसा जान पड़ता है कि यह किसी दूसरे सम्प्रदाय के आराध्य की है। यह शायद किसी ऋषि-मुनि की भी हो सकती है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा के बाद, सौ-दो-सौ साल तक इसकी पूजा होती रही। न जाने कितने हाथों ने इस मूर्ति को छुआ होगा। उनमें से एक हाथ तो किसी दुष्ट का भी है। बहुत ही दुष्ट हाथ था वह। दुष्ट से मेरा मतलब कि उस व्यक्ति में सहनशक्ति बिलकुल नहीं थी। हाँ, हाँ, मैं जो कह रही हूँ, ठीक है। यह मूर्ति-प्रतिष्ठा भी ईर्ष्यावश हुई थी। इन्द्र को भगाकर सूर्य को ले आये, सूर्य को भगाकर विष्णु को लाये। उस विष्णु को भगाकर नारायण को ले आये। उसी तरह इसकी भी एक कहानी है। किसी जमाने में, यह मूर्ति जनार्दन की यानी विष्णु की थी। परन्तु उसे

पिघलाकर यह दोणु अर्थात् नग्न बनायी गयी। मुझे तो लगता है, पहले इस मूर्ति का आकार, गरुडवाहन विष्णु का था। और वह मूर्ति भी उसी जगह पर थी, जहाँ बाद मे इस मूर्ति को प्रतिष्ठापित किया गया। शायद उस जगह काफी कुछ परिवर्तन किये गये होंगे। तुम कह रहे थे न, यह तुम्हें पत्थर के मण्डप में मिली। तब तो वहाँ किसी जमाने में जो देवस्थान था, मन्दिर था, वह अब बसदि बन गया था। और वह बसदि अब मण्डप बन गयी है।" इतना कहने के बाद, आजीमी चुप बैठ गयीं। मैं उसके चेहरे को ताकता रहा। अँधेरा होने के कारण उनके चेहरे पर क्या भाव था वह मैं नहीं पढ़ सका। न जाने उन्हें क्या दिखाई पड़ रहा होगा।

"अरे बेटा, यह जहाँ थी उस जगह काफी रक्तपात भी हुआ। उस मूर्ति वाले मन्दिर के आँगन मे ही, इस गाँव के लोग चाकू-छुरी, हथियार लेकर झगड़ने लगे। इस गुड़िया को पूजनेवाले एक राजा ने,होगा कोई छोटा जागीरदार, इस गाँव को घेर लिया। लोगों को मारपीटकर उसने इस गाँव को अपने अधिकार मे कर लिया। देखो, उसकी जात-पात कुछ अलग ही थी। उसका आराध्य अलग ही था। जीतने के बाद वह इस गाँवपर राज करने लगा। दस साल बीतने के बाद भी हारे हुए लोग उसके डर से चुप हो रहे। फिर तो उस राजा ने अपने राज्य की ओर विस्तार कर लिया। वह जिस स्थान से आया था, उस स्थान से उसके और भी लोग आ गये। उन सबने यहाँ पर अपना अधिकार जमा लिया। गाँव के लोग काश्तकार बने और ये मालिक। बड़ो की खुशामद करना तो पड़ता ही है। हमारे गाँव के आस-पास के लोगों ने भी वही किया। छोटे-लोगों ने भी वही किया। छोटे लोगो में यह तो चलता ही रहता है लेकिन इस गाँव का मुखिया कहलाने वाला व्यक्ति भी स्वयं उनकी खुशामद करने लगा। कौन जाने उसे क्या हुआ कि अपनी जाति छोड़, उस राजा की जाति अपना ली। उसने राजा को अपनी बेटी भी दे दी। उस मुखिया के पीछे और दस लोगो ने भी वही किया। इससे गाँव मे न कोई आग भड़की, न किसी तरह का उपद्रव हुआ, लेकिन गाँव के लोगों के मन का खून उबलने लगा। दूसरे स्थान से आकर अपना अधिकार जमाये बैठे लोगो ने शिव और अम्बा के बारे मे तुच्छ-तुच्छ बातें करनी शुरू कर दी। उससे गाँव के लोग और भी खिन्न हुए। किसी पुराने जमाने मे ब्राह्मणो ने भी शिवलिंग को देखकर क्या-क्या नही कहा था? उसी तरह ये लोग भी कुछ का कुछ कहने लगे। कुछ लोगो ने तो अपने-अपने सम्प्रदाय छोड़ इस नये धर्म को अपना लिया। बाकी जो यह सब नही कर पाये उनका मन तो उबल ही रहा था, फिर भी वे अपने इस संकट मे दुखों के घूँट पीते रहे। इन्ही परिस्थितियों मे इस मूर्ति का प्रादुर्भाव हुआ।

"... [illegible] नहीं रहा। यदि जीव शाश्वत नहीं, मनुष्य

पहले यह बताओ, तुम्हारे मन में यह विचार क्यों उठा ? मुझे तो मरने का डर नहीं है। मरने के बाद मुझे कुछ भी नहीं होगा। जब मैं ही नहीं डरती तो तुम्हारे मन में यह भय कैसा ?"

"इस भय से तो मैंने नहीं पूछा, आजीमाँ। मरना तो सभी को है। जब मौत आती है तो कोई उसे रोक नहीं पाता। हम बिना किसी से पूछे जन्म लेते हैं और बिना कुछ कहे मर भी जाते हैं। यह सब मैं अपने बारे में नहीं पूछ रहा था। बेचारी उस नागी को देखकर मेरे मन में पुनर्जन्म का यह प्रश्न उठा था। नागी ने अपनी बेबसी में गलती तो की, यह तो सच है परन्तु रामण्णा, उसने तो कोई गलती नहीं की। वह तो उसके दिये हुए पनडब्बे को ही नहीं भूला। राम और सीता की तरह, ये दोनों अगले जन्म में भी पति-पत्नी बन सकते तो कितना अच्छा होता।" मैंने अपने मन की बात बता दी।

"ओः यह बात है !" आजीमाँ मुसकरायीं। बोलीं, "बेटा, वे दोनों इसी जन्म में पति-पत्नी बनकर रहें तो ठीक होगा। पुनर्जन्म एक बार मान भी लें तो पता नहीं कौन कहाँ जन्म लेगा। हो सकता है अगले जन्म में यह कौवा बन जाय और वह चिड़िया या फिर वह कौआ बन जाय और यह चिड़िया !"

आजीमाँ की इस बात को सुनकर मुझे तो हँसी आयी। उसके साथ ही, मेरे मन में जो विचार आया था उसकी प्रतिध्वनि उनके मन में भी आयी होगी, ऐसा मुझे लग रहा था। इस विषय में कुछ कहूँ यह इच्छा होते हुए भी मैंने उस बात को वहीं छोड़ दिया। मेरे सामने एक और प्रश्न था न ! वही पत्थर के मण्डप से उठाकर लायी काँसे की मूर्ति के बारे में जिज्ञासा। कपड़े में लिपटी उस मूर्ति को निकालकर, 'आजीमाँ इसे देखिये,' कहकर उनके सामने बढ़ायी। वे उसे अपने हाथ में लेकर अपने स्वभाव के अनुसार कुछ क्षण मौन रहीं। मैंने खुद ही सब कुछ बता दिया कि मुझे यह कहाँ मिली, कैसे मिली।

वज़नदार है ! लगता है काँसे की है।" कहकर आजीमाँ उस मूर्ति के ऊपर अपना हाथ फेरने लगीं। फिर थोड़ी देर के बाद कहा, "यह भी किसी आराध्य देव की ही मूर्ति है। ऐसा जान पड़ता है कि यह किसी दूसरे सम्प्रदाय के आराध्य की है। यह शायद किसी ऋषि-मुनि की भी हो सकती है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा के बाद, सौ-दो-सौ साल तक इसकी पूजा होती रही। न जाने कितने हाथों ने इस मूर्ति को छुआ होगा। उनमें से एक हाथ तो किसी दुष्ट का भी है। बहुत ही दुष्ट हाथ था वह। दुष्ट से मेरा मतलब कि उस व्यक्ति में सहनशक्ति बिल्कुल नहीं थी। हाँ, हाँ, मैं जो कह रही हूँ, ठीक है। यह मूर्ति-प्रतिष्ठा भी ईर्ष्यावश हुई थी। इन्द्र को भगाकर सूर्य को ले आये, सूर्य को भगाकर विष्णु को लाये। उस विष्णु को भगाकर नारायण को ले आये। इसी तरह इसकी भी एक कहानी है। किसी ज़माने में, यह मूर्ति जनार्दन की यानी विष्णु की थी। परन्तु उसे

पिघलाकर यह दोणु अर्थात् नग्न बनायी गयी। मुझे तो लगता है, पहले इस मूर्ति का आकार, गरुडवाहन विष्णु का था। और वह मूर्ति भी उसी जगह पर थी, जहां बाद में इस मूर्ति को प्रतिष्ठापित किया गया। शायद उस जगह काफी कुछ परिवर्तन किये गये होंगे। तुम कह रहे थे न, यह तुम्हें पत्थर के मण्डप में मिली। तब तो वहां किसी ज़माने में जो देवस्थान था, मन्दिर था, वह अब बसदि बन गया था। और वह बसदि अब मण्डप बन गयी है।" इतना कहने के बाद, आजीमां चुप बैठ गयी। मैं उसके चेहरे को ताकता रहा। अंधेरा होने के कारण उनके चेहरे पर क्या भाव था वह मैं नहीं पढ सका। न जाने उन्हें क्या दिखाई पड़ रहा होगा।

"अरे बेटा, यह जहां थी उस जगह काफी रक्तपात भी हुआ। उस मूर्ति वाले मन्दिर के आँगन में ही, इस गांव के लोग चाकू-छुरी, हथियार लेकर झगड़ने लगे। इस गुड़िया को पूजनेवाले एक राजा ने, होगा कोई छोटा जागीरदार, इस गांव को घेर लिया। लोगों को मारपीटकर उसने इस गांव को अपने अधिकार में कर लिया। देखो, उसकी जात-पात कुछ अलग ही थी। उसका आराध्य अलग ही था। जीतने के बाद वह इस गांव पर राज करने लगा। दस साल बीतने के बाद भी हारे हुए लोग उसके डर से चुप हो रहे। फिर तो उस राजा ने अपने राज्य की ओर विस्तार कर लिया। वह जिस स्थान से आया था, उस स्थान से उसके और भी लोग आ गये। उन सबने यहां पर अपना अधिकार जमा लिया। गांव के लोग काश्तकार बने और ये मालिक। बडों की खुशामद करना तो पडता ही है। हमारे गांव के आस-पास के लोगों ने भी वही किया। छोटे-लोगों ने भी वही किया। छोटे लोगों में यह तो चलता ही रहता है लेकिन इस गांव का मुखिया कहलाने वाला व्यक्ति भी स्वयं उनकी खुशामद करने लगा। कौन जाने उसे क्या हुआ कि अपनी जाति छोड, उस राजा की जाति अपना ली। उसने राजा को अपनी बेटी भी दे दी। उस मुखिया के पीछे और दस लोगों ने भी वही किया। इससे गांव में न कोई आग भड़की, न किसी तरह का उपद्रव हुआ, लेकिन गांव के लोगों के मन का खून उबलने लगा। दूसरे स्थान से आकर अपना अधिकार जमाये बैठे लोगों ने शिव और अम्बा के बारे में तुच्छ-तुच्छ बातें करनी शुरू कर दीं। उससे गांव के लोग और भी खिन्न हुए। किसी पुराने ज़माने में ब्राह्मणों ने भी शिवलिंग को देखकर क्या-क्या नहीं कहा था? उसी तरह ये लोग भी कुछ का कुछ कहने लगे। कुछ लोगों ने तो अपने-अपने सम्प्रदाय छोड़ इस नये धर्म को अपना लिया। बाकी जो यह सब नहीं कर पाये उनका मन तो उबल ही रहा था, फिर भी वे अपने इस संकट में दुखों के घूंट पीते रहे। इन्हीं परिस्थितियों में इस मूर्ति का प्रादुर्भाव हुआ।

"इस मूर्ति का भी भविष्य अच्छा नहीं रहा। यदि जीव शाश्वत नहीं, मनुष्य

शाश्वत नहीं; तो फिर मानव-कल्पित, मानव-निर्मित देवी-देवता कैसे शाश्वत हो सकते हैं? मूल में देवों की कल्पना कुछ भी रही हो, लोग तो बदलते ही रहते हैं। आज का आराध्य देव कल दूसरों द्वारा तिरस्कृत हो जाता है यही सब होता आ रहा है।

"बरसों बाद, इस मूर्ति को जिसने प्रतिष्ठित किया था, वह मर के मिट्टी में मिल गया। उसके पोतों के समय आने तक तो उस वंश का आधिपत्य ही समाप्त हो गया। फिर और ही लोग कहीं से यहाँ आये, यहाँ के लोगों पर अपना शासन किया। उस पहले राजा की जाति के लोग और उनके कुटुम्बी जो एक-दो पीढ़ियों से यहाँ रह रहे थे, यहाँ से चले गये। उन लोगों ने, जिन्होंने अपना मत बदल लिया था, फिर से अपने पूर्वजों के पुराने मत को स्वीकार कर लिया। उसी समय बाहर से कुछ और लोग आये। ये सब अपने शरीर पर भस्म लगाकर हाथ में कमण्डलु लेकर फिरनेवाले लोग हैं। देखने में तो वे वैरागी लगते हैं। शायद शिव-भक्त हैं! ललाट पर भस्म लगाकर गले में रुद्राक्ष पहनकर फिरनेवाले ये लोग, उग्र स्वभाव के हैं। न जाने उनका काफ़िला कहाँ से आया। लेकिन इन्होंने किसी की हिंसा नहीं की, अपना अधिकार जमाने की भी कोशिश नहीं की। ये लोग, हिण्डुगान के देवी के मन्दिर के सामने अँगीठी जलाकर बैठे हैं ऐसा मुझे दिखाई दे रहा है। ये लोग दिन भर सोते हैं। उन्हें देखने के लिए कितने ही लोग आ-जा रहे हैं। वहाँ तो लोगों की अच्छी-खासी भीड़ ही जमने लगी। शायद इसी समय में यह मूर्ति, जिसे तुम उठा लाये हो, वहाँ पूजा-पाठ के बिना एक कोने में जा पड़ी। इसका मन्दिर उजड़ गया और वह चमगादड़ का आश्रय बन गया। इसके बाद किसी ने इस मूर्ति को वहीं पर ज़मीन में गाड़ दिया। यह मूर्ति लोगों के हाथ लगती तो वे इसे पिघलाकर और ही कुछ बना देते। काँसे की प्रतिमा है। इतने काँसे को कौन छोड़ता? खैर, उसके बाद इस मन्दिर के चारों ओर काँटे और पेड़-पौधे उगने लगे। आखिर, वहाँ कभी एक मन्दिर था, यह पहचानना भी अब मुश्किल हो गया।

"बेटा, मैंने तो अपने गाँव के सारे मन्दिर देखे हैं। कहीं भी जाऊँ मुझे ऐसे ही विचित्र-विचित्र दृश्य नजर आते हैं।" आजीमाँ ने कहा।

"मतलब?"

"मतलब तो साफ़ है। न कोई मन्दिर शाश्वत है, न भगवान्। भगवान् शाश्वत है यह मान भी लिया जाये, तो भी वह हमारी पहुँच से बाहर है। हमने अपनी बुद्धि के अनुसार सैकड़ों-हजारों देवी-देवताओं की कल्पना कर ली है, और 'हमारे यहाँ देव सत्य है' आदि कहकर हम अपनी शेखी मारते हैं। जब कभी संकट आता है तो लोग अपने इन्हीं देवताओं के पास जाकर, 'हमें यह दो, वह दो' कहकर गिड़गिड़ाने लगते हैं। करें भी क्या बेचारे? संसार से हारकर कंगाल होकर

निराश हुए व्यक्ति को किसी के सामने अपने आँसू बहाकर ही सान्त्वना मिलेगी। आखिर जीवन के लिए कुछ न कुछ समाधान तो चाहिए। जब समाधान मिल जाता है तो हम कहने लगते हैं 'यह तो उसकी कृपा है' दूसरे शब्दों में 'हमारी भक्ति ही कुछ ऐसी गहरी थी कि भगवान् हम पर प्रसन्न हो गये।' यदि काम नहीं बना तो दूसरी ही तरह बोलने लगते हैं—'उसकी इच्छा नहीं थी इसीलिए अमुक कार्य नहीं हो सका।' हम जो माँगते हैं या चाहते हैं वह होने अथवा न होने पर, हम उसके अनुसार ही भगवान् को मापते हैं। उसी आधार पर उसकी शक्ति का अनुमान लगाते हैं। जब से उसे गढ़कर उसकी पूजा करना आरम्भ किया तभी से उसे एक क्षण के लिए भी चैन से नहीं रहने दिया। 'हमें यह दो, वह दो' कहकर निरन्तर उसे सताते ही रहे। कुछ-कुछ बुद्धिमान लोगों ने ऐसा तो नहीं किया परन्तु इन्होंने भी भगवान् को दुष्ट-संहरण और शिष्ट-परिपालन का काम सौंप दिया। आखिर इसका मतलब भी तो वही है।"

"तो क्या हमें किसी से कुछ माँगना नहीं चाहिये, भगवान् से भी नहीं?" मैंने आजीमाँ से प्रश्न किया।

"हाँ, मुझे तो ऐसा ही लगता है," आजीमाँ बोली। "हम किसी से कुछ भी नहीं माँगें तभी ठीक रहेगा। माँगने के लिए हम कोई बच्चे हैं? लेकिन समझ आने के बाद भी कोई बच्चों की तरह यदि कहे 'माँ, मुझे भूख लग रही है कुछ खाने को दो,' या 'मैं छी-छी कर आया हूँ, धुलाओ' तो कैसा लगेगा?"

जन्म से ही हाथ, पैर, नाक, कान, मुंह सभी कुछ तो मिले हैं। आखिर ये किसलिए हैं? खाने को 'शेर का मुंह दो', वजन उठाकर ले जाने को 'हाथी की देह दो', जहाँ कहीं भी घुस जाने के लिए 'मकोड़े का शरीर दो', कहे तो कैसे सम्भव है? सभी को सभी कुछ चाहिए तो वह कहाँ से देगा? जब हम उसे ही अपना जन्मदाता मानते हैं तो समझ लेना चाहिए कि जन्म देने से पहले ही जो कुछ उसे देना था, उसने दे दिया। कुछ भी कहो, मुझे तो बेटा, किसी से कुछ याचना करना पसन्द नहीं। हमारी तरह ही इस जगत् में हजारों, हजारों नहीं करोड़ों जीव-जन्तु हैं। क्या वे किसी से कुछ माँगते हैं? कभी किसी से याचना करते उन्हें देखा है? और तो और वे तो अपना खाना भी नहीं माँगते, सोने के लिए जगह भी नहीं माँगते। हरिण के सामने कभी बाघ आ जाता है तो वह मदद के लिए याचना नहीं करता। तो फिर बुद्धिवान् समझने वाला मनुष्य, क्या इन कीड़े-मकोड़ों से, इन हजारों प्राणियों से भी गया-बीता है?"

"यह तो ठीक है, आजीमाँ, मैं आपकी इस बात को मानता हूँ। और भी एक प्रश्न है, आजीमाँ।"

"क्या?"

"आजीमाँ, आप तो भक्तों की कई कहानियाँ जानती होंगी—नारद आदि

मुनियों के विषय में···खैर, पुराण के उन कथनों को छोड़िये, आपने तो सन्त पुरंदरदास का नाम सुना ही होगा। उन्होंने तो कभी भगवान् से भोजन-कपड़े की याचना नहीं की। उनका तो वैरागी जीवन था। हाँ, उनकी एक प्रार्थना अवश्य थी। वे सदैव, 'हे विट्ठल, मुझे अपने पास बुला लो,' गाते रहे, तो उनकी यह प्रार्थना क्या याचना नहीं हुई ?"

"यह याचना तो ऐसी है जैसे कोई छोटा बच्चा अपनी माँ से गोद लेने के लिए ज़िद करे। इसका अर्थ यह भी तो हो सकता है कि माँ को कुछ काम नहीं, सो मुझे उठा लेगी। बुलानेवाला वह है, सो समय आने पर स्वयं बुलाएगा। अब तक मुझे बुलावा नहीं आया, इसीलिए तो मैं यहाँ हूँ, तुम भी इसीलिए हो।" आजीमाँ ने कहा।

"इस याचना के पीछे एक बात और हो सकती है, आजीमाँ। 'यह सारा संसार दुःखमय है, यह एक बन्धन है। मुझे तो तू चाहिए—तेरे सिवा कुछ और नहीं चाहिये' यह भावना भी उस भक्त कवि के मन में थी। 'नौ छिद्रों की देह' कहते थे वे। इसके बारे में क्या विचार है ?"

मेरी बात सुनकर आजीमाँ हँस पड़ीं, बोलीं, "तुम्हारे दासजी को शरीर के छिद्रों को देखकर जुगुप्सा हुई थी। मल-मूत्र से जुगुप्सा हुई थी तो 'हे भगवन् ! अगले जनम में उन सभी छेदों को सीकर, मुझे एक थैला-जैसा जनम दो' ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए थी। पर भगवान् के पास जाकर वहीं रहने का मामला तो मेरी समझ में नहीं आता। इसका तो फिर यह अर्थ हुआ कि 'वह' हमारे बीच, इस भूमि पर, संसार में नहीं है। इसी मुंह से तो हम यह कहते हैं कि वह सर्वत्र है, और फिर उसी मुंह से यह कहना कि बिल्ली के घर की तरह उसका भी एक अलग मुकाम है, कहाँ तक ठीक है ? भगवान् सर्वव्यापी है तो वह इस संसार में भी है। विवेक से सोचा जाये तो यहाँ से अर्थात् इस संसार से छुटकारा पाकर भाग जाने की बात ही नहीं उठती। इस तथ्य को समझे बिना उस भगवान् के लिए अलग ही घर बनाकर उसे वहाँ बिठाने की कल्पना के कारण ही वहाँ जाने की एक हमारी विचार-दृष्टि बन जाती है।"

"तो फिर, वैकुण्ठधाम, कैलाशधाम—ऐसा कहते हैं न ? ऐसा क्यों···"

'ठीक है, कहते हैं। लेकिन क्यों कहते है ? जब हमने उस भगवान् को हमारी ही तरह हाथ, पाँव, आँख, मुंह सभी कुछ दे दिये हैं तो उसके लिए एक घर बनाकर भी देना पड़ा। इस प्रकार वैकुण्ठ, कैलास, भगवान् के निवासगृह बन गये। यह धरती हमारा निवासगृह बना। फिर यहाँ से उसका बुलावा हुआ और हमारा यहाँ से उसकी याचना कर-करके जाना हुआ। यह कोई समझदारी की बात नहीं। यह तो हमारी ही कल्पना का और एक व्यामोह है। इसका तो यही मतलब हुआ कि धरती का मोह नहीं, वैकुण्ठ चाहिए। यह सब मुझे ठीक नहीं जँचता।

"यहाँ से जाकर वहाँ रह जाने को ही 'मुक्ति' कहते हैं तो जीव-मुक्ति का मतलब क्या है ? जीव-मुक्ति का मतलब तो यही है न, कि अगले जन्म का न होना। इसीलिए तो भक्तजन इस जन्म लेने के झंझट से बचने के लिए लाख-लाख कोशिश करते हैं।"

"इसका मतलब यह हुआ कि जिसने इन्हें जन्म दिया, उसी का ये विरोध करते हैं। मैं तो ऐसा कुछ भी कहनेवाली नहीं हूँ। एक समय था जब मुझे भी ऐसा ही लगा था। मेरे पति का देहान्त होने के बाद, अपने सुहाग के मिट जाने के बाद; वैधव्य क्या है, कैसा होता है—यह सब जानने के बाद चार दिन मुझे भी इस जन्म से घृणा हो आयी थी। फिर सोचने लगी, वे अगर ज़िन्दा होते और मैं मर गई होती तो क्या होता ? दो दिन आगे-पीछे सही, सभी को ही तो मरना है। कोई आज, तो कोई कल। बस उस दिन के बाद न मैंने मरना चाहा, न किसी से अपनी मौत माँगी और न कभी माँगूगी।

"पुनर्जन्म की कल्पना के कारण ही शायद ऐसा हुआ। लोगों को बार-बार जन्म लेकर संसार के झंझट में पड़ने की अपेक्षा मुक्ति पा जाना ही ठीक लगा होगा। आत्मा के पीछे कर्म, कर्म के पीठ पर जन्म—इससे तो छुटकारा नहीं—यह जैन धर्म में कहा गया है। वे यह कैसे कहते हैं या किस आधार पर कहते हैं—यह तो मैं नहीं जानती पर तात्पर्य यही है।

"जहाँ तक मैं समझती हूँ, जो कुछ भी हम सोचते-करते हैं, चाहे अच्छा हो या बुरा, कर्म है। अच्छे काम से अच्छा जन्म और बुरे काम से बुरा जन्म होता है—लोगों का ऐसा विश्वास रहा आया और उसी को सत्य मान बैठे हैं। लेकिन क्या यह ज़रूरी है कि जीव का पहला अंकुर यहाँ, इस पृथ्वी पर ही हो ? जीव या आत्मा के बिना कर्म का अस्तित्व ही कहाँ ? जीव के अस्तित्व से पहले ही, उस पर कर्म का साया नहीं पड़ सकता। तात्पर्य यह कि जीव का आविर्भाव होने के बाद ही कर्म की बात उठती है। जीव के आविर्भाव से पहले का 'कर्म' हमारा नहीं 'भगवान् का कर्म' कहलायेगा। जीव देह का कवच धारण करके आता ही कर्म करने के लिए है। दूसरे शब्दों में, कर्म करने के लिए ही जीव का अँकुर फूटता है। कर्म रहित जीव, जीव ही नहीं। पत्थर के लिए कोई कर्म नहीं। मैं और तुम जीव हैं और हमारे लिए हमारा कर्म है, कर्म से मुक्त कोई जीव नहीं। जीना ही है तो जीवित रहना होगा। जीवित रहना है तो भोजन, पानी की ज़रूरत होगी ही।"

"तो आप कहना क्या चाहती हैं ?"

"मेरे विचार से हमने जन्म लिया और हम जीवित हैं। किसलिए जन्म लिया और किसलिए जीवित हैं—यह हम नहीं जानते। जब तक जीवित हैं, अपने हित के साथ सबके हित के लिए भी जियें। सबके हित के लिए यानी मात्र मनुष्य के

लिए नहीं, सभी जीवधारियों के हित के लिए भी। जियो तो बस इस तरह जियो। सभी के हित के लिए जीने में शायद कष्ट भी उठाना पड़े। पूछोगे, दूसरों के हित करने की क्षमता हममें न हो तो? हममें बहुत से लोगों को दो समय की रोटी कमाना ही एक समस्या है। ऐसे में दूसरों का भला क्या हित कर पायेंगे? इस बारे में इतना तो कर ही सकते हैं—"

"क्या कर सकते हैं, आजीमां?"

"यही कि दूसरों के प्रति अन्याय न हो। इस तरह तो जिया ही जा सकता है। दूसरों को सुख न दे पायें, न सही; पर दुःख न दिया जाय तो।"

आजीमां की इस बात पर थोड़ी देर सोचकर मैंने कहा, "हां, आपका यह विचार ठीक है, मुझे भी यही ठीक लगता है। अब तक हम जो भी विश्वास करते आये हैं या कहते आये हैं, पुराने जमाने के लोग भी शायद यही कहते आये हैं। हां, इसमें कुछ विचार ऐसे भी हैं जिनमें कोई मेल-जोल नहीं। आपने अभी परस्पर विरोध प्रकट करनेवाला एक उदाहरण भी दिया है कि 'परमात्मा सर्वत्र है, सर्वव्यापी है' यह बात भी कही जाती है, और 'इस संसार से मुझे जल्दी ही उठाकर अपने पास बिठा लो', ऐसा भी लोग कहते हैं। इसी तरह और भी हजारों विभिन्न कल्पनाएँ आयीं और चली भी गयीं। हम ब्राह्मण लोग जो मानकर चले आ रहे हैं, कहा जाता है ये सभी विचार आर्यों की देन हैं, और वेद इन विचारों का मूल है। इन्द्र, रुद्र, मरुत इनकी कहानी तो आपने ही सुनायी है। उस समय के बाद ही से यज्ञ, योग, अजमेध, गोमेध, चाहें तो नरमेध भी कह लें, ज्यादा प्रचलित हुआ। जब यह हिंसा बढ़ गयी तो किसी राजा के बेटे ने, जिसका प्रख्यात नाम 'बुद्ध' था, उन दिनों के ब्राह्मणों के उन मताचारों का विरोध किया। इसी तरह विरोध व्यक्त करनेवालों का एक और पन्थ था—जैन पन्थ! बुद्ध जब तक जीवित रहा, उसने पुनर्जन्म की बात नहीं की। यद्यपि उसने भी इस संसार को एक बन्धन कहा, लेकिन भगवान् के पास जाकर रहने की चर्चा उसने कभी नहीं की। बावजूद इसके उसके शिष्यों ने अपने गुरु भगवान् बुद्ध का पुराण लिखते हुए उसे एक नहीं, दसों जन्म दे डाले। 'भगवान् बुद्ध ने इस जन्म में ऐसा किया, उस जन्म में वैसा किया' कहकर क्या कुछ नहीं लिखा है?"

"हां, उसी तरह जिस तरह हम लोग विष्णु और शिव के अवतार मानते आ रहे हैं," आजीमां बोलीं।

"हां, बिलकुल उसी तरह, आजीमां फिर उसके बाद जैनों ने भी ब्राह्मणों का विरोध किया। फलस्वरूप बुद्ध, ब्राह्मण और जैनों में भगवान् के विषय में, धर्म के विषयों में, स्पर्धा शुरू हुई। उस समय शाक्तों का एक और ही पन्थ था। शाक्तों को तो आप जानती हैं न, वही जिन्होंने 'मां' का पूजन शुरू किया।"

"वे भी क्या कम थे" आजीमां बोलीं। "उन्होंने भी मां भगवती के हजारों

विकराल रूप दिये। रक्त की बलि दी, मदिरापान किया और नाचे-कूदे। सृष्टि को योनि और लिंग का चिह्न देकर उसे पूजने लगे। बाद में, भोग ही सर्वस्व है, ऐसा समझ केवल भोग में जुट गये।"

मैंने अपनी बात आगे बढाते हुए कहा, "दूसरे मतों की तुलना में अपने मत को ऊँचा दिखाने के लिए सबने अपने-अपने सिद्धान्त ग्रन्थ और पुराण लिखे। जैनो ने भी लिखे और बुद्ध के अनुयायियों ने भी। ब्राह्मणों ने भी लिखे। अपने-अपने आराध्य के द्वारा जो जी मे आया वह काम करवाया। जो नही होना चाहिये था, उसे भी करवाया। अपने आराध्य को ऊँचा और दूसरों के आराध्य को नीचा दिखाने का प्रयास रहा। जब इसमे विशेष सफलता नही मिली तो अपने-अपने मन्दिरों के द्वार पर उन्होंने यक्ष, यक्षी बना दिये। सेवक यक्ष-यक्षी। यदि हम इन सभी पुराणों को पढें तो किसे मानना चाहिये और किसे नही, यह पता लगाना ही मुश्किल हो जाय।"

"मैं भी तो उसी संकट में हूँ। कितनी कहानियाँ, कितने पुराण, कितने देवता, कितने अवतार, कितनी कल्पनाएँ और विकल्पनाएँ? इनमें आखिर सार क्या है और निस्सार क्या है, किसमे सत्य है और किसमें मिथ्या यह जानना तो बहुत ही मुश्किल है," आजीमाँ ने कहा।

ठीक उसी समय किट्टू की आवाज सुनाई दी,—"पापाजी, भोजन तैयार है।"

मैंने आजीमाँ से कहा, "बातों में समय का पता नही लगा। चलिये, घर मे चलें। किट्टू भोजन के लिए बुला रहा है।"

मैं उठा। कपड़े मे बँधी उस मूर्ति को हाथ में लिये मैं आजीमाँ के साथ घर की ओर चल पड़ा। उन्हें बरामदे में छोड घर के पिछवाड़े में जाकर, उस मूर्ति को दीवार के ऊपर छिपाकर रख आया। गुफा से मैं जो वस्तुएँ लाया था, उन सभी को भी मैंने वही रख छोडा था। वह मूर्ति कोई बुरी या गन्दी चीज तो थी नही, परन्तु मैं नही चाहता था कि सीता की दृष्टि उस पर पड़े। अगर किट्टू उसे देखता तो हठ कर-करके ले जाता और उसे अपना खिलौना बनाता। और फिर अपने पैर की उँगलियो पर गिरा, रो-रोकर बवाल खड़ा कर देता। सीता उसे देखती तो 'छी-छी, इसे कहाँ से उठा लाये' कहती। उसकी दुनिया की सरहद पूरब में हिण्डुगान, उत्तर मे कोल्लूर, पश्चिम में बैंदूर, और दक्षिण मे कुन्दापुर की सीमाओं तक ही थी।

आजीमाँ से चर्चा करके जो कुछ प्राप्त किया था, उसमे मेरी पढाई का थोडा बहुत अंश मिल जाने से मेरे ज्ञान मे थोडी-सी नयी झलक आ गयी थी। आजीमाँ उपाहार लेकर अपने कमरे में चली गयी। विचारों मे उलझा मैं भोजन को बैठ गया। भोजन करते हुए मैंने पूछा, "लगता है, आज सार नही बनाया है।"

"पहले आपने क्या खाया ? अब तक सार और रस ही तो लिया है।" सीता ने कहा।

"हूँ, दोनों ही ! रस किसका बना है ?"

"आम का और काहे का ? आधे से ज्यादा चावल वही रस डालकर तो खाया है। अचार के साथ भी चावल खा चुके। न जाने आज आपका ध्यान कहाँ है, कौन से गाँव में भटक रहा था ? न जाने किस सिरफिरे ब्रह्मा ने आपकी सृष्टि की ?" सीता ने भुनककर कहा।

हाँ, पेट तो भरा जैसा लग रहा था। पत्तल पर उँगलियाँ चलने के चिह्न भी थे। मैंने सचमुच इतना खाया है ! कहीं सीता मेरा ध्यान कहीं और देखकर मुझे बना तो नहीं रही थी ! मैं ठीक से समझ नहीं पा रहा था। कुछ भी हो, उसने सीधे मुझे गाली देने की बजाय, मेरी सृष्टि करने वाले चतुर्मुख ब्रह्मा को खरी-खोटी सुनाकर उस बहाने मेरे माता-पिता की ही खिल्ली नहीं उड़ायी क्या ? मुझसे भी अब चुप नहीं रहा गया, तो मैंने सीता से पूछा, "अपने सास-ससुर को कोस रही हो ?"

वह चकित हो गयी. "मैंने कब किसे कोसा ?" उसने पूछा।

"हाँ-हाँ, तूने किसी को नहीं कोसा। तूने तो बस चतुर्मुख ब्रह्मा को कोसा है। ब्रह्मा को कोसना या गाली देना, उसकी सारी सृष्टि को कोसने के बराबर है। ब्रह्मा तो एक ही है। जिसने मेरी सृष्टि की उसी ने तेरी भी।"

"हाँ जी, जानती हूँ। वही तो है जिसने तुम्हें मेरे पल्ले बाँध दिया। कुछ भी हो, आप भी आजीमाँ से न जाने क्या-क्या बात सीख रहे हैं ? वहाँ पीपल-चबूतरे पर बैठकर अब तक यही असम्बद्ध बातें करते रहे होंगे......हाँ, कहिए, आपको और क्या परोसूँ—रस चाहिये या अचार ?"

"परोसना है तो दोनों परोस दो। अरे हाँ, अपने लिए थोड़ा बचाकर ही रखना. तू तो कह रही है मैं उबले आम का रस और अचार खा चुका हूँ। हो सकता है, मेरी जीभ को उसके स्वाद का पता न लगा हो, लेकिन उसकी गंध का भी तो पता नहीं, ?" मैंने संशय से पूछा।

सीता ने रसोई से और चावल लाकर परोसा। ऊपर से कच्चे आम का रस भी डाल दिया। अब मैं उसकी गन्ध जान सका। जब एक कौर मुँह में गया तो उसके स्वाद का भी अनुभव हुआ। उसके बाद सीता अचार ले आयी, वह भी खाया। साथ ही, उन उबले आमों को रस में से निकालकर चूसने लगा। और फिर सन्तोषपूर्वक कहा, "देखो सीते, इसमें मेरी ही गलती है। तू पहले ही ये आम परोस देती तो यह सवाल ही नहीं उठता। तू तो जानती ही है, मुझे ये उबले आम बहुत पसन्द हैं। फिर भी तूने नहीं परोसे। कुछ भी हो, अचार और रस दोनों ही स्वादिष्ट बने हैं।"

"पहले ही आम परोस देती तो भी आपका हाल यही होता। आप तो ऊँघ-याते हुए खा रहे थे। कही उन आमों को भी निगलकर 'तूने परोसा ही नही' कहते, तो मैं क्या करती ? कुछ भी हो, दो-दो बार परोसने से आपके हाथों एक 'सर्टिफीट' तो मिला।"

सीता की यह अँग्रेजी सुनकर मैं तो खूब हँसा। पर मैं क्यों हँसा यह वह नही जान पायी।

"हँसने की क्या बात है ? मैंने कौन-सी ऐसी बात कह दी ?" सीता ने पूछा।

"तुम्हारे मुँह से सर्टिफीट सुनकर। 'सर्टिफिकेट' तुम्हारे मुँह में 'सर्टिफीट' बन गया।"

"मैंने तो तुम्हारी तरह पैसे बरबाद करके अँग्रेजी नही सीखी।"

"हाँ, यह बात मैं भी मानता हूँ भई।"

भोजन कर बाहर निकला तो मुझे लगा हमारा गृहस्थ-जीवन शुरू हुए कितने ही दिन बीत गये परन्तु दोनों मे हँसी-खुशी का संभाषण हुआ हो—ऐसा शायद पहला ही मौक़ा था। यों तो सीता की हर बात मुझे तीखी लगती थी, पर आज लगा कि उसमें भी हास्य-प्रवृत्ति है। वह भी मेरी इस बेवकूफी को समझ सकती है। इस बात से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अब हम दोनों के बुद्धि-बल में भी कोई विशेष अन्तर नही रहा और इसी के कारण ही, फिर एक और बुद्धूपन की बात हो गयी।

रात मे बरामदे में मुझसे दो-तीन गज दूर सोई सीता ने मेरे पास आकर पूछा, "क्या नींद आयी ?"

पर मुझे नींद कहाँ ? मैं तो, आजीमाँ ने जो बताया था, उन बैरागियों के पीछे नाचता फिर रहा था। वे बैरागी कौन हैं ? कहाँ से आये ? क्यों आये ? हिड्डुगान की माँ भगवती की पूजा किस प्रकार से हुई ? पत्थर के मण्डप की उस प्रतिमा को, जमीन में क्यों गाड़ दिया गया था ? ऐसे ही कई विचार मेरे मन में घूम रहे थे। ऐसे मे ही सीता ने पूछा था— "क्या आपको नींद आ गयी ?" मुझे सच में ही नींद नही आ रही थी, इसलिए मैंने कह दिया, "हाँ, अभी नहीं आयी।" भोजन के समय तो होश नही था, पर अब सोते समय पूरे होश के साथ जवाब दिया था। मैं खुद आश्चर्य मे पड़ गया। सीता ने कहा, "पीपल-चबूतरे पर बैठकर बहुत देर तक बातें करते रहे। कौनसी बात थी ? जब आप वहाँ गये थे, तो सूरज भी नही डूबा था। जब वहाँ से आप आये तो रात का एक प्रहर बीत चुका था। उतनी देर तक, किस विषय पर आप चर्चा करते रहे ?"

उसके इस प्रश्न मे मुझे उसका कौतुक ही नजर आया। छेड़ने की ऐसी कोई बात वहाँ ध्वनित नही हो रही थी। फिर मैं उसके हास-परिहास मे भी तो प्रसन्न था, सो मैंने बिना कुछ आगे-पीछे सोचे-समझे एक ही साँस मे सभी कहानी कह

दी—उस मूर्ति की पूर्वापर कहानी के बारे में, पुरंदरदास के बारे में, पुनर्जन्म के बारे में और आजीमाँ ने जो कुछ सुनाया था, वह भी कह डाला। साथ ही, इन सभी संदर्भों में मैंने जो अपने विचार प्रकट किये थे, वह सब भी सीता से कह गया। वह चुपचाप सभी कुछ सुनती रही। उसके बाद उसने जो कहा आप जानते हैं? उसने कहा, "उनकी बुद्धि तो स्थिर नहीं, यह तो सारी दुनिया जानती है। और अब उनका ठीक होना भी संभव नहीं है। उनकी बुद्धि ठीक होना तो मूसल में फूल खिलने के बराबर है। क्या आप भी उनकी बातों को मानने लगे? हमारे पूर्वजों ने जिस पर विश्वास किया, वह सब भागवत, पुराण—क्या सब झूठ हैं? विश्वास योग्य नहीं है? भगवान् झूठा है, उसका अवतार भी झूठा है—इस तरह कहना शुरू कर दें तो सुनने वाले क्या कहेंगे? लेकिन वे तो वही कहती हैं, यह जानती हूँ। इसीलिए कहती हूँ कि उनकी बुद्धि स्थिर नहीं है। आपको वह सब सुनने की क्या जरूरत थी? सुना भी तो एक कान से सुना, दूसरे कान से निकाल देना था।"

तब उसकी आवाज़ क्षुब्धता से भरी थी। उसके विश्वास का रास्ता ही कुछ और था, यह तो मैं पहले से ही जानता था। फिर भी उस क्षण उसे सांत्वना देने के लिए मैंने कहा, "ठीक है, अब आगे से यही करूँगा। अब से दूसरे लोग चाहे कुछ भी कहें, एक कान से सुनूँगा और दूसरे कान से उड़ा दूँगा।"

मैं मन ही मन हँस रहा था। यह बात, सुनी-अनसुनीवाली बात, सीता पर तो पूरी तरह से लागू होती थी। इसके अलावा उसे इन सभी बातों का अर्थ भी तो कहाँ मालूम था? एक कान से सुनी बात मस्तिष्क से गुज़रकर क्या उसी तरह दूसरे कान से बाहर निकाली जा सकती है? मस्तिष्क तो कही-सुनी सभी बातों को छानता है। जिसे वह मानता है उसे अपने में छुपा लेता है। प्रिय विषयों को चुराकर भी रखता है। अप्रिय विषयों को बाहर ढकेल देता है। सच, यदि मस्तिष्क नहीं होता तो मनुष्य कितना सुखी होता!

तेरह

आजीमाँ की आयु कुछ ज्यादा ही है। यों तो उनका शरीर ठीक है, कोई बीमारी भी नहीं है; फिर भी वय होने के नाते उनका शरीर और कितने दिन रहेगा—यह विचार तो अक्सर आ ही जाता था। इसी कारण मैं उनसे जो कुछ जानना चाहता था उसे जल्दी जान लेने के लिए व्याकुल था। मैं तो उनका परम

भक्त हूँ। वे कभी जान-बूझकर मुझे ठग नहीं सकती। मेरा उनमें अटूट विश्वास है। उनकी अन्तर्दृष्टि में उन्हें जो भी दिखा, और जो भी उन्होंने कहा उसे ज्यों का त्यों सच मानने के लिए मैं बाध्य नहीं था, फिर भी उनके सपनों का, उनके विचारों का जो सिलसिला था, उनकी अन्तर्दृष्टि का जो रूप था, उससे वे जो भी कहती हैं, वह बहुधा सच कहती है ऐसा मुझे हमेशा लगा। परीक्षा में पास होने के लिए जितना अपेक्षित था, उतना तो इतिहास मैंने पढ़ा ही था। और इसी कारण हमारे देश में फैली विविध जन-जातियों के बारे में, उनकी संस्कृति के बारे में, धर्म के बारे में थोड़ा कुछ जानता भी था। आजीमाँ की अन्तर्दृष्टि में, जो उभरता था उसमें, और मेरी जानकारी में बहुत मेल था। पौराणिक कल्पनाओं के बारे में, परम्परा से चले आये आचार-विचारों में मेरा विश्वास कुछ ज्यादा ही था।

शायद इसी कारण आजीमाँ के विचारों को झट से मान लेने को मेरा मन तैयार नहीं था। जब कभी घनघोर बारिश हुई या अकेले में बैठने की फुरसत मिली तो मैं आजीमाँ के इन्हीं विचारों को लेकर तर्क-वितर्क किया करता। यहाँ 'तर्क' शब्द का प्रयोग शायद ठीक नहीं। क्योंकि मैं तो प्रश्न पूछने वाला हूँ और वे मेरे प्रश्नों का समाधान करने वाली। 'यह कैसे हो सकता है?' 'यह कैसे संभव है?'—ऐसे प्रश्न कर मैंने कभी आजीमाँ को परेशान नहीं किया। गाँव की रीत-नीत के बाहर कुछ होता या गाँववालों की निष्ठा और विश्वास के विरुद्ध कोई विचार मन में आता तो मैं उसे विरोध किये बिना ही मान लेता था। मन में भले ही ऐसे प्रश्नों की तिलमिलाहट होती—'क्या यह सच है? लोग तो ऐसा कहते हैं। आपका यह विचार ऋषियों और पुराणों के मतों से भिन्न है' आदि-आदि, मगर मेरे मुँह से वैसा कभी कुछ नहीं निकलता।

आजीमाँ में एक बड़ा सद्गुण है। उनके सामने जो भी चित्र आता है उसे वे तत्काल ज्यों का त्यों बताते बिलकुल नहीं झिझकतीं। उनका मन सामाजिक बन्धनों से मुक्त था। उन्होंने कभी अपने विचार या तर्कों को आधार बनाकर कोई नयी बात गढ़ने की कोशिश नहीं की। इसीलिए वे सदा 'मुझे तो ऐसा लगता है' कहा करती थीं।

मुझमें और उनमें कितना अन्तर है! मैंने जिस जाति, मत या समाज में जन्म लिया और जहाँ पला-पुसा, उस जाति और समाज के सभी गुण-अवगुण, समस्त विचार-परम्पराएँ मुझ में समायी हुई हैं। बाहर की हवा खाकर संशय-ग्रस्त हो जाने के कई बार अवसर आये हैं, मगर मैं संशयग्रस्त हुआ हूँ यह नहीं कहा जा सकता, नहीं कह सकता। आजीमाँ तो जन्म से ही अन्यान्य मतों के सम्पर्क और प्रभाव से दूर रहीं। फिर भी उनकी विचारधारा मेरी विचारधारा से दस कदम आगे है। कैसे वे अपने मन और चिन्तन को जन्मगत संस्कारों एवं प्रभावों की भूसी से पृथक् कर पायीं, यह मेरी समझ से बाहर है।

दी—उस मूर्ति की पूर्वापर कहानी के बारे में, पुरंदरदास के बारे में, पुनर्जन्म के बारे में और आजीमां ने जो कुछ सुनाया था, वह भी कह डाला। साथ ही, इन सभी संदर्भों में मैंने जो अपने विचार प्रकट किये थे, वह सब भी सीता से कह गया। वह चुपचाप सभी कुछ सुनती रही। उसके बाद उसने जो कहा आप जानते हैं? उसने कहा, "उनकी बुद्धि तो स्थिर नहीं, यह तो सारी दुनिया जानती है। और अब उनका ठीक होना भी संभव नहीं है। उनकी बुद्धि ठीक होना तो मूसल में फूल खिलने के बराबर है। क्या आप भी उनकी बातों को मानने लगे? हमारे पूर्वजों ने जिस पर विश्वास किया, वह सब भागवत, पुराण—क्या सब झूठ है? विश्वास योग्य नहीं है? भगवान् झूठा है, उसका अवतार भी झूठा है—इस तरह कहना शुरू कर दें तो सुनने वाले क्या कहेंगे? लेकिन वे तो वही कहती हैं, यह जानती हूँ। इसीलिए कहती हूँ कि उनकी बुद्धि स्थिर नहीं है। आपको वह सब सुनने की क्या ज़रूरत थी? सुना भी तो एक कान से सुना, दूसरे कान से निकाल देना था।"

तब उसकी आवाज़ क्षुब्धता से भरी थी। उसके विश्वास का रास्ता ही कुछ और था, यह तो मैं पहले से ही जानता था। फिर भी उस क्षण उसे सांत्वना देने के लिए मैंने कहा, "ठीक है, अब आगे से यही करूँगा। अब से दूसरे लोग चाहे कुछ भी कहें, एक कान से सुनूंगा और दूसरे कान से उड़ा दूंगा।"

मैं मन ही मन हँस रहा था। यह बात, सुनी-अनसुनीवाली बात, सीता पर तो पूरी तरह से लागू होती थी। इसके अलावा उसे इन सभी बातों का अर्थ भी तो कहाँ मालूम था? एक कान से सुनी बात मस्तिष्क से गुज़रकर क्या उसी तरह दूसरे कान से बाहर निकाली जा सकती है? मस्तिष्क तो कही-सुनी सभी बातों को छानता है। जिसे वह मानता है उसे अपने में छुपा लेता है। प्रिय विषयों को चुराकर भी रखता है। अप्रिय विषयों को बाहर ढकेल देता है। सच, यदि मस्तिष्क नहीं होता तो मनुष्य कितना सुखी होता।

तेरह

आजीमां की आयु कुछ ज्यादा ही है। यों तो उनका शरीर ठीक है, कोई बीमारी भी नहीं है; फिर भी वय होने के नाते उनका शरीर और कितने दिन रहेगा—यह विचार तो अक्सर आ ही जाता था। इसी कारण मैं उनसे जो कुछ जानना चाहता था उसे जल्दी जान लेने के लिए व्याकुल था। मैं तो उनका परम

भक्त हूँ। वे कभी जान-बूझकर मुझे ठग नहीं सकती। मेरा उनमें अटूट विश्वास है। उनकी अन्तर्दृष्टि में उन्हें जो भी दिखा, और जो भी उन्होंने कहा उसे ज्यों का त्यों सच मानने के लिए मैं बाध्य नहीं था, फिर भी उनके सपनों का, उनके विचारों का जो सिलसिला था, उनकी अन्तर्दृष्टि का जो रूप था, उससे वे जो भी कहती हैं, वह बहुधा सच कहती हैं ऐसा मुझे हमेशा लगा। परीक्षा में पास होने के लिए जितना अपेक्षित था, उतना तो इतिहास मैंने पढ़ा ही था। और इसी कारण हमारे देश में फैली विविध जन-जातियों के बारे में, उनकी संस्कृति के बारे में, धर्म के बारे में थोड़ा कुछ जानता भी था। आजीमाँ की अन्तर्दृष्टि में, जो उभरता था उसमें, और मेरी जानकारी में बहुत मेल था। पौराणिक कल्पनाओं के बारे में, परम्परा से चले आये आचार-विचारों में मेरा विश्वास कुछ ज्यादा ही था।

शायद इसी कारण आजीमाँ के विचारों को झट से मान लेने को मेरा मन तैयार नहीं था। जब कभी घनघोर बारिश हुई या अकेले में बैठने की फुरसत मिली तो मैं आजीमाँ के इन्हीं विचारों को लेकर तर्क-वितर्क किया करता। यहाँ 'तर्क' शब्द का प्रयोग शायद ठीक नहीं। क्योंकि मैं तो प्रश्न पूछने वाला हूँ और वे मेरे प्रश्नों का समाधान करने वाली। 'यह कैसे हो सकता है?' 'यह कैसे संभव है?'—ऐसे प्रश्न कर मैंने कभी आजीमाँ को परेशान नहीं किया। गाँव की रीत-नीत के बाहर कुछ होता या गाँववालों की निष्ठा और विश्वास के विरुद्ध कोई विचार मन में आता तो मैं उसे विरोध किये बिना ही मान लेता था। मन में भले ही ऐसे प्रश्नों की तिलमिलाहट होती—'क्या यह सच है? लोग तो ऐसा कहते हैं। आपका यह विचार ऋषियों और पुराणों के मतों से भिन्न है' आदि-आदि, मगर मेरे मुँह से वैसा कभी कुछ नहीं निकलता।

आजीमाँ में एक बड़ा सद्गुण है। उनके सामने जो भी चित्र आता है उसे वे तत्काल ज्यों का त्यों बताते बिलकुल नहीं झिझकती। उनका मन सामाजिक बन्धनों से मुक्त था। उन्होंने कभी अपने विचार या तर्कों को आधार बनाकर कोई नयी बात गढ़ने की कोशिश नहीं की। इसीलिए वे सदा 'मुझे तो ऐसा लगता है' कहा करती थीं।

मुझमें और उनमें कितना अन्तर है! मैंने जिस जाति, मत या समाज में जन्म लिया और जहाँ पला-पुसा, उस जाति और समाज के सभी गुण-अवगुण, समस्त विचार-परम्पराएँ मुझ में समायी हुई हैं। बाहर की हवा खाकर संशय-ग्रस्त हो जाने के कई बार अवसर आये हैं, मगर मैं संशयग्रस्त हुआ हूँ यह नहीं कहा जा सकता, नहीं कह सकता। आजीमाँ तो जन्म से ही अन्यान्य मतों के सम्पर्क और प्रभाव से दूर रहीं। फिर भी उनकी विचारधारा मेरी विचारधारा से दस कदम आगे है। कैसे वे अपने मन और चिन्तन को जन्मगत संस्कारों एवं प्रभावों की भूसी से पृथक् कर पायीं, यह मेरी समझ से बाहर है।

उस साल गर्मियों में मैंने अपने शोध-कार्य को लगन के साथ बढ़ावा देना चाहा। मन ही मन तय किया कि केवड़े के उस वन को साफ़ कराना है, घाटी की अंचलवाली उस गुफ़ा में फिर जाना है, गाँव के आस-पास वाले पुरावशेषों को आजीमाँ को दिखाकर उन सबके बारे में भी उनसे जानना है। पुरावशेषों के विषय में मेरी उत्सुकता बहुत अधिक थी। ये गर्मियाँ अगर यों ही निकल गयीं तो अगले साल आने तक पता नहीं आजीमाँ का स्वास्थ्य ऐसा ही रहे, न रहे! सबसे बड़ी बात यह कि बकासुर की तरह सब कुछ एक साथ ही ग्रास में उदरस्थ कर जाने की उत्सुकता मुझमें बहुत बढ़ गयी थी, पर इस उत्सुकता के पूरी होने में कई विघ्न आये। हर महीने कोई न कोई विघ्न आता ही रहा। बारबार वर्षा होते देख मजदूरों को फुसलाकर उनसे नागवन की सफ़ाई कराने का विचार छोड़कर अपनी खेती के सोच में लगना पड़ा। शुरू अषाढ़ से लेकर अगले दो महीने बस पानी ही पानी। उसके बाद एक महीना और यों ही गया। न तब कुएँ की खुदाई करायी जा सकती थी, न जंगल की सफ़ाई की जा सकती थी और न ही सबकी नज़रों से बचकर उस पत्थर के मण्डप में गड़ी निधि की खोज करायी जा सकती थी।

मगर एक अच्छा काम मैंने इन दिनों किया। पीपल-चबूतरे पर बैठकर आजीमाँ के साथ खूब-खूब बातें कीं, बाद में फिर रह-रहकर बारिश होती रही और यही क्रम चलता रहा। पुरावशेष शोधकर्ता कहलवाने की उत्सुकता पूरी करने के लिए तुला या मकर-संक्रान्ति तक रुकना ही पड़ा। इस बीच जो एक-दो घटनाएँ घटीं, उनके बारे में यहाँ कुछ कहूँ तो अनुचित न होगा।

वर्षा काल में ही एक दिन अचानक नागी हमारे घर आयी। साथ में वह एक बहुत ही सुन्दर पेटी बनाकर ले आयी थी। उसे घर के बरामदे में रखकर छोटी मालकिन को उसने आवाज़ दी। मैं घर से सटेक गज पर नारियल के पत्तों से कुछ बुन रहा था। नागी को आते हुए मैंने नहीं देखा था। उसकी 'छोटी मालकिन' पुकार कानों में पड़ी तो मैंने सिर उठाकर एक नज़र देखा। इतने में ही सीता की आवाज़ आयी।

"इसके लिए चावल कितना देना पड़ेगा?"

"यह आपको पसन्द तो है मालकिन? बेंत का है, मज़बूत है। साड़ी-कपड़े रखने के लिए अच्छा है। लीजिये, अन्दर रख लीजिये।"

"पर तूने दाम तो बताये नहीं। ऐसी पेटी के लिए तो मैं बहुत दिनों से सोच रही थी। ठीक दाम बोलेगी तो और भी चीज़ें, जो मुझे चाहिये, तुमसे खरीद लूँगी। हाँ, टोकरी और, और भी कई चीज़ें चाहिये।"

"मालकिन, पहले आप इसे तो भीतर रख आइये। मैं बेचने के लिए नहीं लायी हूँ। उस दिन सांझ को दो चुल्लू पानी माँगने आयी थी, आपने चावल बना-

कर तीनों को पेट-भर खिलाया और तब जाने दिया। उसे मैं भूल सकती हूँ क्या? उस ऋण से कभी मुक्ति पा सकती हूँ क्या?"

"तू अगर मन में ऐसा भाव रखकर लायी है तो यह मुझे नहीं चाहिये। घर-गिरस्ती में कोई भूखा-प्यासा आये और उसे यदि हम एक निवाला भी न दे सकें तो हमारे घर-गृहस्थ होने का ही क्या अर्थ?

अपनी पत्नी के मुँह से यह बात सुनकर मैंने अपना काम छोड़ उसकी ओर देखा, उठकर वहाँ चला भी आया। पेटी को उठाकर देखा। वह कोई मामूली बनावट की नहीं थी। उसकी बुनाई बारीक और बहुत सुन्दर थी। सभी दृष्टि से वह एक बढ़िया पेटी थी। तभी मुझे, रामण्णा के हाथ में जो मैं अक्सर देखा करता था, उस पनडब्बे की याद आ गयी। बस, अब तो मैं भी उनकी बातों में शामिल हो गया। सीता ने अपनी बात बतायी। मैंने कहा, "इतनी अच्छी पेटी है, इसे बनाने को तुझे कम से कम पन्द्रह दिन तो लगे ही होंगे। घाट से बेंत लाकर... उस दिन तू और तेरे बेटे की साँस फूलते देखकर ही मुझे तुम पर दया आ गयी थी। किसी तरह का संकोच न करो! कितना चावल दिया जाये, बताओ!"

"बाबूजी, आप उसकी बात ही मन से निकाल दीजिये। इसके लिए यहाँ नहीं आयी। मैं तो आजीमाँ से मिलकर दो-चार बातें करने आयी हूँ। खाली हाथ बड़ों से नहीं मिलना चाहिये सो यह ले आयी। बेंत के लिए मैंने पैसे नहीं दिये, न ही आपसे मैं पैसे लूँगी। जब तक यह पेटी आपके पास रहेगी 'नागी नाम की कोई थी' इतना तो आपको याद रहेगा ही। मेरे लिए यही बहुत होगा।"

इतने में भीतर के कमरे से आजीमाँ की आवाज सुनाई दी। उस आवाज को सुनते ही नागी का मुँह खिल गया। आजीमाँ ने अपने कमरे से ही कहा, "बेटी, वह जो लायी है उसे रख लो। नागी ही लायी है न? वह तो गाय के अनाथ बछड़े की तरह है।" आजीमाँ का वह आखिरी वाक्य सुनकर न जाने सीता को कैसा लगा? उसने पेटी को लेकर अन्दर रख दिया और नागी को पान-सुपाड़ी लाकर दी। थोड़ा-सा गुड़, चिवड़ा, और पानी भी दिया। और कहा, "बड़े बुजुर्ग ही कह चुके हैं, अब उसके बारे में कोई बहस नहीं करनी है। अरे हाँ, दोपहर को यहीं खा लेना, यों ही नहीं चली जाना। हो सका तो एक पुरानी साड़ी भी दूँगी।" यह सुनकर नागी का चेहरा और भी खिल उठा। सीता भीतर चली गयी।

सीता अपनी एक पुरानी साड़ी दान करने को तैयार थी, यह जानकर मैं तो आश्चर्य में पड़ गया। साड़ी, पुरानी ही नहीं, फट भी गयी हो तो भी उसे सीकर पहननेवाली सीता अपनी एक साड़ी देने को तैयार थी?

आजीमाँ अपने कमरे से बाहर आकर नागी से बोलीं, "तुझे तो कोई जल्दी नहीं है न? खाकर ही जाना," कहकर आजीमाँ अन्दर चली गयीं। मैं अपने बगीचे की ओर चल पड़ा। दोपहर को लौटकर आया और खा-पीकर सो गया। हम सब

के भोजन कर लेने के बाद, सीता ने नागी को भी खाना दिया। नागी के बारे में, उसकी पूर्व कहानी के बारे में, सीता को कितना पता था यह तो मैं नहीं जानता। शायद उसे कुछ पता ही न होगा। अगर पता होता तो क्या वह तब भी नागी से इतनी ही प्रसन्न रहती ? सीता ने नागी को फिर एक बार पान-सुपारी दी। खा-पी लेने के बाद जूठे पत्ते फेंककर, उस जगह को साफ़ कर वह आजीमां की प्रतीक्षा करने लगी। शायद तब मैं ऊँघ रहा था, सीता ने उसे अपनी एक पुरानी साड़ी भी दी होगी। जब मैं नींद से जागा तो, नागी बरामदे में नहीं थी। बाहर जाकर देखा कि पीपल-चबूतरे पर आजीमां बैठी थीं। उनके आगे ज़मीन पर नागी भी बैठी थी। उसके बदन पर उतरे रंग की साड़ी थी। शायद उसे पहन सीता को खुशी से दिखाती हुई और फिर उसकी इजाजत पाकर ही नागी वहाँ गई होगी। मैं सोचने लगा, नागी के जीवन में ज़रूर कुछ परिवर्तन हुआ है। वह परिवर्तन क्या था, और कैसे हुआ—यह जानने के लिए मैं उत्सुक था। मेरी अन्तरात्मा और मेरे पांव, मुझे पीपल-चबूतरे की ओर खींच रहे थे, परन्तु वहाँ जाने से जी झिझक रहा था। कहीं आजीमां पहले की तरह 'तुझे तो अकल ही नहीं' कहकर बोल पड़ीं तो ? उस पुराने अनुभव को मैं भूला नहीं था। और अब मन की ललक को सहन नहीं कर पा रहा था। आजीमां ही खुद मुझे बुलालें तो कितना अच्छा हो, यह आस भी जगी। बस, घर में ही इधर-उधर कुछ करने लगा। ध्यान कहीं और था, काम कुछ और कर रहा था। नागी अभी तक बैठी है या चली गयी, यह जानने के लिए मैं बार-बार घर के बाहर आता और उस ओर झांकने लगता।

दो-तीन घंटे के बाद देखा कि आजीमां अकेली ही, चबूतरे पर बैठी थीं। शायद उन्होंने नागी को भेज दिया था। नागी तो उनसे मिलने के लिए आयी थी न ? ऐसी क्या रहस्य की बातें हुई होंगी उन दोनों में ? यही सोचते हुए जब मैं उस चबूतरे के पास गया तो आजीमां ने स्वयं ही, 'आओ बेटे' कहकर मुझे बुलाया। मैं तो खुश हो गया। जाकर उनके पास बैठा और भूमिका बनाता हुआ बोला, "लगता है, नागी चली गयी।"

"हाँ, वह तो मुझसे ही मिलने के लिए आयी थी। बात खतम हुई और चली गयी।"

"कौन सी बात ?" यह मैंने नहीं पूछा। पूछने की इच्छा को मन में ही दबा रखा।

वे स्वयं ही बोलने लगीं, "देखो बेटे, मैंने एक काम किया है। वह कहाँ तक ठीक है यह तो भगवान् ही जाने। लोगों को पता लगेगा तो क्या कहेंगे, यह भी मैंने सोचा नहीं। मेरी अन्तरात्मा ने जो ठीक समझा, सही समझा; वही मैं कर चुकी। उस दिन मैंने इस नागी से कुछ कहा था। उसके बाद जब रामण्णा यहाँ आया था तो उसे भी मैंने कुछ समझाया था। मैंने जो कुछ उनसे कहा था, वैसा

ही होगा या वे मेरी बात मान जायेंगे, ऐसा मैंने सोचा भी नहीं था। शायद ऐसा हो जाये तो अच्छा होगा, यही सोचकर मैंने कुछ कहा था।"

"आपने क्या कहा था, आजीमाँ ?"

"सुनोगे तो तुम भी हँस पड़ोगे। बेटा, तुम तो जानते ही हो इस नागी की कहानी ! मैं उसे भूली नहीं थी। एक समय वह था जब रामण्णा और नागी राजीखुशी रहते थे। बीच में तुम्हारा मामा, वह कविराज, उस पर अपना जादू चलाकर उसे ले गया और उसका शील भंग किया। यह सब होने के बाद भी, रामण्णा नागी को न भूल सका, उसके मोह को न छोड़ सका। यह सब हुए कितने ही बरस गुज़र गये फिर भी रामण्णा अकेला ही है। सुना है, उसके साथ, उसकी बड़ी या छोटी बहन रहती थी, सो वह भी चली गयी। अब तो वह बिलकुल अकेला है, अपने कोल्हू का बैल। वह नागी को वापस लेने को तैयार है, ऐसा मुझे लगा। नागी ने तो अपना सब कुछ गवाँकर, दो बच्चों की माँ बनकर, उन बच्चों को पालने की हठ लिये गाँव को ही छोड़ दिया। किसी दूसरे गाँव जा रहकर अपने इन बच्चों को पाल-पोसकर खड़ा किया। वे भी अब बड़े हो गये हैं। आखिरी बार तुम्ही उन्हें यहाँ बुला लाये थे। तब, नागी ने आँखों में पानी भरकर अपने बेटों के बारे में बताया था। वह कह रही थी, 'इन बच्चों के लिए मैंने क्या कुछ नहीं किया। मानती हूँ, मैं कुलटा बन गयी। लेकिन, उस पाप से निकलने के बाद मैंने फिर किसी पुरुष का चेहरा तक नहीं देखा। दो बच्चों को पीठ पर बाँधकर गधे की तरह मेहनत-मजदूरी की, पाला-पोसा। अब वे भी बड़े हो गये हैं। मेरा तो जो होना था सो हो गया। आखिर इन बच्चों को तो घर-गिरस्ती का सुख मिले, बस इतना ही चाहती हूँ। परन्तु मेरे इन बेटों को, पतिता की इस सन्तान को अपनी कन्या देने के लिए क्या कोई तैयार होगा?' मुझे उसकी हालत पर तरस आया। मैंने कहा, 'देखो नागी, अगर ये बच्चे तेरे साथ रहेंगे तो कोई भी उन्हें कन्या नहीं देगा।' उस दिन तो वह चली गयी। उसके दो दिन बाद ही, तुम्हारा रामण्णा यहाँ अचानक आया—"

"मेरा रामण्णा ?"

"छोडो भी, वह भी तो मेरा ही बेटा है, वह भी मेरी बेटी है। मेरे दूसरे बच्चे हैं ही कहाँ ? नागी को अब मैंने देखा तो लगा, वह अभी जवान ही है। उसे यह बच्चों का बोझ न होता तो वह खुद ही रामण्णा के पैर पकड़कर उसके साथ फिर से गिरस्ती बसाती। रामण्णा अब जो बिलकुल अकेला है, वह भी उसे स्वीकार कर लेता। नागी भी उसकी देखभाल करती। लेकिन, यदि कोई समस्या है तो वह है बच्चों की। जब उनकी बात आयी तो मैंने रामण्णा से कहा, 'इन बच्चों से तो तुझे कोई अपचार नहीं होगा ? वे तेरे बच्चे नहीं है यह सच है, पर नागी के तो है। उन्हें अपने ही बच्चे कहने से तेरा बड़प्पन तो कम नहीं होगा।'

वे किस बाप के बच्चे हैं, नागी ने यह बताया नहीं होगा। बताती भी कैसे ? यह देखो बेटे, तुम्हारे उस मामा ने जो पाप किया, मैं उसे अब धोने चली हूँ। इसीलिए मैंने रामण्णा से कहा, 'बच्चे तो बड़े हो गये हैं। काम करके पेट भर लेने की क्षमता भी अब उनमें है। अगर वे बच्चे तेरी नजरों में खटकने लगें तो बड़ी घाटी जाकर कामकाज कर लेंगे। कहने भर के लिए एक पिता का नाम और भाग्य में घर-गिरस्ती बसाने का ऋण है तो उन्हें भी कोई न कोई कन्या दे ही देगा। तुझे शर्म महसूस न हो तो तेरा नाम उनके पिता के नाम का स्थान ले सकता है।"

"आजीमां, फिर तो आप अदृष्ट, भाग्य आदि में भी विश्वास रखती हैं ?" मैंने पूछा।

"मैंने तो यों ही कहा है, बेटा। देखो, पुरुष बनकर जब कोई जन्म लेता है तो उसके अनुरूप स्त्री का जन्म भी कहीं न कहीं हुआ ही रहता है, ऐसा मुझे लगता है। आखिर यह सब तो उसी मां भगवती का काम है। उसे भी तो कुछ विवेक होगा; अन्यथा यह सृष्टि रचकर उसमें स्त्री और पुरुष का भेद क्यों किया, किसलिए किया, यह भी तो वह जानती ही होगी।" आजीमां ने कहा।

"अच्छा, तो आपने यह सब पंचायत की है। हां, तो फिर क्या हुआ ?" मैंने पूछा।

"फिर एक दिन, जैसा मैंने सोचा था, वही हुआ। रामण्णा 'हरि-हरि' कहते नागी के घर पहुँच ही गया। इससे पहले भी उसे दस बार बुला भेजा था, इस बार खुद ही चला गया। यह काम तो उसने कभी का कर लिया होता, जो उसने आज किया। चलो, ठीक ही हुआ। मुझे इसमें कोई अनुचित नहीं लगा।"

"क्या सचमुच आपको कोई दोष नजर नहीं आता ?"

"पागल कहीं का ! तेरे मामा ने जो गलती की, क्या उसके बारे में गांव के लोगों ने कुछ कहा ? उन दिनों उसके पास पैसा जो था, सो लोगों ने अपने मुँह पर ताला लगा लिया। सच बात तो यह है कि उसीने नागी के गृहस्थजीवन में जहर घोल दिया। उसी के कारण नागी की गृहस्ती उजड़ गयी। अब तुम्हीं कहो, उजड़ी हुई गिरस्ती को फिर से बसाना अच्छा है, या बसी हुई गिरस्ती को उजाड़ना ?"

"रामण्णा ने जब पहली बार नागी को बुलाया था तो उसने 'मैं तो किसी और की जूठन बन गयी हूँ' कहकर उसके पास जाने से इनकार कर दिया था न।" मैंने आजीमां को याद दिलाया।

"गहराई से सोचा जाय तो मानना होगा कि वह तो उसका अपना बड़प्पन था। कुछ भी हो, स्त्री-पुरुष और जूठन में कोई मेल नहीं। इधर दोनों का मन तड़प रहा था। उनका संकट क्या था, कैसा था, शायद तुम नहीं जान पाओगे। इस गांव के लोगों को मैं खूब जानती हूँ। कहनेवाले न जाने क्या क्या कहते हैं।

उनकी जीभ कुछ कहती है और भीतर से वे कुछ और ही होते हैं। यह सब ही कपट है, नाटक है। रामायण की वह कहानी तो तुमने सुनी ही होगी—वही, राम के द्वारा सीता की परीक्षा लेने की बात! सीता 'जूठन' नहीं है, यह प्रमाणित होने के बाद भी राम ने क्या किया? लेकिन गौतम-अहल्या की कहानी तो इससे विपरीत है।"

"आजीमां, क्या यह बात सच हो सकती है, शाप से पत्थर हो जाने की बात? और फिर हज़ारों साल बाद वह पत्थर शाप से मुक्त होकर स्त्री बन जाता है, क्या यह सम्भव है?"

"हमारा मन ही पत्थर होगा, शरीर नहीं। अहल्या यदि हज़ारों साल पत्थर बन कर पड़ी रही होगी तो गौतम भी कभी का धुआं हो गया होगा।"

"आजीमां, मैं अब आपसे एक बात पूछता हूँ। महाभारत, रामायण—क्या यह सब सच है? हम लोग अवतार की बातें करते है, क्या वे भी सच हैं?"

"बेटे, मैं तो तुमसे हज़ार बार बोल चुकी हूँ कि भगवान् को अवतार देने वाले, अवतार की कल्पना करने वाले तो हम ही हैं, हमारी ही बुद्धि है। इस सृष्टि को रचने के लिए क्या उसे अवतार लेने की जरूरत है? नहीं। तो फिर उसे पालने के लिए या मारने के लिए भी अवतार लेने की जरूरत नहीं।"

"हां, मुझे भी ऐसा ही लगता है। अब उस राम की कहानी छोड़िये और इस रामण्णा की कहानी सुनाइये।"

"कहानी तो कुछ भी नहीं, बेटा। नागी जो आयी थी, वह यह कह गयी है, 'हम दोनों सुखी हैं। दोनों बेटों को मैंने बड़ी घाटी भेज दिया है। उन बेटों को छोड़कर भी तो नहीं रहा जाता। पर यदि मैं भी उनके साथ चली जाऊँ तो वहां इन्हें कष्ट होगा। इसी गांव में सब साथ में रहेंगे तो लोगों की बातें सुनकर कोई भी उन्हें अपनी कन्या नहीं देगा।' बेचारी यह कहने को आयी थी।"

"आपने उसको क्या समझाया?"

"क्या समझाना था, बेटा! बच्चे तो बड़े हो गये हैं। वहीं कहीं कुछ न कुछ कामधाम कर पेट भर लेंगे। जब मां की याद आयेगी तो आकर देख जायेंगे। मैंने नागी से कहा है वह अपने बेटों से कह दे कि यदि वे लड़की ढूंढ सकते हैं तो ढूंढ लें। उन बच्चों में अपने पेट पालने की क्षमता होगी तो कहीं न कहीं अपने अनुरूप कन्या भी ढूंढ निकालेंगे। न सही अपनी जाति में, दूसरी जाति में सही।"

"क्या यह ठीक होगा?"

"क्या?"

"यही, अपनी जाति को छोड़, अन्य जाति की लड़की से ब्याह कर लेना।"

"तुम भी बस, बुद्धू हो! भगवान् ने दो ही जाति बनायी हैं। एक पुरुष-जाति, दूसरी स्त्री-जाति। यह तो हम हैं जिन्होंने हज़ारों जातियां बना ली हैं।

इस सृष्टि के अन्य प्राणियों में तो जात-पाँत का यह झंझट नहीं। पुरुष, पुरुष से विवाह नहीं करता; स्त्री, स्त्री से विवाह नहीं करती। इन्हीं दोनों जातियों का मिलन तो इस सृष्टि के विधाता को पसन्द है। अब यदि इन गाँववाले लोगों के अभीष्ट, भगवान् के इस अभीष्ट को चुनौती दें तो कोई क्या कर सकता है?"

"इस विषय में तो आजीमाँ, समय-समय पर, भिन्न-भिन्न देशों में अलग अलग रीत-रिवाज रहे आये। हरेक जमाने में, हरेक देश में। इसी कारण, एक समय जो उचित माना जाता रहा, बाद में वही अनुचित लगने लगा। एक समूह ने जिसे ठीक समझा, दूसरे समूह ने उसे ठुकरा दिया। जात-पाँत के बन्धन ही कुछ ऐसे हैं।"

बाद में थोड़ा प्रसंग बदलते हुए मैंने आजीमाँ से पूछा, "आजीमाँ रामायण की कहानी के एक प्रसंग पर मुझे भी कुछ विश्वास-सा नहीं होता।"

"वह क्या है?"

"वही—जब दशरथ महाराज स्वर्ग सिधारे, कहा जाता है, तब उनकी आयु हजार साल की थी। भगवान् हमारे पूर्वजों को इतनी लम्बी आयु देकर, हमें सौ साल की भी आयु नहीं देते' ऐसा क्यों?"

"ठीक है, मान लो भगवान् तुझे हजार साल की आयु भी दे दें। परन्तु क्या तू जी सकेगा? जीकर भी तू क्या करेगा? वही न—बीज बोना, फसल काटना, धान इकट्ठा करना और फिर उसे पकाकर खाना। हर दिन, हर साल यही तो तेरा जीवन-क्रम होगा। मुझे ही देखो! कितनी लम्बी आयु है मेरी, फिर भी मैं क्या कर पायी हूँ? कुछ भी तो नहीं। तू भी क्या कर पाया है? कुछ भी नहीं। तो इतनी लम्बी आयु हमें किसलिए चाहिए? उसे लेकर हम करेंगे ही क्या? उसकी सृष्टि में जो आयु किसी दूसरे प्राणियों को नहीं है फिर हमें क्यों मिले? पीपल के अपने इस पेड़ को भी शायद उसने बहुत दीर्घ आयु नहीं दी होगी।"

"पर दशरथ की थी।"

"फिर पागलपन की बात! कहते हैं, उनकी बहू की शादी, आठ साल की आयु में हुई थी। सीता अगर वनवास न गयी होती तो शायद चौदह की होते ही माँ बन जाती। इसी तरह यदि हजार बरस की आयु वाले उन दशरथ महाराज की तीनों पत्नियों के बच्चे होते ही रहते तो इस पृथ्वी पर दशरथ के कुटुम्ब-परिवार के लिए ही जगह न रहती। फिर, और कुछ देना एक बार कठिन रहा होगा लेकिन आयु देना सुलभ रहा होगा; इसलिए रामायण के कर्ता ने इतनी आयु दे दी। सच तो यह है बेटा, कि इस तरह की कथाओं को लिखने वालों का उद्‌देश्य ही यह रहा है कि उनकी लिखी कहानियाँ लोग बरसों तक रुचि ले-लेकर पढ़ते रहें। दशरथ महाराज खुद ही इतनी लम्बी आयु पाने के लिए शायद तैयार नहीं हुए होंगे। चलो छोड़ो इस बात को, इतने बरसों तक यदि कोई जीवित

रहता तो पता नहीं, वह शादी करता भी या नहीं। जो असंभव है, असंगत है उसे लिख देने का परिणाम यह होता है कि उसमें जो आंशिक सच्चाई रही होगी, उस पर भी विश्वास करना कठिन हो जाता है।"

"तो क्या आप वाकई रामायण, महाभारत, राम, कृष्ण—यह सब नहीं मानतीं ?" आजीमां के सामने मैंने फिर वही प्रश्न दुहराया।

"बेटा, मैं तो उनमें जो चार अच्छी बातें लिखी गई हैं उन्हें मानती हूँ। राम, कृष्ण और इसी तरह हमने न जाने कितने ही देवताओं की सृष्टि कराली। मुझे तो लगता है, हमसे हमारे देवताओं की संख्या ज्यादा है। मैं तो तुझे हर दिन कहती आ रही हूँ कि भगवान् यदि सर्वशक्तिमान् हैं तो उसे किसी अवतार लेने की, या नाटक करने की कोई जरूरत नहीं। वह तो एक जगह बैठे ही यह सब काम कर सकता है। जैसा मैंने पहले भी कहा है, यह सब तो गुम्मा भूत को दिखा-कर बच्चों को डराने के समान है। कभी एक दिन वही बच्चे बड़े होकर 'वह भूत कहाँ है, मुझे दिखाओ, मैं उससे बातें करना चाहता हूँ, कहेंगे, और जब तुम उन्हें उस भूत को दिखा नहीं सकोगे तो फिर वे तुम्हें ही 'डरपोक' मानेंगे। वे भी जान चुके होंगे कि जो हम उनसे कहते आये हैं वह एक धोखा था।"

आजीमां के साथ इतनी सारी बातें करने का जो अवसर मिला था, उससे मैं बहुत खुश था। परन्तु, साथ ही साथ, यह भय भी था कि कहीं सीता ने हमें देख लिया तो वह टोके बिना नहीं रहेगी। वह समझेगी कि आजीमां की तरह मैं भी पागल हो गया हूँ। इसी आशंका से मैंने आजीमां से पूछा, "आजीमां, आप जो कुछ कहती हैं उसमें सच्चाई है, लेकिन अगर आप यही बातें सीता से कहें तो वह ज़रा भी मानने वाली नहीं।"

आजीमां ने हँसकर कहा, "बेटा, तेरी सीता के मन में जो है, क्या मैं नहीं जानती ? इस घर में उसके कदम रखने से कई साल पहले मेरा जन्म हुआ। आस-पास के लोगों की तरह बेचारी वह भी है। 'इस बुढ़िया का दिमाग ठीक नहीं है'—ऐसा तो लोग कहते ही हैं। उसने भी यह बात सुनी होगी। क्या मैं कहती फिरूं, 'मेरा दिमाग ठीक है, मैं पागल नहीं हूँ' अगर मैं यह कहने भी लग जाऊं तो भी लोग मुझे पागल ही समझेंगे। जो दुनिया की नज़र में ठीक है उसे हम यदि गलत कहेंगे, तो लोग हमें पागल ही कहेंगे। खैर, जो कहते हैं, कहें, उसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। किसका दिमाग ठीक है, किसका नहीं, यह कौन माप सकता है ? जो भी हो, सीता ने कभी किसी विषय पर मुझसे चर्चा नहीं की, अनादर की एक बात भी नहीं की, भला-बुरा कभी नहीं कहा। हो सकता है, वह मुझे पागल ही समझती हो। फिर भी ऐसा कभी नहीं कहा कि 'आपको क्या पता ? जो दिया जाता है उसे खाकर-पीकर चुप बैठी रहिए।' उसका हृदय विशाल है। हो सकता है, उसकी नज़र में मैं कुछ ज्यादा ही बकती हूँ। दस बरस तक मैंने भी, कुछ

पिता ने जो नाम रखा था, उसे सार्थक करते हुए मूकाम्बिका की तरह मुँह बन्द कर लिया था। जब मेरे माता-पिता चल बसे तो मुझे किसी की परवाह नहीं रही और तभी से फिर बोलने लगी। जब मैंने मुंह बन्द कर लिया था तब भी लोगों ने मुझे कोसा और अब जब यह मुंह खुल गया तो फिर तो कहना ही क्या! यों ही मैं किसी के घर जाकर किसी से जबरदस्ती बातें तो नहीं करती!"

"एक दो बार, आपने जनार्दन से, और अनन्तराव से उनके सामने ही···"

"हां, उनमें कुछ दिखा तो कहा था। उनके मन में क्या था, इसका मुझे पता लग चुका था। बाहर कुछ और, अन्दर कुछ और था। जब वे मेरे सामने अपना नाटक दिखाने आये तो मुझे उनसे कहना ही पड़ा। उनको भी तो दो टूक सुनाने वाला कोई चाहिये था न!"

आजीमाँ की बातों से प्रोत्साहित हो सूरज डूबने तक उनसे चर्चा करता रहा, और फिर उन्हें घर ले आया। घर पहुँचने के बाद, किट्टू को कुछ कहानी सुनाने लगा— "एक गाँव में एक ब्रह्मराक्षस था," इतना कहते ही मानो किसी ने मेरा गला दबा दिया। किट्टू ने झट पूछा, "वह ब्रह्मराक्षस कैसा था?" आगे सोचे बिना, मैंने उस ब्रह्मराक्षस का वर्णन किया। उसका आकार-प्रकार सभी कुछ बढ़ा-चढ़ाकर सुनाया। तभी किट्टू ने पूछा, "जब आपने उसे देखा, तब आपको डर नहीं लगा?" उसका दूसरा प्रश्न था, "वह ब्रह्मराक्षस किस पेड़ पर रहता है?"

"कपालेश्वर के मन्दिर के पास के बरगद के पेड़ पर।" मैंने अनजाने में कह दिया।

"क्या आप मुझे दिखायेंगे?"

"नहीं। तू देखेगा तो डर जायेगा।"

"जब आपको डर नहीं लगता तो मुझे भी नहीं लगेगा। बताओ, मुझे कब दिखाओगे?"

"ठीक है! किसी दिन दिखाऊँगा।"

"कल?"

"इतनी भी क्या जल्दी है?" मैंने टालने की कोशिश की।

"आप तो यह कहानी पहले भी सुना चुके हैं। वही न, उस राक्षस और ब्राह्मण के लड़के में समझौता हो गया। फिर ब्रह्मराक्षस ने उस लड़के को मन्त्र फूँककर तीन कंकड़ दिये। एक कंकड़ तो उसे मन चाहे लड्डू-पेड़ा देता, दूसरा छुपा देता। तीसरा, उसे जहां चाहे वहां ले जाता। मैं भी उस ब्रह्मराक्षस के पास जाकर उसे मनाऊँगा और वे तीनों कंकड़ उससे मांगकर ले आऊँगा फिर···"

"हां, मांगकर फिर···"

"हां, फिर मैं भी किसी से नहीं डरूँगा। मां से खाना नहीं मांगूंगा। एक

कंकड मुझे सब कुछ खाने को देगा। दूसरे कंकड़ से मैं छुप जाऊँगा और सभी को डराऊँगा। तीसरे कंकड को लेकर निकलूँगा तो चौदह लोक घूमने चला जाऊँगा और हजार बरस बीतने तक घर नहीं आऊँगा।"

"ठीक है! उसके बाद तो घर आयेगा न? जब तुम आओगे, मैं और तुम्हारी माँ तो बूढ़े हो गये होंगे। तू तो हमें पहचान भी नहीं सकेगा।"

"यह बात है तो देर नहीं लगाऊँगा, कल ही वापस आ जाऊँगा। मैं घर छोड़कर चला जाऊँगा तो तुमको और माँ को बुरा लगेगा न?"

मेरी कहानी और किट्टू की बात को सीता ने भी सुन लिया था।

"बच्चों को ऐसी कहानी सुनाते ही क्यों हो? झूठमूठ की कहानी को भी, वे सत्य समझ बैठते है," सीता ने मुझे डाँटा।

"तो क्या यह झूठमूठ की कहानी है? झूठी कहानी मैं नहीं सुनता," किट्टू बोल उठा।

"हाँ बेटे, यह सब झूठ है। तीन कंकड नहीं, चूल्हा बनाने के तीन पत्थर है वे।" सीता के स्वर में व्यंग्य था।

मैं पूरा हार चुका था। सीता को सबक सिखाने की दृष्टि से मैंने पूछा 'तुम्हारे हजार साल की आयुवाले महाराजा दशरथ तो सच है और मेरा तीन कंकड वाला ब्रह्मराक्षस झूठा है?"

"ओ हो! आपका भी जवाब नहीं! अब तक वहाँ उस पीपल-चबूतरे पर इतनी देर तक बैठकर शायद यही बेसिरपैर की बातें होती रही होंगी।'

सीता की यह बात सुनकर मैंने हँसते हुए कहा, "अब रहने भी दो। 'आजीमां का दिमाग ठीक नहीं है'—यह कभी न कहना! वे सब समझती है। तुम्हारे दिल में क्या है, वह भी वे जान चुकी है। फिर भी उन्होंने तुम्हारी सराहना की 'मेरी सीता तो खरा सोना है, हीरा है हीरा' कहकर तुम्हारी प्रशंसा की।"

किट्टू की कहानी छोड, आजीमां ने जो कुछ कहा था वह सीता को मैंने सुना दिया। तभी उसका चेहरा उतर गया। "मैं क्या कहूँ? वे कुछ का कुछ कहती रहती है। मुझे उनकी बातों पर विश्वास नहीं होता। जिसमें मुझे श्रद्धा-विश्वास है, उसको वे मानती ही नहीं। इसलिए ऐसा लगने लगता है कि उनका दिमाग फिर गया है। फिर भी मैंने कई बार देखा कि मेरे व्यवहार पर ध्यान न देकर वे मुझे मान देती है, वात्सल्य देती है। वे हमारे इस घर की देवी है, ऐसा भी मुझे महसूस हुआ है।" सीता ने कहा।

"हर घर, हर व्यक्ति को अलग-अलग देवी-देवताओं की जरूरत नहीं है। हमें तो एक ही भगवान् काफी है, ऐसा आजीमां का विचार है।"

"भगवान् तो एक है। हममें से किसी ने भगवान् को नहीं देखा ... है देखा भी हो तो उसे मैं नहीं जानती। जब कोई वस्तु अच्छी ...

अच्छा दिखा तो उसे ही भगवान् मानने में गलती क्या है ?"

सीता की ही बात को स्पष्ट करते हुए मैंने कहा, "देखो, जब यह कहा जाता है कि भगवान् ही सभी कुछ है या सब कुछ भगवान् का ही अंश है तो बुरा भी वही हुआ और भला भी वही। आजीमाँ की दृष्टि में यही है। इस दृष्टि को आत्मसात् करना मुश्किल है और उसका आचरण करना तो और भी मुश्किल। आजीमाँ में जो क्षमता है, जो धैर्य है वह हममें कहाँ ?"

सीता के साथ इस बातचीत के बाद, मुझे लगा कि वह अब कभी मेरे और आजीमाँ के बीच में नहीं आयेगी। सीता नहीं चाहती थी कि यह बात और बढ़ाई जाये, इसलिए उसने दूसरा ही विषय छेड़ा, "तुम्हारे मित्र जनार्दन का क्या हुआ? सुना है, वह तो घर चिट्ठी भी नहीं भेजते। अपने माँ-बाप को इतनी आसानी से कैसे भूल जाते हैं ये लोग ?"

"हाँ चिट्ठी-विट्ठी तो नहीं भेजी, पर एक दिन वह आयेगा जरूर। मैसूर में ही तो नौकरी करता है। शायद अगली छुट्टियों में आये।"

"शादी करने का विचार है या नहीं ?"

"कौन जाने क्या विचार है उसका ? शादी न करे तो अच्छा। करनी तो जो इसके हाथ आयेगी, न जाने उसकी क्या गत होगी ?"

"हाँ, बात तो यह ठीक है। अच्छा अब भोजन कर लीजिए, ठण्डा हुआ जा रहा है," कहकर सीता भीतर चली गयी।

लेकिन यहाँ किट्टू ने भोजन पर साथ चलने से इनकार कर दिया। बोला, "माँ यहाँ क्यों आयी थी ? आप बहुत अच्छी कहानी सुना रहे थे, बीच में आकर उसने सब गड़बड़ कर दिया।"

"रूठते क्यों हो ? कल मैं इनसे भी अच्छी कहानी सुनाऊँगा। कहानियों की क्या कमी है ?"

"कहानियों में जो कहा जाता है, वह सब झूठमूठ का होता है न ?"

"हाँ बेटे, इसीलिए तो उसे कहानी कहते हैं। आखिर कहानी कहानी ही होती है।"

किट्टू मेरी इस बात को दोहराते हुए भोजन करने मेरे पीछे-पीछे चला आया।

हम भोजन को बैठे। आज मेरा मन मेरे अधीन था। उसे अधीन रखकर ही भोजन करके उठा। शायद इसलिए कि आज खट्टे आम का सार नहीं बना था। उसके बाद पान-सुपारी खाकर, बरामदे में चटाई डालकर सो गया। चैन से सोकर सुबह उठा तो सूरज निकल चुका था। मुँह-हाथ धोकर और फिर स्नान कर, पूजा-गृह में घुस गया। भगवान् की स्तुति-पाठ कर घण्टा बजाया और बाहर आ गया। बाहर बरामदे में आजीमाँ खड़ी थीं। उन्होंने मुझे देखते ही,

'बेटा' कहकर बुलाया तो मैं उनके पास चला गया।

"बेटे, पता नहीं क्यों आज मेरा मन कुछ अशान्त-सा है। अभी क्षण भर में मैं नहाकर आती हूँ। तिप्पक्का को फिर से देख आने की ललक है मेरे मन में। क्या तुम मुझे वहाँ ले चलोगे?" आजीमाँ यह कहती हुई नहाने चली गयीं। मैं तो भ्रमित रह गया। तीस साल तक वे एक बार भी तिप्पज्जी से नहीं मिली थीं। फिर अभी ही, शायद तीन महीने पहले, वे उनसे मिलकर आयी थीं। कभी किसी रिश्तेदार के यहाँ अपने को ले जाने के लिए आजीमाँ ने मुझसे नहीं कहा था। लेकिन आज उन्होंने खुद मुझे बुलाकर तिप्पज्जी के यहाँ ले चलने को कहा, इसका क्या कारण है? क्या उन्हें कोई खास बात नजर आयी है? तिप्पज्जी अब ज्यादा दिन नहीं रहेंगी यह सोचकर शायद उनसे मिलने के लिए जाना चाहती है। कुछ भी हो, मैंने सीता के पास जाकर उसे सब कुछ बता दिया।

"अपने मन की वही जानें। जाइये, उन्हें ले जाइये। हमें तो उनकी सेवा करनी है। न जाने यह सौभाग्य कितने दिन और रहेगा। जब तक हैं, सेवा करेंगे।" सीता ने कहा।

आजीमाँ जब नहाकर आयीं तो सीता उनके पास आकर बोली, "थोड़ा उपाहार करती जाइये। दूर का रास्ता है, खाली पेट मत जाइये।"

"चाहे तो मेरे बेटे को कुछ दे दो। मैं तो अभी कुछ नहीं खाऊँगी। अपनी तिप्पी को देखे बिना कुछ नहीं ले सकूँगी," आजीमाँ ने साफ-साफ बता दिया।

रोज की तरह मैंने चिवड़ा और गुड़ लेकर मिलाया। खा-पीकर और थोड़ा-सा साथ में लेकर मैं चल पड़ा। धीरे-धीरे चलते हुए हम हिंडुगान की माँ भगवती के मन्दिर के पास पहुँच गये। आजीमाँ ने वहाँ मन्दिर के सामने, थोड़ी देर रुकने का नाम भी नहीं लिया। वहाँ से आगे चलकर, मंजुनाथ के घर के पास से होते हुए तिप्पज्जी के घर पहुँचने में काफी देर हो गयी। जब आजीमाँ ने उनके घर-आँगन में पाँव रखा तो आगे बरामदे में कोई सोया हुआ-सा दिखाई दिया। तिप्पज्जी की बहू अपने दोनों बच्चों को पास बिठाये भगवान् का नाम ले रही थी।

"सवेरे उठते ही मैंने यही देखा था," आजीमाँ ने धीरे से मुझसे कहा। सुन कर मैं तो घबरा गया। इतने में तिप्पज्जी की बहू अनाथ की तरह भागती हमारी ओर आयी और कहने लगी, "लगता है, भगवान् ने ही आपको भेजा है। दो दिन हो गये; न कुछ खाया, न पिया। मुझे तो लगता है कि इनका शरीर अब बहुत देर नहीं टिकेगा। मैं तो इन बच्चों को छोड़कर यहाँ से कहीं जा भी नहीं सकती। लाख मना करने पर भी वे हन्नार चले गये हैं। उनके लौटने तक ये बची रहें तो अच्छा। कहीं कुछ हो गया तो···"

आजीमाँ ने उस बेचारी को सान्त्वना देते हुए कहा, "घबरा मत बहू, जो

कुछ होना है, वही होगा। जब तक इस घर के पानी का ऋण रहेगी, तब तक तो जियेगी ही। उसके बाद कौन रोक सकता है? न तुम रोक सकती हो, न मैं।"

"कल से बात भी नहीं कर रही हैं। कभी-कभार आंखें खोलती हैं; आंखें क्या, थोड़े पलक-से खुल जाते हैं, बस।"

"कानों में कहने से कुछ हाथ-पैर हिलाती है क्या? अरे हां, तू तो पहले ही घबरायी हुई है, तुझसे क्या पूछें! डरो मत!" कहकर आजीमां ने अपने हाथ-पांव धोये और बरामदे में चली गयीं। बरामदे के एक कोने में चटाई पर तिप्पज्जी को सुलाया गया था। आजीमां जाकर उसके पास बैठ गयीं। उसके दोनों हाथों को छूकर देखा। शायद अभी उष्णता थी उनमें। मैं तो अवाक्-सा खड़ा सभी कुछ देखता रहा। आजीमां ने तिप्पज्जी के कानों में कहा, "तिप्पक्का, मैं आयी हूं। मेरी आवाज़ को पहचान सकती हो न? मैं-मैं आयी हूं—तेरी मूकी। कैसा लग रहा है तुझे?" आजीमां ने पूछा।

तिप्पज्जी के होंठ हिले तो हम सचमुच खुश हो गये।

"बेटे, थोड़ा-सा पानी ला। मैं पिलाऊंगी इसे", आजीमां ने आदेश दिया। तिप्पज्जी की बहू भागकर गंगाजल ले आयी। आजीमां ने उसे हाथ में ले, उसके कानों के पास 'गंगाजल है, पी लो' कहकर उसके मुंह में डालने लगीं। तिप्पज्जी जल पीकर, धीमे स्वर में कुछ बोलीं।

आजीमां ने जवाब में ऊंची आवाज़ में कहा, "तिप्पक्का, तुझे कैसा डर? तूने तो अन्याय नहीं किया जो यमराज आकर तुझे ले जायेंगे। कोई नहीं आयेगा। तेरी 'मां' ही तुझे बुला रही है। मां के पास जाने के लिए बच्चों को कैसा डर? चार दिन बाद मैं भी आने वाली हूं। इस भूमि पर चार दिन नाचने-गाने के लिए जब तुझे आदेश दिया तो तू आयी, नाची-गायी। तेरा नाच भी अच्छा रहा। उसने जैसा चाहा वैसा नचाया। नाच-नाच कर तेरा शरीर सिकुड़ गया है। हाथ-पांव थक गये थे। अब 'और भी नाचो' कहकर वह पागल नहीं बनेगी। इसीलिए बुलावा भेज दिया है।"

बाद में तिप्पज्जी ने और भी कुछ फुसफुसाया। मेरे कान तक तो उनका एक भी शब्द नहीं पहुंचा। लेकिन आजीमां की बात और ही है। वह मन के भीतर झांक सकती हैं इसलिए तिप्पज्जी के हर एक बोल को उन्होंने समझ ही लिया होगा। आजीमां ने कहा, "चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं। तुम तो अपनी मां के पास जा रही हो, और मां के पास जाने में भय काहे का? बुलाने वाली भी वही है, और कोई नहीं। मैं तो तुझे यही कहने को, तेरा धैर्य बढ़ाने को ही आयी हूं। उस दिन तूने मुझे साहस बंधाया था। आज मैं तुझे कह रही हूं..." बेटे, इधर आओ!' कहकर आजीमां ने तिप्पज्जी की बहू और पोतों को अपने पास बुलाया। और फिर तिप्पज्जी के गरम हाथों को उनके सिर पर

रखा, और कहा, "डरो मत ! तिप्पज्जी का आशीर्वाद इस घर के सभी लोगों पर है।"

तिप्पज्जी की वह फूट-फूट कर रोने लगी। आजीमां ने उसे डांटते हुए कहा, "रोती क्यों है ? क्या घर के बड़ों को इसी तरह विदा करते है ? बस अब चुप हो जा। और कितने दिन रहेगी वह ? तुम लोगों को जो कुछ देना था, सब तो दे दिया है उसने। अब तुम्हारे सिर पर भी हाथ रख दिया। इससे बढ़कर और क्या भाग्य हो सकता है ?"

आजीमां को न जाने एकाएक क्या सूझी ! वे तिप्पज्जी का सिर अपनी गोद में रखकर लोरी गाने लगी। न जाने उन्होंने यह लोरी कब और कहां सीखी थी ? मैं तो अपना साहस खो बैठा था। लोरी के एक-दो चरण गाने के बाद वे तिप्पज्जी की सूरत देखते हुए बैठी रहीं। तिप्पज्जी की आखिरी सांस तक वे उसी तरह बैठी रहीं। थोड़ी ही देर में मुझे पास बुलाकर कहा, "अब तू ही इनका पोता है। जाओ आस-पास के लोगों को बुला लाओ। इनके बेटे की प्रतीक्षा में बैठोगे तो यह शव सड़ जायेगा," कहकर मुझे वहां से भेज दिया और दुख से संतप्त उस स्त्री और रोते हुए बच्चों को सान्त्वना देने लगीं।

आजीमां मुझे इसीलिए यहां बुला लाई थीं, यह जानकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैं वहां से भागता-भागता मंजुनाथ के घर पहुँचा। वहां से उसके रिश्ते के एक लड़के को साथ लेकर, आस-पास के और चार लोगों को ले आया। उस घर में मृत्यु ने जो कदम रखा था सो सन्नाटा छाया हुआ था। जल्दी ही चिता की व्यवस्था कर ली गयी। अब तो शव को कन्धों पर उठाना ही बाकी रह गया था। तिप्पज्जी की चिता को अग्नि-स्पर्श कौन करे—यह सवाल उठा। वहां जो भी थे, वे एक दूसरे का मुंह ताकने लगे। आजीमां ने मेरी ओर देखकर, "बेटे, तू किस काम आयेगा ?" मैं भी झट से, "मैं करूंगा" कहकर आगे बढ़ आया। इतने में तिप्पज्जी का बड़ा बेटा नारायण हुन्नार से लौट आया। आते ही वह रोने-धोने लगा। आजीमां ने उसे भी पहले डांटा, फिर सान्त्वना दी। उसके बाद तिप्पज्जी का दाह-संस्कार करने हम चल दिये। आजीमां भी अपवाद बन हम सबके साथ निकल पड़ीं।

दाह-संस्कार की क्रिया पूरी कर मैं और आजीमां अपने घर वापस पहुँचे तब सूरज पश्चिम में डूब रहा था।

चौदह

आजीमाँ के प्रति सीता के मनोभाव में एक विशेष परिवर्तन हुआ था। मैं और आजीमाँ, पीपल चबूतरे पर बैठकर घण्टों बातें करते रहते तो भी वह कुछ नहीं कहती। हो सकता है वह अब जान गयी थी कि आजीमाँ पागल नहीं है। उनकी बातें अब सीता के विचार में बिलकुल व्यर्थ नहीं होती थीं। हो सकता है उसका भाव यह भी हो कि आजीमाँ बहुत बूढ़ी हो गयी हैं और अकेली जैसी ही रहती आयी हैं, इसलिए अपने लाड़ले पोते को सामने पाकर उससे मन की बातें कहने की स्वभावत: इच्छा होती होगी। उसने तो अब यह तक पूछना छोड़ दिया था कि आजीमाँ से इतनी देर तक क्या बातें होती रहीं।

अब तो सचमुच कभी-कभी मैं ही सीता से पूछ उठता, "आजीमाँ ऐसे-ऐसे कह रही थीं, तेरी इस बारे में क्या राय है?" उसका उत्तर प्राय: होता, "हर व्यक्ति का विचार करने का अपना ढंग होता है। मुझे जो मेरे बुजुर्ग कहते आये हैं उस पर आस्था है। मेरे लिए ठीक भी वही है। आजीमाँ जो कहती हैं उससे मुझे कोई परेशानी नहीं।"

"क्या तुम समझती हो कि वे जो कुछ कहती हैं वह सच नहीं?"

"सच क्या है और झूठ क्या यह किसे पता? मुझे वह सब पता लगाने की आवश्यकता भी नहीं। मेरे लिए तो मेरा विश्वास ही सच है। आजीमाँ के लिए भी उनका अपना विश्वास ही सच होगा" यह कहकर सीता ने यह बात वहीं समाप्त कर दी।

उसके विचारों में यह परिवर्तन क्यों और कैसे आया यह मैं बार-बार सोचने लगा। आजीमाँ जो भी कहतीं उसे शत-प्रतिशत मान लेने को तो मैं भी तैयार नहीं था। फिर उनके विचारों को मान लेना भी अपने में कोई अपराध तो था नहीं? आजीमाँ के विचार भिन्न थे तो थे। पर जो भी हो, सीता के भाव में जो थोड़ा-सा परिवर्तन आया था उससे मेरे मन को पर्याप्त संतोष हुआ। हाँ, यह परिवर्तन उसमें कब आया यह मैं बता सकता हूँ। आजीमाँ ने अपनी अन्तर्दृष्टि से तिप्पज्जी की सारी स्थिति जानकर उस दिन मेरे साथ वहाँ पहुँचकर जिस तरह उस मृत्यु की राह जोहती दुखिया को सान्त्वना दी वह सब मैंने सीता को सविस्तार बताया था। आजीमाँ की उस दिन की एक बात को कि 'माँ के पास जाने में बच्चों को डर कैसा?' सुनकर सीता की आँखें भर आयी थीं। आजीमाँ ने तिप्पज्जी को जो एक लोरी-सी सुनायी थी उसे सुनकर तो वह बोल उठी थी, "आजीमाँ—यह आजीमाँ है या स्वयं माँ भगवती!"

आजीमाँ में कोई विशेष अन्तर्दृष्टि थी यह तो सुस्पष्ट था, पर वह दृष्टि क्या थी, उस गहराई तक जा पाना संभव नहीं था। शायद इससे भी सीता में मानसिक

परिवर्तन हुआ होगा। सीता बच्चों को लेकर हर सोमवार कपालेश्वर के मन्दिर हो आती थी। अब उसने एक और नये आराध्य को जुटा लिया। दूर होते हुए भी वह अब हर शुक्रवार को हिण्डुगान देवी के मन्दिर तक जाने लगी थी। सीता को शायद लगा हो कि आजीमाँ ने जो बात कही थी वह हिण्डुगानम्मा की ही होगी। लेकिन *आजीमाँ* के अन्तम् में तो जिस शक्ति का प्रतिष्ठान है वह 'माँ' तो मंजुनाथ की जगदम्बा से भी बड़ी है, महान् है। वह तो सारी सृष्टि की ही माँ है। सृष्टि और व्यक्ति के बीच का सम्पर्क सेतु है। एक बार सीता घर आये किसी व्यक्ति से कह रही थी, "बच्चे को तीन दिन से जोर का ज्वर था। माँ के पास जाकर मिन्नत माँगी। बस, एक ही दिन में ज्वर हवा हो गया!" लेकिन आजीमाँ भगवान् से कुछ भी माँगनेवालों को गौरव नहीं देतीं, यह मैं जानता था। एक बार मैंने पुरन्दरदास जी की बात उठायी थी तो उन्होंने जो कहा था उसे मैं भूला नहीं था। एक और संदर्भ में आजीमाँ ने यह व्यंग्य भी किया था, "हाँ-हाँ, उसे तो जैसे मालूम ही नहीं कि किसे क्या कष्ट है, आप जाकर अर्जी जो देंगे तभी उसे पता लगेगा।"

उस समय मैंने बहस के तौर पर पूछा था, "लेकिन बिना कहे वह क्यों कुछ देगी?" आजीमाँ ने उत्तर दिया था, "जो पूछता है उसे कुछ देना ही चाहिये ऐसा तो कोई उसूल है नहीं। अपने बच्चों के हित में क्या है क्या नहीं, यह वह खूब जानती है। फिर भी उसने अब तक किसी अमुक जन को न दिया हो तो ज़रूर उसके पीछे कुछ कारण होगा। देने की वस्तु होती है तो वह माँगने से पहले ही दे देती है। यों तो, जो मिलना चाहिये था वह सब देकर ही हमें इस दुनिया में भेजा है।" मैं तो इस बारे में सोच-सोचकर भी कुछ समझ नहीं पाया।

शुरू-शुरू में जब आजीमाँ के मन पर वैधव्य का दुख छाया हुआ था तब वह किसी न किसी मन्दिर जाती ही रही थी। वहाँ क्या करती थी या क्या कहती थी, यह मैं नहीं जानता। लेकिन बाद में तो मन्दिर जाने की इच्छा उन्होंने कभी प्रकट नहीं की। एक बार जब वे हिण्डुगान गयी थीं तो वहाँ क्या हुआ यह आप तिप्पज्जी के मुँह से सुन चुके हैं। मन्दिर जाने की खुशी तो छोड़िये, बाद में जो यन्त्रणाएँ उन्हें भोगनी पड़ी वे सामान्य नहीं थीं।

वर्षा-पानी के दिन बीत गये तो धान को लाकर घर में रख दिया गया। उसके एक महीने बाद गाँव में मजदूर आकर धान को सुखाकर, हमारे घर के आँगन में जो तीन बड़ी-बड़ी ओखलियाँ हैं, उनमें धान डालकर कूटने लगे। दस दिन में यह काम भी पूरा हो गया। धान कूटने आये मजदूर काम करते जाते और गीत भी गाते जाते। उनके गीतों में गाँव की कहानी ही हुआ करती, गरीबी की कहानी। सीता को जंगल में अकेली छोड़ लक्ष्मण के चले आने की बात भी उन गीतों में आती है। आजीमाँ उन लोगों के सभी गीत सुनती और फिर अपने से

बड़बड़ाया करतीं। मैं तो खेती-बारी के काम में लगा रहा था। कभी बाग में तो कभी खेत में। कुछ दिनों बाद हुरलि और उड़द भी घर में लाकर रखा गया। धान को भी कूट-फटककर रखा गया।

एक दृष्टि से हमारे गांव का जीवन बिलकुल नीरस है। हर साल वही काम, वही बातें! इस ग्रामीण जीवन में कोई न कोई त्योहार या उत्सव भी न रहे तब तो उसमें क्या आनन्द रह जायेगा, क्या रस रहेगा? वैशाख में तो किसी के घर व्याह तो किसी के उपनयन रहता ही है। खेती-बारी के सारे काम तब पूरे हो चुके रहते हैं। एक-दूसरे के यहां जाने-आने का भी यही सबसे अच्छा अवसर होता है। कहीं शादी तो कहीं कुछ और, और इसी में समय बीत जाता है। फिर गणेश-चतुर्थी, नवरात्रि, अनन्त-चतुर्दशी आदि त्योहार आ जाते। अनन्त-चतुर्दशी के बाद तो अगले साल फिर त्योहार आने तक समय काटने का तापत्रय रहता। बरखा के बाद जिस तरह मेढक कीचड़ में छुपकर सो जाते हैं, उसी तरह हम भी अपनी सारी चिन्ताओं को भूल जड़ भरत हो जाते हैं।

आगे? आगे सरदी आयी और फिर सरदी के बाद सूं-सूंकर पवन झकोरे चलने लगे। तब लगा हाँ-हाँ, अब त्योहार आया। अब तक की सारी ऊब को दूर करने वाला त्योहार शिवरात्रि! शिवरात्रि के दिन उपवास करना चाहिये, यानी भोजन की बजाय दो समय सिर्फ चिवड़ा-खीरा ही खाना। आजीमां को भी वही, किट्टू को भी वही। उस दिन शाम को हम सब कपालेश्वर के मन्दिर जाते हैं। वहां भगवान् का महाभिषेक होता है, रुद्र और मन्त्रघोष होता है, आरती होती है। और फिर रात में हम सब हाथ में गन्ध और बिल्वपत्र लिये घर लौटते हैं। हमारे घर में, पता नही क्यों बरसों से यह रिवाज चल आ रहा है कि मन्दिर से लौटने के बाद ही चूल्हा जलाकर खाना पकाया जाये। इतना ही नहीं, ताड़ के पत्तों में आटा डालकर उसका मोदक बनाकर खाने पर ही हमारे शिवजी को संतोष होगा। कुछ भी हो, रात के जागरण के बजाय खाने को मोदक मिलने तक आँखों में नींद भर ही आती है। शिवरात्रि के दिन सवेरे जब मैं स्नान करने चला तो मेरे मन में यही विचार आये। साथ ही कुछ 'मसलहत' करने की भी मन में आयी। मसलहत यही कि किसी न किसी तरह आजीमां को फुसलाकर कपालेश्वर के मन्दिर ले जाना।

शाम होने से पहले ही सीता बच्चों को साथ लेकर अपनी सहेलियों के घर जाती और वहां से सब इकट्ठी हो मन्दिर जाती थीं। सीता जब चली गयी तो मैंने आजीमां के पास जाकर कहा, "आजीमां आपको मन्दिर गये बहुत दिन हो गये। आज मैं आपके साथ जाकर भगवान् की पूजा देखना चाहता हूँ। चलेंगी?"

"चलो, उसमें क्या है?" आजीमां तुरन्त राज़ी हो गयीं।

"रास्ते में मैंने उन्हें बताया कि मन्दिर का वह गिरा हुआ मण्डप वैसा ही पड़ा हुआ है। शंकरय्या मन्दिर के मुहतमिमकार हैं। उन्होंने इतना भी ध्यान नहीं दिया कि दो महीने बाद यात्रा भी होने वाली है तो उससे पहले ही उसे ठीक करा लिया जाय। अगर मुझसे कहते तो मैं चन्दा देने को भी तैयार था।" इस तरह बात की भूमिका बनाते हुए आजीमाँ को साथ लिये धीरे-धीरे मैदान में उतर आया। फिर झाड़ियों के रास्ते से करीब आधा मील चलकर कपालेश्वर मन्दिर के प्राकार तक पहुँचते-पहुँचते अँधेरा हो आया था। मैं आजीमाँ का हाथ थामे उन्हें, 'यहाँ गड्ढा है, यहाँ चढ़िये' बताता हुआ मन्दिर तक ले गया।

मन्दिर के अन्दर-बाहर भारी भीड़ थी। उस भीड़ को देखकर मुझे कुछ सोचना पड़ा कि मैं आजीमाँ को वहाँ चर्चा करने के लिए ले आया था। मेरे इस उद्देश्य में वह भीड़ बाधक होती, और आजीमाँ भी शायद उससे बचना चाहतीं। इसलिए मैंने वहाँ कोई शान्त-सी जगह पाने के लिए मन्दिर के चारों ओर दो-तीन चक्कर लगाये। उसके बाद आजीमाँ को यह कहकर कि अन्दर तो बहुत भीड़ है, भगवान् को प्रणाम करके तुरन्त बाहर आ गया। तभी एकाएक मेरी नज़र बिना छज्जे के उस मण्डप पर पड़ी। मैंने आजीमाँ से कहा, "आजीमाँ चलिए, पूजा होने तक हम वहाँ बैठें और आजीमाँ को लिये मैं उस ढहे हुए मण्डप के बरामदे में ले गया। वहाँ बिठाकर मैं भी उनके पास बैठ गया। वहाँ भी भक्तों का शोर और घण्टों की ध्वनियाँ पहुँच रही थीं। पर हाँ, हमारी तरफ मुड़कर किसी ने नहीं देखा। आजीमाँ थोड़ी देर चुप बैठी रहीं। मैं भी चुप्पी साधे रहा। लगभग एक घण्टे तक ऐसी ही स्थिति रही होगी। उसके बाद किसी ने ज़ोर से घण्टा बजाया तो आजीमाँ मेरा हाथ पकड़ती हुई एकदम से बोलीं, "बेटे, मुझे कुछ हो रहा है। कुछ-कुछ सुनाई दे रहा है, दिखाई भी दे रहा है।"

फिर कहने लगीं "यह सब तो विचित्र है। कहावत है न कि कभी सास का ज़माना तो कभी बहू का। यहाँ जो है वह तो शिवलिंग ही है। ब्राह्मणों की चार पीढ़ियाँ इसकी पूजा करती आ रही थीं। पहले यह मन्दिर इतना बड़ा नहीं था। हिड़ुगान के मन्दिर की तरह यह भी एक छोटी कोठरी की तरह ही था। अब तो इसका रूप ही बदल गया है। अब देखो, मन्दिर के सामने नन्दि है, सभा-मण्डप है, प्राकार है। पहले कभी यहाँ का, इस गाँव का, राजवंश बदल गया। उस दिन तुमने जो मूर्ति दिखाई थी न, उसके संस्थापक का राज्यभार यहाँ चलने लगा। उस समय इस शिवलिंग को देखकर हँसने वाले लोग भी थे। गाँव के लोगों में से कितनों ने ही अपनी जाति छोड़ी, दूसरी जाति को स्वीकार किया। कुछ लोग ऐसे भी थे जो कहने लगे—'वह भी सच है, यह भी सच है।' बस, तभी से तीन-चार पीढ़ी जाते-न-जाते यहाँ क्या कुछ नहीं हो गया? इस शिव की जब-तब पूजा करने वाले ब्राह्मण नहीं रह गये। सच तो यह है कि उसे भी किसी प्रकार

की पूजा की जरूरत नहीं है। उसकी स्तुति करके हम उसको कभी लुभा सकते हैं?"

आजीमाँ आगे कुछ न कहकर सहसा चुप हो गयी थीं। मैंने पूछा "फिर यह मन्दिर इतना बड़ा कैसे हुआ? अब तो इसकी देखरेख करने वाला भी कोई नहीं है। फिर भी इसे हम ठीक रखते तो शायद यह पुराना प्रतिष्ठान तो बच जाता।"

आजीमाँ ने मेरी इस बात पर कुछ प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। थोड़ी देर बाद बोलीं, "यहाँ कहीं एक सभा-मण्डप रहना चाहिये।"

"आजीमाँ यही तो है वह मण्डप! उसीके बरामदे में हम बैठे हैं। इसका छज्जा जो गिर चुका है", मैंने कहा।

"हाँ ऐसा कहो!" आजीमाँ बोलीं। "अब कुछ तालमेल नज़र आ रहा है। इस मण्डप की एक अलग ही कहानी है। शिव का मन्दिर जब उजड़ा पड़ा था तब की बात दिख रही है। तब यहाँ का राजा वही है जो दक्षिण के किसी नगर से आया था। वह इस मन्दिर तक भी आया करता है। इस मन्दिर में पहले विष्णु की मूर्ति थी। उस राजा के पूर्वजों ने उसे उखाड़कर किसी दूसरे भगवान् की मूर्ति की प्रतिष्ठापना की है। खैर, यह राजा यहाँ आता है। एक दिन उस राजा की दूसरी पत्नी बीमार पड़ गयी। वह कोई मामूली बीमारी नहीं है। मुझे तो अब भी ज्वर से तपती हुई उसकी सूरत दिखाई दे रही है। बहुत दवा-दारू की गयी, झाड़-फूंक भी। पर फ़ायदा कुछ न हुआ। अब तो वह मरणशय्या पर पड़ी है। तो वह राजा की दूसरी पत्नी है, राजा उसे ही बहुत चाहता है। वह अभी, छोटी है और सुन्दर भी। उसकी हालत देखकर राजा तो घबरा गया। तभी, लगता है, किसी ने उसके कान में यह बात डाली कि हिण्डुगान के आस-पास एक महान् ऋषि रहते हैं, उनमें मृतक में भी प्राण डालने की क्षमता है। बस उसी क्षण राजा अपने घोड़े पर बैठकर यहाँ भाग आया और यहाँ से हिण्डुगान भी गया। जानते हो तब क्या हुआ? मैंने एक दिन जो वैरागियों के बारे में बताया था, शायद तुझे याद होगा। वे वैरागी अपने सारे शरीर पर भस्म लगाते हैं, जटाजूटधारी हैं, वे सब भैरव के भक्त लगते हैं। दिनभर सोते और रात में जागकर वे पूजापाठ करते हैं। श्मशान तो मानो उनके लिए घर ही बन गया है। देखो, अब मुझे उन वैरागियों का गुरु भी नजर आ रहा है। काला, मोटा! वह भी अपने शरीर को भस्म से ढके हुए है। छोटे बच्चे उसे देखें तो शायद डर के मारे चिल्ला पड़ें। उस गुरु के हाथ में लोहे का बड़ा-सा त्रिशूल भी है। वह नर-मनुष्य की खोपड़ी में से पानी पीता है।"

मैंने अपनी उत्सुकता प्रकट करते हुए आजीमाँ से कहा, "आजीमाँ, कापालिकों का गुरु था वह। सुना है कि पहले कापालिक माने जानेवाले लोग ऐसे ही

कुछ थे और वे कालभैरव के भक्त थे।"

"भक्त हों या न हों, बात एक ही है। लेकिन उनका पूजा-विधान मेरी समझ में नहीं आ रहा है। तपस्या, अष्टसिद्धि मैंने भी सुनी है, पर उसके लिए क्या रात के अँधेरे की जरूरत है? रात में ही ये लोग मण्डल लिखते हैं, होम करते हैं, ह्रीं-ह्रीं जपते हुए आँखें मूँदकर ध्यान भी करते हैं। उसके बाद खोपड़ी में मदिरा डालकर पीने लगते हैं। स्त्री-पुरुष सब मिलकर ही भैरव की पूजा करते हैं। वे शिव को शिव नहीं कहते, कालभैरव कहते हैं। वे जब कहने ही लगे तो शिव भी क्या करते!"

"आजीमाँ, ये लोग क्या कैसी पूजा करते हैं? किसलिए करते हैं?"

"किसलिए? भगवान् के बारे में उनकी दृष्टि ही अलग है। मैं तो उसे नहीं मानती। शिव ने उमा को अपनी पत्नी बनाया। फिर भी हम तो शिव को विरक्त मानते हैं। इनका हिसाब-किताब कुछ और है। ये लोग तो उमा जैसी सुन्दर कन्या से हमेशा सुख-भोग चाहते हैं। उसके लिए क्या यह सब करने की जरूरत है? मेरा अनुमान तो यह है कि मन्त्रसिद्धि करके माया और इन्द्रजाल से, शिव की तरह ये भी अपना आधिपत्य चलाना चाहते है। आखिर किस पर? किस-लिए?—"

आजीमाँ मूल बात से हटकर यह सब कहने लगी तो मैंने कहा, "आजीमाँ आप बता रही थी कि किसी जमाने में हमारे हेम्माडि में भी जैन राजा था। सुना है, वह हुँबच्च से आया था।"

आजीमाँ उसी मुद्रा में बोलीं, "हेम्माडि हो या गुड्डम्माडि, वह सब मैं नहीं जानती। हाँ, उस राजा ने अपने परिवार समेत कापालिकों के गुरु के पास जाकर साष्टांग नमस्कार कर अपना दुख प्रकट किया और उसकी दया की भीख माँगी। उस गुरु ने थोड़ी-सी भस्म हाथ में लेकर कुछ मन्त्र फूँककर राजा को दे दी और कुछ कहा भी! राजा उस भस्म को लेकर अपने गाँव लौट गया।"

आजीमाँ ने आगे बताया, "उसके लौटने के बाद क्या हुआ, वह तो ठीक-ठीक पता नहीं, लेकिन इसी स्थल पर, उस राजा ने एक मण्डप बनवाया था। कापा-लिकों के गुरु को यहाँ बुलवाकर, इस मण्डप में बिठाकर, उसके पैर धोये और उस जल को तीर्थोदक मानकर पिया भी। उस दिन का वह उत्सव भी मुझे नज़र आ रहा है। राजा ने उन बैरागियों को बहुत मान-सम्मान दिया। उस गुरु की भस्म से राजा की पत्नी शायद बच गयी होगी और इसी कारण उसके मन में कुछ परिवर्तन भी हुआ होगा। उस राजा के पूर्वज तो ब्रह्मा, विष्णु, शिव को ही मानते थे। लेकिन बीच की पीढ़ियों ने चार दिन के लिए अपने मत को छोड़कर देखते-देखते दूसरा मत अपना लिया। अब फिर उसी तरह का परिवर्तन दिखाई दे रहा है। लोगों को तो अपना मत छोड़कर दूसरा अपनाना कमीज़ बदलने जैसा आसान

की पूजा की ज़रूरत नहीं है। उसकी स्तुति करके हम उसको कभी लुभा सकते हैं ?"

आजीमाँ आगे कुछ न कहकर सहसा चुप हो गयी थीं। मैंने पूछा "फिर यह मन्दिर इतना बड़ा कैसे हुआ ? अब तो इसकी देखरेख करने वाला भी कोई नहीं है। फिर भी इसे हम ठीक रखते तो शायद यह पुराना प्रतिष्ठान तो बच जाता।"

आजीमाँ ने मेरी इस बात पर कुछ प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। थोड़ी देर बाद बोलीं, "यहाँ कहीं एक सभा-मण्डप रहना चाहिये।"

"आजीमाँ यही तो है वह मण्डप ! उसीके बरामदे में हम बैठे हैं। इसका छज्जा जो गिर चुका है", मैंने कहा।

"हाँ ऐसा कहो !" आजीमाँ बोलीं। "अब कुछ तालमेल नज़र आ रहा है। इस मण्डप की एक अलग ही कहानी है। शिव का मन्दिर जब उजड़ा पड़ा था तब की बात दिख रही है। तब यहाँ का राजा वही है जो दक्षिण के किसी नगर से आया था। वह इस मन्दिर तक भी आया करता है। इस मन्दिर में पहले विष्णु की मूर्ति थी। उस राजा के पूर्वजों ने उसे उखाड़कर किसी दूसरे भगवान् की मूर्ति की प्रतिष्ठापना की है। खैर, यह राजा यहाँ आता है। एक दिन उस राजा की दूसरी पत्नी बीमार पड़ गयी। वह कोई मामूली बीमारी नहीं है। मुझे तो अब भी ज्वर से तपती हुई उसकी मूरत दिखाई दे रही है। बहुत दवा-दारू की गयी, झाड़-फूंक भी। पर फ़ायदा कुछ न हुआ। अब तो वह मरणशय्या पर पड़ी है। तो वह राजा की दूसरी पत्नी है, राजा उसे ही बहुत चाहता है। वह अभी, छोटी है और सुन्दर भी। उसकी हालत देखकर राजा तो घबरा गया। तभी, लगता है, किसी ने उसके कान में यह बात डाली कि हिण्डुगान के आस-पास एक महान् ऋषि रहते हैं, उनमें मृतक में भी प्राण डालने की क्षमता है। बस उसी क्षण राजा अपने घोड़े पर बैठकर यहाँ भाग आया और यहाँ से हिण्डुगान भी गया। जानते हो तब क्या हुआ ? मैंने एक दिन जो बैरागियों के बारे में बताया था, शायद तुझे याद होगा। वे बैरागी अपने सारे शरीर पर भस्म लगाते हैं, जटाजूटधारी हैं, वे सब भैरव के भक्त लगते हैं। दिनभर सोते और रात में जागकर वे पूजापाठ करते हैं। श्मशान तो मानो उनके लिए घर ही बन गया है। देखो, अब मुझे उन बैरागियों का गुरु भी नज़र आ रहा है। काला, मोटा ! वह भी अपने शरीर को भस्म से ढके हुए है। छोटे बच्चे उसे देखें तो शायद डर के मारे चिल्ला पड़ें। उस गुरु के हाथ में लोहे का बड़ा-सा त्रिशूल भी है। वह नर-मनुष्य की खोपड़ी में से पानी पीता है।"

मैंने अपनी उत्सुकता प्रकट करते हुए आजीमाँ से कहा, "आजीमाँ, कापालिकों का गुरु था वह। सुना है कि पहले कापालिक माने जानेवाले लोग ऐसे ही

कुछ ये और वे कालभैरव के भक्त थे।"

"भक्त हों या न हों, बात एक ही है। लेकिन उनका पूजा-विधान मेरी समझ में नहीं आ रहा है। तपस्या, अष्टसिद्धि मैंने भी सुनी है, पर उसके लिए क्या रात के अँधेरे की जरूरत है? रात में ही ये लोग मण्डल लिखते हैं, होम करते हैं, ह्रां-ह्रीं जपते हुए आँखें मूँदकर ध्यान भी करते हैं। उसके बाद खोपड़ी में मदिरा डालकर पीने लगते हैं। स्त्री-पुरुष सब मिलकर ही भैरव की पूजा करते हैं। वे शिव को शिव नहीं कहते, कालभैरव कहते हैं। वे जब कहने ही लगे तो शिव भी क्या करते!"

"आजीमाँ, ये लोग क्या कैसी पूजा करते हैं? किसलिए करते हैं?"

"किसलिए? भगवान् के बारे में उनकी दृष्टि ही अलग है। मैं तो उसे नहीं मानती। शिव ने उमा को अपनी पत्नी बनाया। फिर भी हम तो शिव को विरक्त मानते हैं। इनका हिसाब-किताब कुछ और है। ये लोग तो उमा जैसी सुन्दर कन्या से हमेशा सुख-भोग चाहते हैं। उसके लिए क्या यह सब करने की जरूरत है? मेरा अनुमान तो यह है कि मन्त्रसिद्धि करके माया और इन्द्रजाल से, शिव की तरह ये भी अपना आधिपत्य चलाना चाहते हैं। आखिर किस पर? किसलिए?—"

आजीमाँ मूल बात से हटकर यह सब कहने लगीं तो मैंने कहा, "आजीमाँ आप बता रही थीं कि किसी जमाने में हमारे हेम्माडि में भी जैन राजा था। सुना है, वह हुँबच्च से आया था।"

आजीमाँ उसी मुद्रा में बोलीं, "हेम्माडि हो या गुड्डम्माडि, वह सब मैं नहीं जानती। हाँ, उस राजा ने अपने परिवार समेत कापालिकों के गुरु के पास जाकर साष्टांग नमस्कार कर अपना दुख प्रकट किया और उसकी दया की भीख माँगी। उस गुरु ने थोड़ी-सी भस्म हाथ में लेकर कुछ मन्त्र फूँककर राजा को दे दी और कुछ कहा भी! राजा उस भस्म को लेकर अपने गाँव लौट गया।"

आजीमाँ ने आगे बताया, "उसके लौटने के बाद क्या हुआ, वह तो ठीक-ठीक पता नहीं, लेकिन इसी स्थल पर, उस राजा ने एक मण्डप बनवाया था। कापालिकों के गुरु को यहाँ बुलवाकर, इस मण्डप में बिठाकर, उसके पैर धोये और उस जल को तीर्थोदक मानकर पिया भी। उस दिन का वह उत्सव भी मुझे नज़र आ रहा है। राजा ने उन बैरागियों को बहुत मान-सम्मान दिया। उस गुरु की भस्म से राजा की पत्नी शायद बच गयी होगी और इसी कारण उसके मन में कुछ परिवर्तन भी हुआ होगा। उस राजा के पूर्वज तो ब्रह्मा, विष्णु, शिव को ही मानते थे। लेकिन बीच की पीढ़ियों ने चार दिन के लिए अपने मत को छोड़कर देखते-देखते दूसरा मत अपना लिया। अब फिर उसी तरह का परिवर्तन दिखाई दे रहा है। लोगों को तो अपना मत छोड़कर दूसरा अपनाना कमीज़ बदलने जैसा आसान

है। बड़ों को देखकर फिर और सब भी ऐसा ही करते हैं। लेकिन जो लोग आसानी से अपना मत, अपना विश्वास नहीं छोड़ सकते उनके संकट की बात मत पूछो! कुछ भी हो, जाने-अनजाने हम जो कुछ भी करते हैं सब 'उसी' के लिए करते हैं। फिर चाहे वह देवी हो, चाहे देवता!

"उसके बाद क़रीब सौ साल तक यहाँ निर्माण कार्य चलता रहा। सैकड़ों जन लगे रहते उसमें। पुराने मन्दिर का जीर्णोद्धार भी हुआ। लोग अब शिव को भैरव नाम से पुकारने लगे। इस मन्दिर के आसपास माँ दुर्गा का और वीरभद्र के छोटे-छोटे मन्दिर बनवाये गये। इस मन्दिर को भी विशाल किया गया। मण्डप-प्राकार, उत्सव आदि सब की व्यवस्था हुई। बैरागियों के झुंड यहाँ भरने लगे। क्या-न-क्या करते थे यहाँ सब? खूब माँस खाते और मदिरा पीकर या भंग खाकर मन्दिर में मस्त पड़े रहते। चौबीसों घण्टे यही किया करते।"

"लेकिन यह क्या है?" आजीमाँ कहती गयीं, "मुझसे तो विश्वास भी नहीं करते बनता कि यहाँ भैंसे-बकरों की बलि भी चढ़ायी जाती थी। आगे क्या हुआ वह स्पष्ट नहीं। कापालिकों का वह गुरु अपने दस शिष्यों को यहाँ छोड़कर दिग्विजय के लिए चला गया। और जो गया तो फिर लौट नहीं सका। उसके ये शिष्य उसके बाद भी सौ-पचास बरस भंग पी-पीकर यहीं पड़े रहे। मन्त्र और इन्द्रजाल जगाते रहे, गाँव की स्त्रियों पर बुरी नजर डालते रहे। कालक्रम कुछ ऐसा रहा कि कापालिकों के गुरु ने जो बीज बोया था वह पेड़ बनने से पहले ही जड़ से उखाड़ दिया गया। यहाँ जमे उन बैरागियों को निकाल दिया गया। राजा ने उन बैरागियों को ढेरों धन-सम्पत्ति और ज़मीन दी थी। उसकी व्यवस्था होनी ज़रूरी थी। तभी समुद्री-तट से कुछ ब्राह्मणों ने आकर यहाँ अपना स्थान बनाया। उन्होंने उस पुराने शिव-मन्दिर का प्रोक्षणकर उसे शुद्ध किया और फिर से विधिवत् पूजा-पाठ आरम्भ किया। शिव ही ईश्वर बने, अब वे ही कपालेश्वर बन गये। 'कपाल' क्या है यह तो तू जानता ही है, बेटा। वही मनुष्य की खोपड़ी जो कापालिकों के गुरु के हाथ में थी। शिव को भी वही नाम दिया गया। जो 'रुण्डमाली' कहलाता है, वह भी तो शिव ही है।

यह सब होने के बाद यहाँ का हर काम फिर पहले की तरह ही चलने लगा। बैरागियों का जो झुंड आया था वह भी चला गया। उन्हें तो लोग जोगी, गिरि ऐसा कुछ कहते थे। सब के सब हठयोगी थे न! 'योगी' ही शायद 'जोगी' बने। वे तो बाहर से आये थे और चले भी गये। बाद में यहाँ जो बचे थे, वे सब इसी गाँव के जोगी थे। और अब तो इस जोगी कुल के लोग देखने को भी नहीं मिलते हैं।

इतने में मन्दिर की ओर से लगातार घण्टानाद सुनाई दिया। मैं आजीमाँ को लेकर मन्दिर के द्वार की ओर चल पड़ा। वहाँ पहुँच मैं बाहर ही हाथ जोड़कर

खड़ा हो गया। आजीमाँ भी शान्त खड़ी हो गयीं। थोड़ी देर बाद मैंने जब उनकी ओर देखा तो वे कुछ बड़बड़ा रही थीं। शायद उनके मन में कुछ और भी चित्र उभरते आ रहे थे। अगर वहीं यह बड़बड़ाना बढ़कर कुछ और रूप ले उठा तो? मैंने इसी डर के मारे उनसे कहा, "आजीमाँ, खड़ी-खड़ी आप थक जायेंगी; चलिये उधर चलकर बैठ जायें। सीता आयेगी तो प्रसाद ला देगी।" और मैं उन्हें बाहर के मण्डप के पास ले गया।

शायद सीता ने हमें देख लिया था। आरती होने के बाद प्रसाद लेकर वह बाहर आयी तो हम सब मिलकर घर की ओर चल पड़े। रास्ते में किट्टू ने पूछा, "पिताजी, उस पुष्करिणी में पानी कब भरा जायेगा?"

"बसन्त पुष्करिणी? उसकी भी एक कहानी है, बहुत मज़ेदार!" आजीमाँ बोलीं। आगे कुछ कहे वह कि सीता कह उठी, "जल्दी चलें, मुझे घर जाकर अभी खाना भी बनाना है।" हम लोग तेज़ी से पाँव बढ़ाकर चलने लगे।

सीता ने घर पहुँचकर मोदक और पायस बनाकर खिलाया। सच पूछो तो मेरा तो शिवरात्रि का जागरण सफल हो गया।

शिवरात्रि के दिन दूसरों के घर पर पत्थर फेंकने का रिवाज़ हमारे गाँव में नहीं है। बैंदूर और कुंदापुर में तो बच्चे यह काम करते हैं। शिवरात्रि के दिन सोनेवालों को जगाने का ही यह एक तरीका है। यह सौभाग्य मेरा न होने पर भी दिन भर खा-पीकर उपवास व्रत रखा और रात को पेट भर मोदक और पायस खाने से और क्या हो सकता है? पेट में शिवलिंग ही प्रतिष्ठापित हो चुका था। सो सारी रात बुरे-बुरे सपने आते रहे। आजीमाँ को तो दस कापालिक दिखे थे। मुझे तो हज़ारों-हज़ार दिखने लगे। वे खा-पीकर मस्त होकर नाचने लगे। आग जलाकर उसके चारों ओर घूमने लगे। मण्डल रचाने लगे, मन्त्र बोलने लगे। पागलों की तरह अजीब-अजीब हरकतें करने लगे। पुरुष-स्त्रियाँ एक-दूसरे का भेद तक खो बैठे। उसके बाद वे लोग आकर, हमारे घर को घेरकर चिल्लाने लगे। दरवाज़ा तोड़कर अन्दर घुस आये और सोये हुए मुझको कपालेश्वर के मन्दिर तक घसीटकर ले गये। जहाँ पहले मण्डप था वहाँ अब एक बलिपीठ थी। वहीं एक खम्भे से मुझे बाँधकर मेरी गर्दन उड़ाने के लिए तैयार हो गये। डर के मारे मैं तो 'आजीमाँ, आजीमाँ' पुकारने लगा। सीता मेरी आवाज़ सुनकर रसोई में से दौड़ी आयी। आजीमाँ भी अपने कमरे में से आयीं और पूछने लगीं, "क्या हुआ बेटा, चिल्ला क्यों रहे हो?"

मैं तो तब भी चिल्ला रहा था। फिर शायद घिग्घी-सी बंध गयी। ऐसा लगा जैसे किसी ने मुझे बाँध रखा हो। इतने में सीता ने मुझे हिलाते हुए पुकारा, "सवेरा हो गया उठोगे नहीं?"

एकदम से झड़ककर उठा तो लगा जैसे पुनर्जन्म ही हुआ हो। जब कभी यह

उसकी फौज में भरती हो गये। बरसों गुजर गये हैं। फिर भी, अपने गाँव को छोड़कर आये हुए ये लोग अपने गाँव की देवी को नहीं भूल पाये। जलदेवी को ये भूलेंगे भी कैसे ? तब यह कपालेश्वर का मन्दिर अभी भैरव-मन्दिर नहीं बना था। यह तब ईश्वर का जीर्ण मन्दिर था और चारों ओर यहाँ वीरानी छाई हुई थी। उस वीराने में ही फौज की छावनी बनी थी। सो ये मछुआरे भी वहीं रहने लगे। धीरे-धीरे अपनी कल्पना के आधार पर इन्होंने अपनी देवी को रूप-आकार दिया। हम तो समुद्र को वरुण भगवान् करके मानते हैं। इनकी कल्पना में समुद्र की देवी कोई और थी। सो इन्होंने लकड़ी का एक खिलौना बनाकर उसे अपने ढंग से सजाकर उस मन्दिर के एक कोने में रख दिया। फिर उसके आगे बड़ा-सा पुष्कर खोदा। साल में एक दिन कहीं से पानी लाकर उसे भर देते। और उसकी पूजा करते। पूजा के बाद नाचना-गाना तो होता ही है इन लोगों में। बस यही है उस वसन्त पुष्करिणी की जन्म-कथा। इन लोगों के भगवान् का नाम 'हौद्राय' है। इनके पूर्वज बरसात बीतने पर समुद्र की पूजा करते और तब जाल बिछाने समुद्र में जाते थे। यहाँ तो समुद्र है नहीं इसलिए इन्होंने इस पुष्करिणी को ही समुद्र मानकर पूजा और 'हौद्राय' इनके भगवान् हुए।

सुनकर मुझे तो हँसी आये बिना न रही।

"क्यों, हँस क्यों रहे हो ?" आजीमाँ ने पूछा।

"देखिये न आजीमाँ, आप जो 'हौद्राय' के बारे में कह रही हैं वह तो न कोई राजा या न भगवान्। बैंदूर के लोग समुद्र को 'सौद्र' कहते हैं। वही 'सौद्र' इन लोगों की जुबान में हौद्र हो गया। रंग खेलना उनके लिए समुद्रराज का एक उत्सव है। इसलिए वे लोग 'हौद्राय का महोत्सव' गाते हुए आते हैं। खैर, अब हौद्राय की वह मूर्ति कहाँ है, उसका क्या हुआ यह भी तो बताइये !"

"वह तो बेटा, एक लकड़ी का खिलौना था। खराब होकर मिट्टी में मिल गया। समय के साथ-साथ लोग उसे भूल भी गये। गाँव के जट्टुगा और बोब्बर्य को तो तुमने देखा ही होगा। यह भी तो लकड़ी के होते हैं। सुना है, बाजार में मिलते भी हैं। अब भी तो हमारे यहाँ किसी पत्थर को दिखाकर 'यह बोब्बर्य का है' या 'यह जट्टुगा का है' कहा ही जाता है। खैर, अब तो हमारे मूडुरु में इन लोगों के दस-बीस ही घर होंगे। जन-बस्ती ज्यादा हो तभी देवी-देवता आते और रह पाते हैं। जनसंख्या कम हुई कि मन्दिर भी सूना पड़ा रहा और एक दिन लकड़ी का वह भगवान् भी चला गया। उसके बाद ही यहाँ का भैरव भी कपालेश्वर हुआ। ब्राह्मण लोग फिर यहाँ आकर मन्दिर में पू[illegible] लगे। बाहर से आये हुए लोग बाहर ही रहकर इस पुष्करिणी में [illegible] उत्सव मनाने लगे। परन्तु रंग खेलने का रिवाज इन लोगों [illegible]

नहीं जानती।"

इतिहास का विद्यार्थी होने के नाते आजीमाँ के विचार और उनकी बातें मेरे मन में बस गयीं। साथ ही, इन विषयों में नितान्त अनभिज्ञ रहना ठीक नहीं, यह सोचकर मैंने नारायण को लिखा, 'तुम्हारे पुस्तकालय में इन विषयों पर कुछ पुस्तकें हों तो आते समय लेते आना।' उसे लिखा यही सोचकर कि दो-एक महीने बाद वह के साथ गाँव आयेगा ही, आजीमाँ से मिलने के लिए तो जरूर ही आयेगा; किताबें भी लेता आयेगा। बाद में यह भी लिख दिया कि कदाचित् उसे आने में अभी देर हो तो उन पुस्तकों को किसी के हाथ भेज दे।

अब नारायण उन पुस्तकों को साथ लायेगा या किसी के हाथ भेजेगा, यह तो मैं नहीं कह सकता; लेकिन मेरे मन में अब दो इच्छाएँ और रह गयी थीं और इन्हें मैं बरसात से पहले ही पूरी कर लेना चाहता था। एक तो नागवन की उस जगह को साफ़ कराकर वहाँ कोई कुआँ है या नहीं, इसका पता लगाना; और दूसरे, अण्णुनायक को साथ लेकर घाटी की उस गुफा में दोबारा जाना। पहले जब गया था तो जनार्दन साथ था। इस बार हो सका तो नारायण को साथ ले जाऊँगा। मेरी इच्छा इस बार वहाँ काफ़ी समय लगाने की थी। नयी कोई चीज हाथ न लगे कोई चिंता नहीं, पर कम से कम अपने मूडूरु साम्राज्य का विगत वैभव कैसा था, इतना तो ज्ञात हो ही जायेगा।

चार दिन बाद एक दोपहर को जनार्दन की माँ हमारे यहाँ आयीं। मैं तो उनके यहाँ हजार बार गया हूँ, पर हमारे यहाँ वे कभी नहीं आयी थीं। उस दिन आकर वे सीधे भीतर चली गयीं और सीता से अपने सुख-दुख की चर्चा करने लगीं। मैंने उस समय उनकी बातचीत की ओर ध्यान नहीं दिया। लेकिन रात को सीता ने जब वह समाचार सुनाया तो मुझे बड़ा दुख हुआ। जनार्दन के पिता वातरोग से पीड़ित थे। उनसे कहीं भी जाना-आना नहीं होता था। उनकी बात को सदा अनसुनी करते आये बेटे के विषय में वे बहुत चिन्तित थे। फिर माँ का चिन्तित होना तो स्वाभाविक था ही। पिछली बार छुट्टियों में वह घर तो आया था लेकिन न जाने क्यों एकाएक मैसूर चला गया था। उसके बाद उसने घर चिट्ठी तक नहीं लिखी। मैंने तब यही समझा था कि माता-पिता ने ब्याह के लिए जोर दिया होगा इसलिए भाग निकला होगा। जनार्दन के कन्यान्वेषण के बारे में मंजुनाथ मुझे बता चुका था। शिवमोग्गा में हमारे सम्बन्धियों के ही यहाँ जो सब उसने किया, मैं जान चुका था। मेरा वह मित्र जरूर था, लेकिन कन्या देखने के नाम से लोगों के यहाँ जाना-आना और आतिथ्य स्वीकार कर उन्हें झूठी आशा बँधाकर फिर धोखा देने की उसकी प्रवृत्ति से मैं तंग आ चुका था। उसके प्रति मेरे मन में जो मान था वह भी इस बीच जा चुका था। जनार्दन बुद्धिमान है इसमें कोई शक नहीं। उसने अँग्रेज़ी साहित्य पढ़ा है और 'प्रेम', शृंगार आदि

पर घण्टों बात कर सकता है। अंग्रेजी कवियों की बातों को वह अपने मुख से ऐसे लुढ़काता चलता है जैसे हमारे पुरोहित मन्त्रों को उच्चारते हैं। एक दिन मुझे ही समझाने लगा कि 'ब्यूटी इज ट्रुथ ऐण्ड ट्रुथ इज ब्यूटी !' तब मैंने हँसकर कहा था, "ब्यूटी क्या है यह तुम जानते होगे, पर ट्रुथ क्या है उसकी सादा गन्ध भी तुम्हें नहीं मालूम। लेकिन जन्ना, तुम्हारे लिए ये दोनों ही खतरनाक हैं।" अन्त में मैंने उससे यह भी कहा था, "तुम साहित्य के बदले फिलासफि का अध्ययन करते तो शायद ठीक होता।" कारण मात्र इतना था कि उसको चाहिए केवल बात करना और वाद-विवाद में जयश्री। उसने कभी यह नहीं सोचा होगा कि ये सब जीवन के ही विषय हैं। खैर छोड़िए, अभी तो मैं यह बताऊँ कि उसकी माँ हमारे यहाँ अपनी कौन सी व्यथा लेकर आयी थी।

एक महीना हुआ, जनार्दन ने घर लिखा था कि जैसे भी हो उसे तीन हजार रुपये नकद भेज दिये जायें, नहीं तो उसकी मर्यादा भंग हो जायेगी। उसने घर बनाने के लिए पाँच सौ रुपये ऐडवान्स देकर जमीन खरीदी है, अब बाकी तीन हजार नहीं देगा तो वह पाँच सौ भी डूब जायेंगे। पिता-माता ने समझा कि जैसा भी हो, बेटा तो है ही। वह अगर मैसूर में घर बनाकर वहीं रहना चाहता है तो वहीं रहे। मगर पैसे का क्या हो ? जन्ना के पिता के पास तीन हजार तो क्या, तीन सौ रुपये भी नहीं थे। कर्ज भी लें तो किससे ? बहुत सोचने-विचारने के बाद उन्होंने जगदम्बा होटल के मालिक मंजुनाथ को लिखा, 'जनार्दन की जमीन खरीदने की बात ठीक हो तो हमारी जो भी जमीन-जायदाद है उसकी जमानत पर उसे तीन हजार रुपये दे दो।' मंजुनाथ से उत्तर आया कि जनार्दन ने जो कुछ लिखा है वह सब झूठ है। जो जमीन उन्हें ले जाकर उसने दिखायी उसके मालिक ने बताया कि जनार्दन उसके पास कभी गया ही नहीं और न वह जमीन बिकाऊ ही है। मंजुनाथ का यह पत्र पाकर जन्ना के माता-पिता एकदम से घबरा गये। बेटा अपने ही माँ-बाप को झूठी बातें लिखकर पैसा मँगाने की सोचे तो घबरायेंगे ही ! जन्ना के पिता ने तब उसे लिखा, "मैं रोग से बहुत ही पीड़ित हूँ। न जाने और कितने दिन जीऊँ। एक बार गाँव आकर मिल जाओ।" लेकिन क्या जन्ना आया ?

जनार्दन की माँ अपनी यही व्यथा लेकर हमारे यहाँ आयी थी और सीता से कह रही थी, "मेरे पति घर से निकल तक नहीं सकते। तुम्हारे वे तो जन्ना के अच्छे मित्र हैं। एक बार मैसूर जाकर मेरे बेटे से और मजुनाथ से मिलकर उसकी हालत का पता कर आयें तो बड़ी कृपा होगी।" सीता ने उन्हें धीरज बँधाकर विदा किया। मगर सीता से यह सब सुनने के बाद उनकी व्यथा अब मेरे पल्ले बँध गयी। बचपन का यह मेरा मित्र इस तरह बिगड़ गया यह सुनकर मुझे भी दुखी और चिन्तित होना स्वाभाविक था।

मैं मैसूर जाने को तैयार हो गया। जन्ना के घर जाकर उसके माता-पिता को साहस बँधा आया। मैसूर जाने का दिन भी निश्चय कर लिया। जाने से एक दिन पहले आजीमां से जाकर पूछा, "आजीमां, मैं एक काम से जा रहा हूँ। बताओ क्या वह सुफल होगा?" उन्होंने हँसकर कहा, "फल तो होगा, पर निष्फल।" उनका यह उत्तर सुनकर मैं भी हँसते हुए वहां से निकल पड़ा।

गांव से शिवमोग्गा पहुँचने में एक दिन लग गया। वहां अगर समधियों के यहां जाता तो मैसूर जाने में और देरी होती, इसलिए सीधा रेलवे स्टेशन गया और खचाखच भरे तीसरे दरजे के एक डब्बे की भेड़-बकरियों में जा घुसा। आधी रात के बाद अरसिकेरे में उतरकर मैसूर जाने वाली गाड़ी पकड़ी। वह गाड़ी भी बहुत देर के बाद भैंस की चाल चलती हुई स्टेशन से निकली। मैसूर पहुँचते-पहुँचते दिन चढ़ आया था। रेलवे स्टेशन से शिवराम पेटे नज़दीक ही है। वहीं पर मंजुनाथ का जगदम्बा होटल था, इसलिए रहने की कोई चिन्ता नहीं थी। होटल पहुँचते ही मंजुनाथ ने बढ़कर मेरा स्वागत किया। दोपहर का भोजन उन्हीं के घर हुआ। चार तरह की मिठाइयां परोसी गयीं। मेरे लिए तो सभी नयी थीं। एक जलेबी जैसी मिठाई का नाम उसने 'जहांगीर' बताया तो बाक़ी तीनों का नामकरण मैंने कर दिया --'शाह आलम,' 'मीर जाफ़र', 'औरंगज़ेब'! कुछ देर हम दोनों हँसते रहे। भोजन के बाद मैंने तिप्पज्जी का देहान्त हो जाने की खबर दी। खबर उसे मिल चुकी थी लेकिन बाकी ब्यौरा उसे अभी तक नहीं मिल पाया था। इसलिए तिप्पज्जी के अन्तिम क्षणों का वृत्तान्त मैंने उसे कह सुनाया। मंजुनाथ उस पुण्यजीवी का स्मरण कर उनका गुणगान करने लगा। उसी संदर्भ में उसने आजीमां का भी गुणगान किया।

संध्या के चार बज रहे थे तो मंजुनाथ पास आकर बोला, "कितने दिन रहने का विचार है? आये हो तो चार-आठ दिन रहकर आसपास के स्थान को देख लो। नंजनगूड, श्रीरंगपट्टण, मैसूर—इन्हें देखने के लिए कम से कम एक सप्ताह तो चाहिये। इन्हें देखने को 'होल इंडिया' से लोग आते हैं।"

मुसकराते हुए मैंने जवाब में कहा, "मंजुनाथ, सप्ताह भर यहां बैठने के लिए समय कहां है? बहुत रुक सका तो तीन दिन, वह भी तुम्हारे संतोष के लिए और जो जहांगीर और शाहजहां खाने पड़े तब तो एक दिन भी नहीं रह सकूँगा। तुम्हारी थोड़ी मदद मिल जाय तो जिस काम से आया हूँ उसे एक दिन में ही निपटाकर दो दिन तुम्हारे लिए और रहूँगा। लौटते हुए शिवमोग्गा में एक दिन समधियों के यहां रुककर दूसरे ही दिन गांव चले जाना है।" इस तरह मैंने अपना कार्यक्रम प्रस्तुत कर दिया।

"तो आप किसी काम से आये हैं! ठीक है, मुझसे जितना जो भी हो सकेगा सहयोग दूंगा। कहिये क्या काम है?" मंजुनाथ ने पूछा। जनार्दन के बारे में जो

कुछ मुझे बताया गया था, मैंने वह सब मंजुनाथ को सुना दिया। मंजुनाथ मेरी बातें सुनकर कुछ उदास-सा हो आया। बोला, "सुब्बाराव, मैं किसी से जलता नहीं हूँ, झूठ नहीं बोलता, इतना तो आपको भरोसा होगा ही ?"

"अरे भाई, तुम पर पूरा भरोसा है, इसीलिए तो तुम्हारे पास आया हूँ। भरोसा न होता तो आता ही क्यों ?"

"फिर तो उस प्रसंग को अब भूल जाइये। जनार्दन की कहानी अब खतम हो चुकी।" मंजुनाथ बोला।

"घर से निकलते समय पूछने पर आजीमाँ ने कहा था यह काम सफल नहीं होगा। तुम भी यही कहना चाहते हो क्या ?"

मंजुनाथ ने इस पर विस्तार से बताया, "देखो सुब्बाराव, तुम्हारा जन्ना बहुत चालक है। कई लोगों के यहाँ लड़की देखने के बहाने से यह जाता-आता रहा और उन्हें झूठी आशाएँ देता रहा। एक-दो जगह ब्याह करने का भरोसा बाँधकर उनकी बेटियों को साथ लेकर बाजारों में भी घूमने लगा था। लेकिन ऐसा आखिर कब तक चलता ? एक जगह फँस गया। वह लड़की गर्भवती हो गयी। उसके माता-पिता को पता चला तो तुम्हारे मित्र ने उन्हें पैसा देकर वहाँ से सटक जाने की कोशिश की। मगर इस बार खेल चला नहीं। सुना है, परसों यहाँ की चर्च में उनका विवाह हुआ। तुम मिलना चाहो तो उनके रहने के स्थान का पता लगाऊँ ! नवदम्पती को उपहार देने के लिए भी कुछ लेते चलिए। सुबण्णा, मैंने जन्नार्दन के बारे में जो कुछ भी बताया उसमें रत्ती भर भी बनाकर नहीं कहा गया है।"

क्या कहता मैं ? मेरे मुँह से तो एक शब्द भी नहीं निकला और न ही फिर मंजुनाथ कुछ कह सका। दोनों ही स्तब्ध ! यहाँ तीन दिन ठहरना सोचा था सो मंजुनाथ के साथ मैसूर घूमता रहा। भीतर-भीतर यह प्रश्न जरूर मुझे परेशान करता रहा कि जन्ना के माता-पिता को जाकर क्या बताऊँगा।

एक दिन जनार्दन के कुछ मित्र, जो अक्सर मंजुनाथ के होटल आया करते थे, वहाँ आ गये। इन लोगों ने जनार्दन के बारे में और भी बहुत-सी बातें सुनायीं। सुनकर मन इतना दुखी हुआ कि फिर अगले सवेरे ही मैसूर से निकल पड़ा और शिवमोग्गा भी न रुककर सीधे गाँव लौट आया।

गाँव पहुँचने पर जनार्दन के बारे में जो कुछ सुना और जाना था वह सब मैंने आजीमाँ को बताया। वह बोली, "मुझे तो जब वह यहाँ आया था तभी ऐसा कुछ लगा था। चलो, जो होना था सो हो गया।"

मैं मैसूर जाने को तैयार हो गया। जन्ना के घर जाकर उसके माता-पिता को साहस बँधा आया। मैसूर जाने का दिन भी निश्चय कर लिया। जाने से एक दिन पहले आजीमाँ से जाकर पूछा, "आजीमाँ, मैं एक काम से जा रहा हूँ। बताओ क्या वह सुफल होगा?" उन्होंने हँसकर कहा, "फल तो होगा, पर निष्फल।" उनका यह उत्तर सुनकर मैं भी हँसते हुए वहाँ से निकल पड़ा।

गाँव से शिवमोग्गा पहुँचने में एक दिन लग गया। वहाँ अगर समधियों के यहाँ जाता तो मैसूर जाने में और देरी होती, इसलिए सीधा रेलवे स्टेशन गया और खचाखच भरे तीसरे दरजे के एक डब्बे की भेड़-बकरियों में जा घुसा। आधी रात के बाद अरसिकेरे में उतरकर मैसूर जाने वाली गाड़ी पकड़ी। वह गाड़ी भी बहुत देर के बाद भैंस की चाल चलती हुई स्टेशन से निकली। मैसूर पहुँचते-पहुँचते दिन चढ़ आया था। रेलवे स्टेशन से शिवराम पेटे नज़दीक ही है। वहीं पर मंजुनाथ का जगदम्बा होटल था, इसलिए रहने की कोई चिन्ता नहीं थी। होटल पहुँचते ही मंजुनाथ ने बढ़कर मेरा स्वागत किया। दोपहर का भोजन उन्हीं के घर हुआ। चार तरह की मिठाइयाँ परोसी गयीं। मेरे लिए तो सभी नयी थीं। एक जलेबी जैसी मिठाई का नाम उसने 'जहाँगीर' बताया तो बाक़ी तीनों का नामकरण मैंने कर दिया—'शाह आलम,' 'मीर जाफ़र', 'औरंगज़ेब'! कुछ देर हम दोनों हँसते रहे। भोजन के बाद मैंने तिप्पज्जी का देहान्त हो जाने की खबर दी। खबर उसे मिल चुकी थी लेकिन बाकी ब्यौरा उसे अभी तक नहीं मिल पाया था। इसलिए तिप्पज्जी के अन्तिम क्षणों का वृत्तान्त मैंने उसे कह सुनाया। मंजुनाथ उस पुण्यजीवी का स्मरण कर उनका गुणगान करने लगा। उसी संदर्भ में उसने आजीमाँ का भी गुणगान किया।

संध्या के चार बज रहे थे तो मंजुनाथ पास आकर बोला, "कितने दिन रहने का विचार है? आये हो तो चार-आठ दिन रहकर आसपास के स्थान को देख लो। नंजनगूड, श्रीरंगपट्टण, मैसूर—इन्हें देखने के लिए कम से कम एक सप्ताह तो चाहिये। इन्हें देखने को 'होल इंडिया' से लोग आते हैं।"

मुसकराते हुए मैंने जवाब में कहा, "मंजुनाथ, सप्ताह भर यहाँ बैठने के लिए समय कहाँ है? बहुत रुक सका तो तीन दिन, वह भी तुम्हारे संतोष के लिए और जो जहाँगीर और शाहजहाँ खाने पड़े तब तो एक दिन भी नहीं रह सकूँगा। तुम्हारी थोड़ी मदद मिल जाय तो जिस काम से आया हूँ उसे एक दिन में ही निपटाकर दो दिन तुम्हारे लिए और रहूँगा। लौटते हुए शिवमोग्गा में एक दिन समधियों के यहाँ रुककर दूसरे ही दिन गाँव चले जाना है।" इस तरह मैंने अपना कार्यक्रम प्रस्तुत कर दिया।

"तो आप किसी काम से आये हैं! ठीक है, मुझसे जितना जो भी हो सकेगा सहयोग दूँगा। कहिये क्या काम है?" मंजुनाथ ने पूछा। जनार्दन के बारे में जो

कुछ मुझे बताया गया था, मैंने वह सब मंजुनाथ को सुना दिया। मंजुनाथ मेरी बातें सुनकर कुछ उदास-सा हो आया। बोला, "सुब्बाराव, मैं किसी से जलता नहीं हूँ, झूठ नहीं बोलता, इतना तो आपको भरोसा होगा ही ?"

"अरे भाई, तुम पर पूरा भरोसा है, इसीलिए तो तुम्हारे पास आया हूँ। भरोसा न होता तो आता ही क्यों ?"

"फिर तो उस प्रसंग को अब भूल जाइये। जनार्दन की कहानी अब खत्म हो चुकी।" मंजुनाथ बोला।

"घर से निकलते समय पूछने पर आजीमाँ ने कहा था यह काम सफल नहीं होगा। तुम भी यही कहना चाहते हो क्या ?"

मंजुनाथ ने इस पर विस्तार से बताया, "देखो सुब्बाराव, तुम्हारा जन्ना बहुत चालक है। कई लोगों के यहाँ लड़की देखने के बहाने से यह आता-जाता रहा और उन्हें झूठी आशाएँ देता रहा। एक-दो जगह ब्याह करने का भरोसा बाँधकर उनकी बेटियों को साथ लेकर बाजारों में भी घूमने लगा था। लेकिन ऐसा आखिर कब तक चलता ? एक जगह फँस गया। वह लड़की गर्भवती हो गयी। उसके माता-पिता को पता चला तो तुम्हारे मित्र ने उन्हें पैसा देकर यहाँ से सटक जाने की कोशिश की। मगर इस बार खेल चला नहीं। सुना है, परसों यहाँ की चर्चा में उनका विवाह हुआ। तुम मिलना चाहो तो उनके रहने के स्थान का पता लगाऊँ ! नवदम्पती को उपहार देने के लिए भी कुछ लेते चलिए। सुवण्णा, मैंने जन्नार्दन के बारे में जो कुछ भी बताया उसमें रत्ती भर भी बनाकर नहीं कहा गया है।"

क्या कहता मैं ? मेरे मुँह से तो एक शब्द भी नहीं निकला और न ही फिर मंजुनाथ कुछ कह सका। दोनों ही स्तब्ध ! यहाँ तीन दिन ठहरना सोचा था सो मंजुनाथ के साथ मैसूर घूमता रहा। भीतर-भीतर यह प्रश्न जरूर मुझे परेशान करता रहा कि जन्ना के माता-पिता को जाकर क्या बताऊँगा।

एक दिन जनार्दन के कुछ मित्र, जो अक्सर मंजुनाथ के होटल आया करते थे, वहाँ आ गये। इन लोगों ने जनार्दन के बारे में और भी बहुत-सी बातें सुनायीं। सुनकर मन इतना दुखी हुआ कि फिर अगले सवेरे ही मैसूर से निकल पड़ा और शिवमोग्गा भी न रुककर सीधे गाँव लौट आया।

गाँव पहुँचने पर जनार्दन के बारे में जो कुछ सुना और जाना था वह सब मैंने आजीमाँ को बताया। वह बोली, "मुझे तो जब वह यहाँ आया था तभी ऐसा कुछ लगा था। चलो, जो होना था सो हो गया।"

पन्द्रह

चार दिन तक अपने मित्र के बारे में मेरा मन बहुत व्यथित रहा। जनार्दन के माता-पिता को जो क्लेश पहुँचा था, वह तो मेरी व्यथा से भी कई गुना था। आखिर तो वे उसके माँ-बाप थे। इसके अलावा मन का यह भी एक गुण होता है कि सब कुछ भूल सके। दुख की यादों से जीवन नरक न बन जाये शायद इसीलिए निसर्ग ने भूलने का यह गुण प्रदान किया।

जनार्दन को तो मैं एक तरह से भूल गया लेकिन शोध-खोज का वह भूत मेरे मन पर अब भी सवार था। जब कभी घर के पूरब की ओर जाता तो उसकी याद बरबस आ जाती। इसीलिए फिर एक बार मैं उस शिलाखण्ड तक गया। उसके पास के वन पर भी एक दृष्टि गयी। वहाँ से निकलकर मैं सीधा अपने एक काश्तकार गोविन्द के यहाँ गया। वह मेरे भरोसे का आदमी था। बाहर बुला कर उसे अपना हँसिया ले आने को कहा और फिर उसे वहाँ तक साथ ले गया। वन के पास पहुँचकर मैंने कहा, "देखो गोविन्द, यहाँ पेड़-पौधे बहुत हो गये हैं। इन्हें काटकर इस जगह को साफ़ कर देना है। एक-दो दिन भले ही ज्यादा लग जायें पर सब ठीक हो जाना चाहिए। और हाँ, क्यों, क्या होगा—यह सब मत पूछना और किसी दूसरे को भी न बताना।"

बड़े समझदार आदमी की तरह गोविन्द बोला, "मैं समझ गया मालिक! यहाँ कहीं पानी हो तो उस पार भी तीन एकड़ ज़मीन में सुपारी का बगीचा बन सकता है, यही न? मगर लगता है, यह सरकारी जमीन है। आपने गाँव के पटवारी से बात कर ली है क्या?"

"गोविन्द, तू सचमुच बहुत तेज़ है, दूर तक की सोच जाता है। लेकिन इस गाँव का पटवारी तो बंडसे में रहता है। यहाँ आग भी लगे तो उसे कोई परवाह नहीं। जैसा तू कह रहा है, यहाँ कहीं पानी मिला तो आगे सोचा जायेगा। इसी लिए तो मैंने तुझे बुलाया है। चाहता तो पुट्टा या तिम्मा किसी को भी बुला सकता था। पर उनका मुँह कौन बन्द रखेगा? मेरे सोचने से पहले ही वे तो सारे गाँव में कह बैठेंगे। तेरे ऊपर विश्वास है, इसीलिए तुझे बुलाया है।" मैंने उसे फुसलाया।

फुसलाने पर भगवान् भी मान जाता है फिर गोविन्द तो है ही क्या? बड़े उत्साह से बोला वह, "समझ गया मालिक, अब इस काम को मुझ पर छोड़ दीजिये।"

मैंने कहा, "ठीक, अब तुम जानो और तुम्हारा काम! थोड़ी सफाई होते ही मुझे खबर देना। गार्ड-आर्ड इस ओर आये तो काम बन्द कर देना।"

वह 'हाँ' कहकर हँस पड़ा। मेरे पूछने पर कि इसमें हँसने की क्या बात है,

वह बोला, "दो सुंपियाँ हों तो किसी भी घाड़े के मुंह को आसानी से बन्द किया जा सकता है, मालिक!" मैंने उसको इस बात का उत्तर न दे, 'दो दिन बाद मैं इधर नहीं आऊँगा' कहते हुए चला आया।

मुझे डर था कि यह जगह सरकारी है, फारेस्टवालों की है। कहीं पूछ हो गया तो गड़बड़ में पड़ जाता। इसके अलावा मेरी कोशिश के बारे में गाँववालों को पता चलता तो उन्हें भी वहाँ गुप्तधन होने की आशंका होती। यह भी ठीक नहीं होता। गोविन्द पर छोड़ देना ही ठीक था।

दो दिन बाद मैं वहाँ गया। गोविन्द ने काम समझदारी के साथ किया था। पेड़-पौधे काटकर साफ कर दिये थे। सारी झाड़-झंखाड़ भी आग लगाकर साफ कर दी गयी थी। उसकी यह चतुराई देखकर मुझे खुशी हुई और उसी खुशी में मैं अपने परीक्षण के लिए भी निकल पड़ा।

मेरा अनुमान ठीक ही था। वहाँ पत्थरों से, खोदा हुआ एक कुआँ था। आसपास के पेड़-पौधों की जड़ें उसमें पहुँच रही थीं। इतनी थीं कि अंदर कुएँ में रोशनी तक नहीं पहुँच पाती थी। इसी कारण उसमें पानी है या नहीं यह भी नहीं पता चलता था। मैंने एक बड़ा सा पत्थर उठाकर कुएँ में फेंका तो भीतर कीचड़ की-सी आवाज़ हुई। तब मैं समझा कि गोविन्द ने वहाँ यह सारी अग्नि-पूजा क्यों की थी। केवड़ों और पेड़-पौधों से भरे उस स्थान को साफ करना सहज नहीं था। साँप भी तो रहते थे वहाँ, यह बात तो मैं भूल ही गया था। चलो, ठीक ही हुआ। मुझे उनकी याद रहती और मैं उसे बताता तो शायद गोविन्द यह काम करने के लिए तैयार नहीं होता। जो भी हो, अब तो यह जगह साफ हो ही चुकी थी। किसी ज़माने में पत्थर की उस चरड को शायद यहीं से पानी ले जाकर भरने होंगे। क्या यह कुआँ सिर्फ उसी के लिए खोदा गया? नहीं। किसी समय घर-परिवार रहे होंगे, उन्हीं के लिए यह कुआँ खोदा गया होगा। परोपकार के लिए शायद प्याऊ की व्यवस्था भी यहीं रही होगी। प्रमाण के लिए वह चरड तो है ही। यह विचार मन में आते ही आसपास का अवलोकन करने लगा। थोड़ा आगे बढ़कर देखा कि कुछ मूर्तियों की नींव के पत्थर भी इधर-उधर बिखरे पड़े थे। एक ओर बेढंग पत्थरों से बना एक चबूतरा भी मुझे नज़र आया। इस महान् शोध से खुश होकर मैं गोविन्द को उसके पास ले आया और बताया, "देख रे गोविन्द, यहाँ यह एक कुआँ भी है।'

"हाँ मालिक, मैंने भी उसे देखा है," उसने कहा।

"कितना गहरा होगा?"

"कोई तीन-चार पुरुष।"

"इसे [illegible] की तरह [illegible] सकते हो?"

"इसीलिये के काम के लिए? [illegible]"

दूरी पर जो खड्डा है वहाँ खोदने पर अच्छा पानी मिल जायेगा।"

अपने मन की बात मैं उसे नहीं बताना चाहता था इसलिए मैं उसे नकारात्मक उत्तर न देकर उसी की सलाह के अनुसार उस ओर साथ जाकर इधर-उधर देख आया और फिर 'पता नहीं यह जगह हमें मिलेगी या नहीं। अगर मिल भी गयी तो यह बगीचे के काम की नहीं होगी,' यह कहकर फिर उस कुएँ के पास ही लौट आया।

"पहले तो यह देखो कि इस कुएँ में कितना पानी है। अभी तो कीचड़ भरी हुई है। इसे बाहर निकालने को कितने लोग चाहिये? शायद यह जगह, यह कुआँ भी हमारी ही जमीन का हिस्सा हो। तब तो यहाँ बगीचा के लिए एक छोटा-सा घर भी बना सकते हैं।" मैंने गोविन्द का हौसला बढ़ाया।

दूसरे दिन गोविन्द चार जनों को लेकर उस कुएँ को साफ़ करने में जुट पड़ा। मैं उस दिन सवेरे से शाम तक वहीं रहा आया।

गोविन्द चालाक तो था ही। उसने एक बड़ा-सा पत्थर रस्सी से बाँधकर कुएँ में छोड़ा। मैंने पूछा, "क्या कुएँ में उतरोगे?" वह 'ज़रा ठहरिये' कहकर अपने घर गया और एक मशाल बनाकर ले आया। फिर उसे जलाकर लोहे के एक काँटे से बाँधकर कुएँ में धीरे-धीरे डाला।

मैंने पास जाकर उसमें झाँका। मशाल नीचे तक पहुँच चुकी थी लेकिन वह बुझी नहीं थी। कुएँ का तल देखने के लिए उसकी रोशनी काफ़ी नहीं थी। उसका यह काम मेरी समझ में नहीं आया।

गोविन्द ने मशाल को ऊपर खींच लिया और रस्सी के एक सिरे को पास के पेड़ से बाँधकर और दूसरे को कुएँ में डालकर उसके सहारे कुएँ में उतरा। भीतर जाकर कुएँ की तल और दीवारों को देख-भालकर ऊपर आ गया। तब मुझसे बोला, "बाबूजी, मशाल मैंने कुएँ की गहराई या तल देखने के लिए अन्दर नहीं छोड़ी थी। मैं जानना चाहता था कि मशाल जलेगी या नहीं। अन्दर कहीं 'इस-हवा' तो नहीं? मेरे एक मामाजी बिना सोचे-समझे एक बार एक कुएँ में उतर गये थे तो फिर ऊपर आये ही नहीं। उन्हें निकालने के लिए उनके दोनों बेटे भी कुएँ में उतरे, और वे भी ऊपर नहीं आये। तब पता लगा कि उसमें 'इस-हवा' है।"

मैंने पूछा, "यह 'इस-हवा' क्या है? कोई भूत-पिशाच है क्या? कुओं में यह भूत भी रहता है क्या?"

"इस-हवा कोई भूत-पिशाच नहीं है, नाक में लगने वाली इस-हवा है।"

तब मेरी समझ में आया कि गोविन्द क्या कह रहा था। वह 'विषहवा' कह रहा था। 'विष' चलकर 'इस' बन गया था।

काम शुरू हुआ। गोविन्द कुएँ में उतर गया। उसके घर वाले कुएँ की जगत

पर खड़े हो गये। नीचे से वह टोकरी में मिट्टी भरता जाता और ये लोग उसे ऊपर खींचकर ढेर लगाते जाते। पूरा एक दिन मिट्टी निकालने में लगा। जब नीचे के तल तक पहुँच गया तब गोविन्द की फावड़ी किसी चीज़ को लगी और 'खन्न' की आवाज़ आयी। बस, वह खोदना छोड़कर ऊपर आ गया। तब शाम भी हो चुकी थी। मैंने सबको यह कहते हुए एक-एक रुपया दिया कि मजदूरी का धान कल को मिलेगा, अभी यह ले लो।"

अगले दिन भी काम चालू रहा। अब कीचड़ के बजाय नरम मिट्टी आने लगी। गोविन्द के घर वालों ने जो मिट्टी का ढेर लगाया था, मैं उसी को ताकते बैठा था। मेरा तो चोरों जैसा हाल हो गया था। मैं नहीं चाहता था कि जो मैं कर रहा हूँ उसका लोगों को पता लगे।

उस दिन भी सारे दिन वही काम चला। शाम के समय गोविन्द ने ऊपर आकर बताया, "बाबूजी, नीचे पानी का एक अच्छा-सा सोता निकल आया है। उससे शायद कुएँ में पानी भर जायेगा। लेकिन उसके पास की दीवार कमज़ोर है। निरी मिट्टी जो है। कल आकर देख लीजिए, कल तक उस सोते से कुएँ में घुटने तक पानी अगर न भर जाये तो मेरा नाम गोविन्द नहीं।"

दूसरे ही दिन मैंने गोविन्द को घर बुलाया। सीता तब रसोई में थी। अवसर देख उसे जो मजदूरी देनी थी सो दे दी और फिर कहा, "पहले गाँव के पटवारी को उस ज़मीन का नक्शा दिखाकर वह कुआँ हमारी तरफ है या नहीं इसकी पक्की जानकारी ले लूँगा। यदि वह कुआँ हमारी ज़मीन में नहीं हुआ तो हमारा श्रम बेकार जाएगा। अगर वह हमारी ही ज़मीन में है तो उसे ठीक कराके पत्थर की दीवारें बनवाने के लिए एक बरसात अभी और रुकना पड़ेगा।"

गोविन्द ने मजदूरी में मिली धान को अपनी धोती में बाँधकर कहा, "लेकिन मालिक, मैंने कुएँ में एक विचित्र चीज़ देखी है।"

"क्या?" मैंने पूछा।

"मैंने आपको वहाँ नहीं बताया। वहाँ औरतें थीं इसलिए चुप रह गया। आपने भी शायद नहीं देखा, जब कुआँ खोद रहा था, मेरा फावड़ा लगकर वहाँ पड़ा हुआ एक हाड़-पिंजर चूर-चूर हो गया। कौन जाने किस ज़माने का था? किसी न किसी को मारकर वहाँ डाल दिया होगा, या किसी ने उस कुएँ में गिरकर आत्महत्या की होगी," गोविन्द ने बताया।

"कौन जाने कोई-गाय भैंस ही गिरकर मरी हो?"

"नहीं मालिक, आखिरी की एक टोकरी में मुझे अपने हाथ लगी खोपड़ी को उसमें रखकर ऊपर से मिट्टी भर दी थी। देखकर मैं तो डर गया था कि कहीं उसका प्रेत आकर न पकड़ ले मुझे।"

"तू भी बस पागल है, गोविन्द! चल।" यह कहकर मैंने उसे घर भेज

दिया।

उसके जाने के बाद मैं सोच-विचार में पड़ गया। मन आश्चर्य में डूबा था, लेकिन साथ कौतुक भी जाग उठा था। दोपहर के भोजन के बाद हाथ में एक खुरपा लेकर मैं अपने उस गुप्तधन की खोज में निकल पड़ा। पटसन की एक थैली भी ले ली थी। कुएँ से निकाली हुई मिट्टी अभी गीली थी, दो-एक दिन में सूखने की संभावना भी नहीं थी। वहाँ पहुँचने के बाद, खाली हाथों से ही उस मिट्टी को खुरचने लगा। जब हाथ नहीं चला तो खुरपा से काम लिया। उस ढेर में मुझे टूटे हुए घड़े और मिट्टी की कई वस्तुएँ मिलीं। एक-दो ताँबे के चमचे-जैसे भी थे। मिट्टी और कीचड़ के एक और ढेर को कुरेदा तो गोविन्द ने जिस पंजर के बारे में कहा था उसका ढाँचा मुझे दिखाई दिया। उसमें हाथ-पाँव तथा रीढ़ की हड्डियाँ दबी थीं। उस ढेर को और कुरेदने से मैं घबराने लगा। पर कौतूहल की मात्रा कहीं अधिक थी इसलिए भय कुछ जाता-सा रहा। मैं एक बार फिर अन्वेषण में डूब गया। जल्दी ही मुझे कीचड़ से सनी वह खोपड़ी मिल गयी। उसके ऊपर का जबड़ा तो ठीक था परन्तु नीचे का गायब था। आँखों की जगह सिर्फ़ दो गड्ढे थे। दाँत भी जैसे के तैसे व्यवस्थित थे। मैंने उस खोपड़ी को हाथ में लेकर छुआ और फिर उसे उठाकर अलग रख दिया।

तभी मुझे उन कापालिकों का ध्यान आया जिनका आजीमाँ ने वर्णन किया था। क्या जाने क्यों तब भय से या और किसी कारण से मैं अनमनस्क-सा थोड़ी देर बैठा रहा। बाद में यह सोचकर कि कुछ भी हो आज यह काम पूरा करना ही है, मैं अपने अन्वेषण कार्य में जुट गया। श्रम व्यर्थ नहीं गया। फिलहाल मुझे आर्थिक लाभ तो हो ही गया। उस कीचड़ में मुझे एक हार मिला। उसे पटसन की थैली पर घिसा तो पता चला वह सोने का है। वह कण्ठहार था। शायद जो खोपड़ी मैंने निकालकर रखी थी वह किसी स्त्री की थी। थोड़ी देर और ढूँढ़ने पर चूड़ियाँ, पैजन, कर्णफूल भी मिलेंगे; मन में यह आशा जगी। गुप्तधन तो नहीं मिला, लेकिन एक छोटा-सा उपहार तो हाथ लगा ही। उस कुएँ को साफ़ कराने में जो खर्च हुआ था, कम से कम वह तो वसूल हो गया। उसके बाद में भी दो घंटे के लगभग और मैंने यह शोध-कार्य किया, पर कुछ विशेष लाभ हुआ नहीं।

सोने का हार कीचड़ से लथपथ था। फिर भी मैंने उसे अपने शाल में बाँध लिया। ताँबे के जो टुकड़े मिले थे उन्हें पटसन की थैली में रख लिया। अब प्रश्न उस खोपड़ी का था। घाटी की उस गुफ़ा से लाया गया हड्डी का एक टुकड़ा तो घर में था ही, उसीके साथ यह भी रखी रहेगी, यह सोचकर मैं उसे भी साथ ले जाने को तैयार हुआ। एक हलकी सी आशंका थी मन में कि आजीमाँ इसे देखकर कहीं इस बार बिगड़ न पड़ें, फिर भी अवसर पाकर उन्हें दिखा देना

होगा। फिर जब दिखाना ही है तो क्यों न रीढ़ की हड्डी के ये टुकड़े भी दिखा दूँ—यह सोच मैंने उन्हें भी थैली मे डाल लिया और चोरों की तरह दबे पाँव घर की ओर चल पड़ा।

पहले तो मैं घर के पास वाले बगीचे में गया। फिर वहाँ से पिछले दरवाज़े से बाहर के कमरे मे जाकर थैली को वहाँ छुपा दिया और फिर वहाँ से सीधे कुएँ की ओर चला गया। मेरे नहाने-धोने तक सीता को मेरी उस अवस्था का पता न लग जाये, कीचड़ से लथपथ मेरे इस अवतार को देखकर मेरी आरती न उतारने लग जाये, भगवान् से बस यही प्रार्थना थी। ठीक से नहा-धो लेने पर मेरे चौर्य-चिह्न जब जाते रहे तब कहीं जाकर चैन की साँस ली। बस, अब मैं बड़ी शान से बैठकर ज़ोर-ज़ोर से संध्या-वन्दन करने लगा।

मेरे मन्त्रपाठ को सुनकर सीता बाहर आयी और बोली, "यह संध्या-वन्दन इतनी ऊँची आवाज़ मे क्यों किया जा रहा है? भूतों को सुनाना चाहते हो क्या?" सीता के स्वर ने मेरा कण्ठ-स्वर दबा दिया। बाकी बचे समय मे मैंने बड़ा शान्त भाव प्रदर्शित किया। उस समय मुझे लगा, "काश, सीता ने अब जन्म लेने के बजाय कहीं उस समय लिया होता तो ठीक था जब मनु ने स्मृति लिखी थी। और भी अच्छा होता यदि उन्हीं के कुल-परिवार मे जनमी होती! मुझ जैसे आदमी पर, जो आज के युगों मे भी सन्ध्या-वन्दन कर रहा है, उसे खुश होना चाहिए था, बजाय इसके कि वह टीका-टिप्पणी किये जा रही है। मुझे उस पर हँसी आयी लेकिन मेरी हँसी दो क्षण ही रही। सामने से किट्टू ने आकर पूछा, "पिताजी, मुझे छोड़कर आप कहाँ चले गये थे?" मैंने उससे कहा, "अच्छा बेटा, अब कहीं भी जाऊँगा तो तुझे ज़रूर ले जाऊँगा।" और फिर उसे साथ लेकर घर के बरामदे मे आ बैठा। उस दिन शोध-खोज के रहस्य जानने के लिए उतावला मन भूख खो बैठा था।

रात का भोजन कर चुकने पर मैं साहस बटोरकर आजीमाँ के पास गया और बोला, "आजीमाँ पीपल-चबूतरे पर चलेंगी क्या?" वे तत्काल तैयार हो गयी। मैं भागकर ताँबे के उन दोनों टुकड़ों को ले आया और उनके साथ हो लिया। अष्टमी की चाँदनी मे पीपल के आसपास का परिवेश सुन्दर लग रहा था। उस स्निग्ध और प्रशान्त वातावरण मे जा बैठने के बाद आजीमाँ ने मुझसे पूछा, "दो-तीन दिन से तुम कहीं कुछ खोजने मे लगे रहे हो? क्या मिला है?"

"मैं घर मे नहीं रहा, क्या इसलिए पूछ रही है?"

आजीमाँ बोली, "अरे मैं सब समझती हूँ। खोजखाज कर गठरिया भर लाये हो ताँबा, सोना और मिट्टी-कंकड़। अजीब है तुम्हारी यह धुन!"

मुझे लगा, आजीमाँ आज मुझ पर प्रसन्न नहीं है। मेरी इस करतूत पर शायद नाराज़ है। लेकिन इसी बीच वे स्वयं कह उठी, "लाओ हाथ मे क्या है,

मुझे दिखाओ। कुछ ताँबे का मैला नजर आ रहा है, सोना तो तूने कहीं छिपा रखा है।"

"नहीं अज्जीमाँ, मैं कुछ भी छिपाना नहीं चाहता। आप नाराज न हों तो बताऊँ। वहाँ झाड़ियों में उस शिलाखण्ड के पास पत्थर की एक हौदी-सी है न, जिसके पास उस दिन आप खड़ी भी हुई थीं। वहाँ एक बहुत ही पुराना कुआँ है। मैंने उतराया है। वहीं यह कुछ चीज़ें मिली हैं। सोना भी मिला है, ताँबा भी। साथ में मानव की एक खोपड़ी भी है। उसे भी साथ ले आया हूँ। उसी के कारण आपसे बात करते भी डर रहा था। न जाने किसने क्या किया होगा वहाँ? यह खोपड़ी किसी स्त्री की लगती है। वहाँ जो सोने का हार मिला है वह भी शायद उसी का हो।"

"खोपड़ी है तो क्या हुआ, ले आओ। कल जब हम मरेंगे और हमारी दहन-क्रिया न होगी तो हमारी खोपड़ी भी तो कहीं न कहीं इसी तरह पड़ी रहेगी। न जाने किस-किस के पाँवों तले रौंदे जायेंगे हम। पर क्या हुआ; हम क्या तब 'हम' होंगे? जब तक इस देह में साँस है तब तक यह खोपड़ी हमारी है। साँस निकलने के बाद और साँस आने के पहले तो 'उसी' का स्वत्व है यह जिसने इसे बनाया है।"

उनकी यह बात सुनकर मेरा साहस बढ़ गया और मैं दौड़कर पटसन की उस थैली को ले आया। अज्जीमाँ ने उसमें हाथ डालकर हर चीज को छू-छूकर देखा। और फिर ताँबे के उन टुकड़ों को थैले के ऊपर रखकर उन्होंने उसे अपने पैरों के पास को सरका लिया। फिर कुछ क्षण वे मौन रहीं आयीं। मैं भी उनकी ओर कुतूहल भरी आँखों से देखता बैठा रहा।

एकाएक वह बोलीं, "यह तो एक विचित्र घटना लगती है—कोई हजार बरस पुरानी। ठीक से अनुमान नहीं लगा पा रही हूँ। उस दिन हिड्डुगाल से लौटते हुए वह स्थान दिखाया था न, वहीं कहीं मन्त्रघोष हो रहा था। याद है? वे ही मन्त्र अब भी सुनाई दे रहे हैं। यह सब वही लोग हैं जिन्होंने इन्द्र, वरुण और मित्र की कल्पना की थी। ये लोग आज के ब्राह्मणों से बहुत भिन्न लगते हैं। ये प्रतिदिन अग्निहोत्र करते हैं। कभी-कभी यज्ञ-याग भी करते हैं। ऐसे ऋत्विगण किसी समय हमारे गाँव में भी थे। वे लोग गाय-भैंसें पालते, खेतीबारी करते और नगरों के व्यामोह से दूर रहते थे। इह को भी चाहते थे और पर को भी। उनकी धारणा में इह है तो पर है। इह नहीं रहा तो पर कहाँ? पर लगता है, वे लोग बहुत दिनों तक नहीं रहे आये। शायद आसपास के जन-जीवन ने उनकी मान्यताओं को स्वीकार नहीं किया होगा। उनके मन्त्रों में, उनकी बातों में राम कृष्ण आदि कोई नहीं थे। उनके इन्द्र, मरुत और वरुण का तो मुझे कुछ-कुछ पता है, पर यह मित्र कौन है, इसका मुझे भान नहीं हो पा रहा।

"अब देखो, इन लोगों के स्थान पर एक दूसरे ही कुल के लोग आ गये। इन्हें यज्ञ-यागादि में विश्वास नहीं, इसलिए उनके पूजापाठ को ये भंग करने लगे। हवन-पात्रों को उठा-उठा कर कुओं में डालने लगे। कालगति बदलने लगी। इन्हें इन्द्र वरुण नहीं चाहिये। ये लोग सारे इलाके में सिर मुड़ाये केसरी परिधान में तथा हाथ में भिक्षापात्र लिये घूमने लगे। मुझे तो इनके कपड़ों का रंग ठीक-ठीक केसरी नहीं, थोड़ा हलदिया-सा दिख रहा है। ये भी कुछ मन्त्र-सा बोल रहे हैं, पर इनकी भाषा मेरी समझ में नहीं आ रही है। न जाने ये लोग कहाँ से आये! लेकिन बहुत दिनों तक यहीं रहे हैं। सारा का सारा इलाका इन्द्र और वरुण को छोड़ इनके आराध्य देव को मानने लगा है। कुछ-कुछ कर्म की बात भी ये लोग करते हैं और किसी धर्मचक्र की चर्चा भी इनमें चलती है। इनका कोई भगवान् था या नहीं, था तो कौन सा था—मुझे पता नहीं लग रहा है। फिर भी ये सब ध्यानमुद्रा में अवस्थित किसी प्रतिमा को आगे रखे हुए उसकी पूजा करते नजर आ रहे हैं। वह प्रतिमा मेरे पहचानने में नहीं आ रही है।"

"भगवान् बुद्ध होंगे?"

"तुम कैसे जानते हो?"

"किसी समय बुद्ध नाम के एक महापुरुष हुए थे। उन्होंने अपने ही एक विशेष मत का प्रचार किया था। उस मत के अनुयायियों में और ब्राह्मणों में कोई मेल-भाव नहीं था।"

"हाँ, तो फिर वही होंगे। बुद्ध सरणं गच्छामि, सघं सरणं गच्छामि—ऐसा कुछ सुनाई भी आ रहा है। इस सबका क्या अर्थ है, बेटा?"

"उनके कहने का तात्पर्य है, 'मैं बुद्ध की शरण में जाता हूँ। सघ की शरण में जाता हूँ!' यही तो, आजीमाँ।"

"अच्छा तो बुद्धावतार यही है। पर यह नग्न देवता नहीं है। ध्यान-मुद्रा में बैठे हैं और शरीर पर वस्त्र हैं। ठीक है। बाद की कहानी, वही पत्थर के मण्डप की कहानी जैसी है। यह ससार ही एक मेला है। मेले में आये लोगों की तरह हम भी भ्रमित हो गये हैं। इस गाँव का राजा अपनी पुरानी वेश-भूषाओं से शायद तंग आ गया होगा। उसने अब नये ढंग के आभूषण पहन रखे हैं। एकाएक यज्ञ-याग सब कुछ छोड़कर गाँव के ब्राह्मणों की निन्दा करना शुरू कर दिया। ब्राह्मणों के स्थान पर नये संन्यासियों को बिठाया, उनका पालन-पोषण भी किया। गाँव के लोग भी राजा का अनुकरण करने लग गये। ठीक है, इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं। भगवान् कैसा है, कौन जानता है! लोगों ने एक भगवान् को छोड़कर दूसरा अपना लिया। भगवान् को उन्होंने छोड़ा भी और नहीं भी। एक-न-एक रूप में उसे मानते ही रहे।

"परन्तु बेटा, इसमें एक बड़ा झमेला हो गया। उसका ध्यान आते ही मेरा

मन कुछ व्याकुल-सा हो गया है। सुनो, तुम जो खोपड़ी ले आये हो वह एक कुलीन अग्निहोत्री की बेटी की है। बहुत ही सुलक्षणा थी वह। उम्र कोई बीस-बाईस की। उसका एक कुलीन वर के साथ विवाह कर दिया गया। परन्तु वे महोदय अपनी पत्नी को छोड़ उन संन्यासियों के पीछे घूमने लगे। अपने ससुर को बुरा-भला कहने लगे। अन्त में एक दिन सिर मुड़ाकर वह संन्यासी ही बन गया। वह बेचारी कन्या यह सब न सह सकी और उस कुएँ में कूदकर उसने आत्महत्या कर ली। उसके पति ने चाहा था कि वह भी सिर मुड़ाकर संन्यासिनी बन जाये। किन्तु जन्म से मिले विश्वासों को वह अपने से पृथक् नहीं कर सकी।

कुछ भी कहो बेटे, मुझे तो यह सब बिलकुल अच्छा नहीं लगता। स्त्री संन्यास की दीक्षा न ले, ऐसा मैं नहीं कहती। वैराग्य तो मन में अपने आप हो आता है। मैंने कब वैराग्य चाहा था, फिर भी वही पल्ले पड़ा। वैराग्य आना ही नहीं चाहिये, ऐसा भी मैं नहीं कहती। लेकिन जानते हो इन लोगों की दृष्टि में संन्यास का क्या अर्थ है? स्त्री से दूर रहना ही संन्यास है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि स्त्री एक बन्धन है। तो फिर स्त्री-पुरुष दोनों संन्यासी बन साथ-साथ जब एक ही स्थान पर रहे आये, तो इसका परिणाम क्या कुछ नहीं हुआ होगा, तुम ही सोचो। वह युवती कुएँ में गिरकर प्राण देने के बजाय, केसरी साड़ी पहनकर संन्यास को स्वीकार भी करती तो वह ठग संन्यासिनी ही बनती। फिर उपदेश कुछ और आचरण कुछ—यही सब होता। ठग संन्यासिनी होने से तो मरना ही अच्छा था। है न?"

आजीमाँ आगे बोलीं, "मरने के बाद तो फिर कहाँ का पाप और कहाँ का पुण्य! बस, समाप्त हो गयी एक जीव-गाथा!"

"बस, इतना ही?"

"हाँ, मुझे तो इतना ही लगता है। मैं तो इतना ही मानती हूँ।"

"आगे और क्या हुआ आजीमाँ, वह भी तो बताइये।"

"आगे और एक वेष आया तो पहले मत के लोगों में से एक भी इस गाँव में नहीं रहा। सब चले गये। उसके बाद गाँव के लोगों ने भी अपना रंग बदला, वेष बदला। फिर तो शुरू हो गया देवी-देवताओं का सिलसिला। चार चार आराध्य हुए—दुर्गा, शिव, विष्णु, नारायण, जनार्दन आदि। चार ही नहीं दस, और दस भी नहीं, सैकड़ों देवी-देवता आये।

"लेकिन आजीमाँ, दुर्गा तो पुरानी आराध्य देवी है न?"

"हाँ दुर्गा सबसे पुरानी है। वही तो सबसे पहले आयी थी। माँ, लिंग—यह सब तो पहले ही उद्भूत हुए थे। इन्हीं पुराने आराध्य देवों के नये-नये पुराण लिखे गये। इन्हीं देवी-देवताओं के नये-नये अवतार कराये। जिसने जैसा चाहा आराध्य उसी रूप में प्रकट हो गया। लोगों ने उन्हें मन्दिर बनवाये। यही नहीं, एक ने

बनवाया तो दूसरे ने उसे उजाड भी दिया। बेटे, परमात्मा तो है, लेकिन उस परमात्मा को लक्ष्य कर ही, उसे खण्ड-खण्ड कर दिया। 'हम एक ही परमात्मा के बच्चे है' यह कहने की बजाय हमने परमात्मा को ही अपने में बाँट लिया। अपने-अपने हिसाब से बाँट लिया। एक होने की सोचना छोड़कर, सौ होकर पाँच सौ पुराण लिखे और उन पर खूब वाद-विवाद किया। परस्पर सहयोगी बनकर ही जीवन-यापन से सुख मिलता—यह भूलकर 'जो मैं कहता हूँ वह ठीक है, भगवान् मेरे ही पक्ष मे है' कह-कहकर लोग आपस में ही लडने लगे। मूरख जो ठहरे।" वे फिर कुछ क्षण बाद बोली, "मैं जानती हूँ, तुम यह सब सीता को सुनाओगे। वह कहेगी, आजीमाँ का दिमाग ठीक नही है। कहने दो, बेटा। उसे कुछ और दीखना है, मुझे कुछ और। मैं क्या करूँ!" कहकर आजीमाँ चुप हो गयी।

फिर तीन-चार दिन तक मैं उस कुएँ की तरफ जाता रहा और मिट्टी के ढेर को कुरेदता-देखता रहा। कभी-कभी कोई हड्डी का टुकडा दिख जाता तो मुझे उस अभागिन की याद आ जाती और मैं खिन्न हो जाता। बेचारी मानसिक द्वन्द्व मे फँसकर जान गँवा बैठी। पर हमारे इस गाँव मे तो कई-कई मन्दिर बने, बसदियाँ, गुफाएँ और मण्डप—क्या-क्या अस्तित्व मे नही आये और फिर धूल में भी मिल गये! इस समूचे परिवर्तन काल मे कितने ही कुटुम्बो मे मानसिक तनाव भड़के होगे; और क्या जाने क्या परिणाम हुए होगे, आज कोई जानता तक नही। हमें अपनी ही बीती बातें याद नही रहती। याद रहने लगे सब तो जीवन दुर्वह हो जाये। सच तो, व्यक्तिगत भूल-चूक की तरह चारित्रिक भूल-चूक भी हमारे लिए एक देन है। इसी के कारण प्राय: जीवन मे कई असगत और परस्पर विरुद्ध कल्पनाएँ तक आ समाती है और हमे उनका पता नही होता।

उस कुएँ से मुझे जो सोने का हार मिला था उसे मैंने अभी तक साफ करके ठीक से नही देखा था। सोने का है यह उसके रग से स्पष्ट था, लेकिन उसकी बनावट कैसी है यह नही देख सकता था। कोई और सन्दर्भ होता तो उस हार को मैं खुशी से अपनी सीता को दिखाता और फिर उसे सुनार के पास ले जाकर उसका कोई नया ही जेवर बनवा देता। लेकिन अजीमाँ से उस खोपडी की कहानी सुन लेने के बाद उसे छूते भी मन काँप जाता। सुनार उसे कोई और रूप जरूर दे देता, मगर यह भी क्या उसी जैसी बात न होती कि लिंग से शिव बने, शिव से कपाली, भैरव और फिर कुछ और! मेरी पत्नी के गले मे उस दुखियारी का गहना पडे, यह मुझे असहनीय लगा।

आजीमाँ कहती हैं कि जब कभी वह किसी मन्दिर में जाती है तो वहाँ उन्हे न जाने क्या-क्या नजर आने लगता। उनकी इस बात को अब मैं समझने लगा हूँ। अब तो मुझे भी कुछ-कुछ वैसा ही महसूस हुआ करता है। मैं जब भी अपने देवी-देवताओ के तरह-तरह के विग्रह और आकार-प्रकार देखता हूँ, या उनके विषय

मन कुछ व्याकुल-सा हो गया है। सुनो, तुम जो खोपड़ी ले आये हो वह एक कुलीन अग्निहोत्री की बेटी की है। बहुत ही सुलक्षणा थी वह। उम्र कोई बीस-बाईस की। उसका एक कुलीन वर के साथ विवाह कर दिया गया। परन्तु वे महोदय अपनी पत्नी को छोड़ उन संन्यासियों के पीछे घूमने लगे। अपने ससुर को बुरा-भला कहने लगे। अन्त में एक दिन सिर मुड़ाकर वह संन्यासी ही बन गया। वह बेचारी कन्या यह सब न सह सकी और उस कुएँ में कूदकर उसने आत्महत्या कर ली। उसके पति ने चाहा था कि वह भी सिर मुड़ाकर संन्यासिनी बन जाये। किन्तु जन्म से मिले विश्वासों को वह अपने से पृथक् नहीं कर सकी।

कुछ भी कहो बेटे, मुझे तो यह सब बिलकुल अच्छा नहीं लगता। स्त्री संन्यास की दीक्षा न ले, ऐसा मैं नहीं कहती। वैराग्य तो मन में अपने आप हो आता है। मैंने कब वैराग्य चाहा था, फिर भी वही पल्ले पड़ा। वैराग्य आना ही नहीं चाहिये, ऐसा भी मैं नहीं कहती। लेकिन जानते हो इन लोगों की दृष्टि में संन्यास का क्या अर्थ है? स्त्री से दूर रहना ही संन्यास है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि स्त्री एक बन्धन है। तो फिर स्त्री-पुरुष दोनों संन्यासी बन साथ-साथ जब एक ही स्थान पर रहे आये, तो इसका परिणाम क्या कुछ नहीं हुआ होगा, तुम ही सोचो। वह युवती कुएँ में गिरकर प्राण देने के बजाय, केसरी साड़ी पहनकर संन्यास को स्वीकार भी करती तो वह ठग संन्यासिनी ही बनती। फिर उपदेश कुछ और आचरण कुछ—यही सब होता। ठग संन्यासिनी होने से तो मरना ही अच्छा था। है न?"

आजीमाँ आगे बोलीं, "मरने के बाद तो फिर कहाँ का पाप और कहाँ का पुण्य! बस, समाप्त हो गयी एक जीव-गाथा!"

"बस, इतना ही?"

"हाँ, मुझे तो इतना ही लगता है। मैं तो इतना ही मानती हूँ।"

"आगे और क्या हुआ आजीमाँ, वह भी तो बताइये।"

"आगे और एक वेष आया तो पहले मत के लोगों में से एक भी इस गाँव में नहीं रहा। सब चले गये। उसके बाद गाँव के लोगों ने भी अपना रंग बदला, वेष बदला। फिर तो शुरू हो गया देवी-देवताओं का सिलसिला। चार चार आराध्य हुए—दुर्गा, शिव, विष्णु, नारायण, जनार्दन आदि। चार ही नहीं दस, और दस भी नहीं, सैंकड़ों देवी-देवता आये।

"लेकिन आजीमाँ, दुर्गा तो पुरानी आराध्य देवी है न?"

"हाँ दुर्गा सबसे पुरानी है। वही तो सबसे पहले आर्या थी। माँ, लिंग—यह सब तो पहले ही उद्‌भूत हुए थे। इन्हीं पुराने आराध्य देवों के नये-नये पुराण लिखे गये। इन्हीं देवी-देवताओं के नये-नये अवतार कराये। जिसने जैसा चाहा आराध्य उसी रूप में प्रकट हो गया। लोगों ने उन्हें मन्दिर बनवाये। यहीं नहीं, एक ने

बनवाया तो दूसरे ने उसे उजाड़ भी दिया। बेटे, परमात्मा तो है, लेकिन उस परमात्मा को लक्ष्य कर ही, उसे खण्ड-खण्ड कर दिया। 'हम एक ही परमात्मा के बच्चे हैं' यह कहने की बजाय हमने परमात्मा को ही अपने में बाँट लिया। अपने-अपने हिसाब से बाँट लिया। एक होने की सोचना छोड़कर, सौ होकर पाँव भी पुराण लिखे और उन पर खूब वाद-विवाद किया। परस्पर सहयोगी बनकर ही जीवन-यापन में सुख मिलता—यह भूलकर 'जो मैं कहता हूँ वह ठीक है, भगवान् मेरे ही पक्ष में हैं' कह-कहकर लोग आपस में ही लड़ने लगे। मूरख जो ठहरे।" वे फिर कुछ क्षण बाद बोलीं, "मैं जानती हूँ, तुम यह सब सीता को सुनाओगे। वह कहेगी, आजीमाँ का दिमाग ठीक नहीं है। कहने दो, बेटा। उसे कुछ और दीखता है, मुझे कुछ और। मैं क्या करूँ!" कहकर आजीमाँ चुप हो गयी।

फिर तीन-चार दिन तक मैं उस कुएँ की तरफ जाता रहा और मिट्टी के ढेर को कुरेदता-देखता रहा। कभी-कभी कोई हड्डी का टुकड़ा दिख जाता तो मुझे उस *अभागिन की याद आ जाती और मैं खिन्न हो जाता।* बेचारी मानसिक द्वन्द्व में फँसकर जान गँवा बैठी। पर हमारे इस गाँव में तो कई-कई मन्दिर बने, बसदियाँ, गुफाएँ और मण्डप—क्या-क्या अस्तित्व में नहीं आये और फिर धूल में भी मिल गये! इस समूचे परिवर्तन काल में कितने ही कुटुम्बों में मानसिक तनाव भड़के होंगे; और क्या जाने क्या परिणाम हुए होंगे, आज कोई जानता तक नहीं। हमें अपनी ही बीती बातें याद नहीं रहतीं। याद रहने लगे सब तो जीवन दुर्वह हो जाये। सच तो, व्यक्तिगत भूल-चूक की तरह चारित्रिक भूल-चूक भी हमारे लिए एक देन है। इसी के कारण प्रायः जीवन में कई असगत और परस्पर विरुद्ध कल्पनाएँ तक आ समाती हैं और हमें उनका पता नहीं होता।

उस कुएँ से मुझे जो सोने का हार मिला था उसे मैंने अभी तक साफ करके ठीक से नहीं देखा था। सोने का है यह उसके रंग से स्पष्ट था, लेकिन उसकी बनावट कैसी है यह नहीं देख सकता था। कोई और सन्दर्भ होता तो उस हार को मैं खुशी से अपनी सीता को दिखाता और फिर उसे सुनार के पास ले जाकर उसका कोई नया ही जेवर बनवा देता। लेकिन *अजीमाँ से उस खोपड़ी की कहानी* सुन लेने के बाद उसे छूते भी मन काँप जाता। सुनार उसे कोई और रूप जरूर दे देता, मगर यह भी क्या उसी जैसी बात न होती कि लिंग से शिव बने, शिव से कपाली, भैरव और फिर कुछ और! मेरी पत्नी के गले में उस दुखियारी का गहना पड़े, यह मुझे असहनीय लगा।

आजीमाँ कहती हैं कि जब कभी वह किसी मन्दिर में जाती हैं तो वहाँ उन्हें न जाने क्या-क्या नजर आने लगता। उनकी इस बात को अब मैं समझने लगा हूँ। अब तो मुझे भी कुछ-कुछ वैसा ही महसूस हुआ करता है। मैं अब भी अपने देवी-देवताओं के तरह-तरह के विग्रह और आकार-प्रकार देखता हूँ, या उनके विषय

में सोचने लगता हूँ तो मन में यही गूँजता है कि 'माँ' कहकर पुकारने योग्य बस एक ही देवता हो तो ठीक होगा।

इसी चिन्तन में और घर के कामकाज में चार दिन गुजर गये। एक दिन विना कोई पूर्व सूचना दिये मेरा भाई सपरिवार आ गया। वह, उसकी गर्भवती पत्नी, अनन्तराव और अनन्तराव का एक शिष्य रामदास—ये सब थे उसके साथ में। मेहमानों को देख सीता को वेहद खुशी हुई।

उन्हीं दिनों मौक़ा पाकर मैं अण्णुनायक और नवागत तीनों महाशयों को साथ ले घाटी वाली उस गुफा की ओर चल पड़ा। बहुत उत्साह से सबसे पहले उन्हें वही गुफा दिखायी। मेरे भाई ने देखकर कहा, "इसमें ऐसी कौन सी विशेषता है?" अनन्तराव के मुँह से निकला, "किसी पुराने जमाने की लगती है। उस काल की किसी आदिम जाति के लोग यहाँ रहे होंगे।" ये दोनों तो वहाँ बैठ गये। इनके लिए इतना देखना ही काफ़ी था। लेकिन रामदास ने उन गुफाओं को देखने की उत्सुकता प्रकट की। वह अभी छोटा था और पहली बार ही ऐसा जंगल देख रहा था। उसके अनुरोध करने पर मैं उसे साथ लेकर आधा मील दूर उस दूसरी गुफा तक ले गया। उस गुफा को, उसके अन्दर के छोटे-से कमरे को और वहाँ पड़े राख के ढेर को देखकर रामदास तो आश्चर्य-चकित हो गया।

मैंने कहा, "मुझे लगता है, हज़ारों साल पहले पत्थर को काट-काटकर यह गुफा बनायी गयी होगी। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं?"

"किस ज़माने की होगी यह?" उसने पूछा।

"यह जानने के लिए कोई चिह्न अभी यहाँ नहीं मिला।"

हम उस गुफा में इधर-उधर देखते घूम रहे थे तो अचानक एक पेड़ की आड़ में नरम पत्थर से निर्मित एक मूर्ति दिखाई दी। दो फुट की उस मूर्ति का शिरोभाग नहीं था। देखने से वह ध्यानमग्न बुद्ध-मूर्ति लगती थी।

रामदास ने उसे देखते ही कहा, "यह तो भगवान् बुद्ध की ही मूर्ति है। यदि शिरोभाग भी रहता, तो कितना अच्छा होता! इसका मतलब तो यह हुआ कि बौद्ध भिक्षु यहाँ तक भी आये थे।"

"आये ही होंगे, इस गुफा में रहे भी होंगे। कहते हैं, किसी समय यहाँ से लेकर हमारे मूडूरु तक जगह-जगह पर आबादी थी। अब समूचा ही इलाक़ा जंगल बन गया है।" मैंने रामदास की बात की पुष्टि की।

अण्णुनायक ने जब समय की ओर हमारा ध्यान दिलाया तो हम वहाँ से निकलकर अनन्तराव और नारायण को साथ लेते हुए घर की ओर चल दिये। घर पहुँचने तक मेरे कानों में एक वाणी गूँजती रही, अनन्तराव की वाणी! लौटते समय मार्ग में वे भगवद्गीता का उल्लेख करते हुए परमार्थ तत्व का विवेचन किये आ रहे थे। मुझे लगा कि एक वर्ष पहले यह मेरे भाई को उपदेश मिला

होता तो शायद एक विवाह का खर्च बच जाता। और कहीं अब हाँ इससे प्रभावित होकर नारायण ने वैराग्य धारण कर लिया तो फिर न जाने क्या होगा ? उसकी पत्नी के तो अब पाँव भी भारी हैं।

किन्तु लोगों के एक सहज स्वभाव से मैं खूब परिचित हूँ। उपनिषद् हो चाहे भगवद्गीता, रामायण हो या भागवत—ये सब दूसरों के सामने पढ़ने सुनाने के ही लिए होती हैं। हमें इस संसार में आकर क्या करना चाहिए, कैसे रहना चाहिए, आदि सभी कुछ इनके प्रवचनों में होता है; लेकिन जब उन तत्वों पर आचरण करने की बात आती है, तो ये ही उपदेशक कोसों दूर रह जाते हैं। अनन्तराव में तो मुझे खाने-पीने तक के विषय में भी कोई विरक्ति नहीं दिखाई पड़ी। उसी से मुझे लगा कि ये महानुभाव भी इसके अपवाद नहीं हैं।

अतिथि-सत्कार दस-पन्द्रह दिन तक चलता रहा। तब तक हमारा घर एक मठ बना रहा। उसमें अनन्तराव को आचार्य-पद प्राप्त हुआ था। अब तक मैं जिसे बुद्धू समझता रहा वही सीता फुरसत मिलने पर अनन्तराव के उपदेश सुनने बैठ जाती थी। नारायण भी विरागी-सा बन अनेक-अनेक जिज्ञासाएँ करता रहता। रामदास रोज-रोज वह सुन-सुनकर ऊब चुका था। वह सबकी नजर बचाकर या तो इधर-उधर घूम आता या फिर मेरे पास बैठकर गपशप करता।

मैं तो आजीमाँ का शिष्य बन चुका था। अब अनन्तराव का शिष्य बनने में मुझे कोई रुचि नहीं थी। मेरे लिए उनके कण्ठपाठ 'यदा यदा हि धर्मस्य···' अथवा 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि···' में मेरे लिए कोई नयी बात नहीं थी। इन सभी विषयों को लेकर मैं अपनी आजीमाँ से बहुत तर्क कर चुका था।

हमारे घर के नित के जीवन में ज़ोर-शोर की बातों, बहस और कोलाहल के लिए अवकाश ही नहीं। हमारे घर आने-जाने वाले भी कम हैं। कोई आये भी तो अपना सुख-दुख सुनाकर चला जाता है। हम उसे अपना सुख-दुख सुना देते, बस। चर्चा होती तो हम दोनों पति-पत्नी के बीच ही होती। यहाँ भी अनुभव से मैंने एक सबक सीख लिया था। जब कभी सीता की आवाज़ ऊँची होने लगती तो मैं अपनी आवाज़ नीची कर लेता, और कभी मेरी ही आवाज़ उठती तो उस समय वह चुप हो जाती। पर हाँ, मौका मिलने पर बातों के बाण वह अवश्य छोड़ती। अब की बात कुछ और ही थी। नारायण और अनन्तराव जो आये थे सो जैसे पूरे गाँव से आये थे। नारायण के लिए तो अनन्तराव जो कुछ भी कहते हैं वह वेद वाक्य हो जाता। पहली बार जब अनन्तराव हमारे यहाँ आये थे तो बहुत ही सकोची थे। परन्तु अब तो उसकी बहन भी साथ आयी थी और फिर हमारे भी संबंधी बन चुके थे। शायद इसीलिए उनकी बातों में बहुत ज़ोर रहता और विषय-

तार तो बहुत ही बढ़ गया था। हाँ, लेकिन विषय एक ही था तत्वज्ञान। मदे में बैठकर भगवद्गीता के उपदेश बाँटने की कोई कमी ही नहीं थी। मा की दृष्टि में तो अनन्तराव मानो सायण या शंकर ही बन गये थे। वह तो के उपदेश सुनने के लिए उनकी सभा में हरदम उपस्थित रहती। इतना ही में वहाँ जो भी सुनकर आती, उसे मुझे सुनाकर पूछती, "इन विषयों के बारे आपकी आजीमाँ क्या कहती हैं?"

मैं कभी-कभी उत्तर में कह देता, "अनन्तराव में इतना ही पाण्डित्य है तो न्हें खुद जाकर आजीमाँ से पूछने दो। आजीमाँ उन्हें खुद ही बता देंगी।" फिर ी उनकी विचार-सरणि के बारे में मैं भी सोचा करता था। कभी-कभी अनन्त राव के उपदेशों के दो-चार अंश मेरे कानों में पड़ जाते तो मैं उन्हें लेकर पीपल-चबूतरे पर बैठी आजीमाँ की अदालत में हाज़िर हो जाता और फिर आजीमाँ की समझ में जो आता वे उसका उत्तर दे देतीं। उनके उत्तर सुनकर मुझे सदा यही लगा कि आजीमाँ जैसी दिखती हैं उससे कहीं अधिक वे ज्ञानवती हैं। एक दिन तो वह आप ही कह उठी थीं, 'तुम्हारे अनन्तराव और नारायण जो भगवद्-गीता और पुराणों के बारे में बातें करते हैं मेरे लिए वे कोई नयी बात नहीं। तुम्हारे पिताजी तो इन विषयों से दूर ही रहे, लेकिन तुम्हारे दादाजी यानी मेरे बड़े भाई संस्कृत के बहुत बड़े पण्डित थे। मुझे जब वैधव्य प्राप्त हुआ तो मेरे चित्त की शान्ति के लिए उन्होंने यह सब सुना-सुनाकर मुझे सैकड़ों विषयों के बारे में बताया था। उनसे मैंने बहुत ज्ञान प्राप्त किया है। कभी किसी बात में जब तालमेल न दिखता था तब उनसे बार-बार पूछा करती थी, "यह ऐसे कैसे हो सकता है? तुम्हारे कृष्ण भगवान् ने अमुक प्रसंग में तो ऐसा कहा और अब ऐसा कह रहे हैं? आदि-आदि।' यही जो देखो, बेटा; भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को इतने विस्तार से गीता का उपदेश कहाँ दिया? कुरुक्षेत्र में। वह भी कब? तब जबकि दोनों पक्ष युद्ध का शंखनाद कर चुके थे और युद्ध आरम्भ होने में कुछ ही क्षण रह गये थे। उस समय और उस सन्दर्भ में यदि कृष्ण को तीन दिन गीतो-पदेश करते लगे तो दूसरे लोग क्या करते रहे? शस्त्र-कवच उतारकर वहीं सो गये या अपने-अपने घर जाकर तीन दिन बाद फिर युद्ध करने आये? यही नहीं, कृष्ण ने कहा, 'आत्मा अनश्वर है, शरीर ही नाशवान् है; तुम न तो हर्ता हो और न ही कर्ता हो; तुम अपना कर्म करो पर उसके फल की अपेक्षा मत करो।' मगर फिर यह भी तो कहा कृष्ण ने, 'युद्ध में शत्रु को मारकर मरोगे तो तुम्हें स्वर्ग मिलेगा।' आगे यह भी कह दिया कि 'स्वर्ग की अपेक्षा मत करो।' 'काम-क्रोध बुरे हैं' इस कथन के साथ ही साथ यह भी उपदेश दिया कि 'क्रुद्ध होकर शत्रुओं पर तीर छोड़ो।' एक बार कहा कि 'आत्मा को कोई कलंक नहीं लग सकता' और फिर यह भी कह दिया 'युद्ध से विमुख होगे तो तुम्हारे कुल को अपकीर्ति

मिलेगी।' कृष्ण की ऐसी विरोधी बातों को एक साथ ग्रहण कर पाना सचमुच ही बहुत कठिन है। ये सब चमत्कारपूर्ण बातें हैं जिन पर विश्वास करना असंभव है।"

"कुछ भी हो आजीमां, यह सब तो कृष्ण भगवान् की ही वाणी थी न!"

"तुम जो चाहो, कहो। मैं यही कहूंगी कि कृष्ण और राम तो कल्पनाओं के बच्चे हैं। इनमें से किसी ने 'यह मेरा विचार है' या 'मुझे ऐसा लगता है' कभी नहीं कहा। जो कुछ वे समझ पाते या देख पाते उसे भगवान् के मुंह से कहलवा-कर प्रचारित किया। कापालिकों ने तो ऐसा बहुत कुछ किया। मेरे नाना ने एक बार इन लोगों के बारे में पढ़कर सुनाया भी था। कुछ भी हो, मुझे तो इन अवतारों में विश्वास ही नहीं है। देखा जाये तो क्या हम अवतार नहीं हैं? मैं अवतार नहीं या तुम नहीं? हम भी तो उसी मां के बच्चे हैं, उसी के अंश हैं। नर, नारायण ही नहीं तमाम कीड़े-मकोड़े तक सब उसी की सृष्टि हैं। धरती पर कुछ नहीं है जिसमें उसका अंश न हो।"

"मैं तुम्हें एक उदाहरण देती हूं। मैं स्त्री हूं इसलिए मुझे यह विचार उठा करता है। गीता में एक बात आती है। किसी का कहना है कि यदि स्त्रियां दूषित हो जाती हैं तो वर्णसंकर हो जाता है। भगवान्, जो स्त्री-पुरुष दोनों का स्रष्टा है, को यह भी पता नहीं है कि वर्णसंकर केवल स्त्री के बिगड़ने से नहीं होता है, पुरुष का भी इसमें उतना ही दोष है? कृष्ण के मुंह से यह बात कहलवाने वाले उस बुद्धिमान् आचार्य की दृष्टि में पुरुष निर्दोष रहा होगा। मेरी धारणा है कि एक नहीं, दसों पण्डितों ने समय-समय पर अपने-अपने विचारों को कृष्ण के मुख में ठूंसा है और भगवान् की इस वाणी के विरुद्ध अब हम हैं कि कुछ भी नहीं कह सकते!"

आजीमां थोड़ी देर एक विचित्र-से भाव से खोयी बैठी रहीं। उसके बाद मैंने धीरे से पूछा, "आजीमां, आप बात-बात में 'मां' की रट लगाती हैं। कम-से-कम वह तो सच है?"

"हां, बेटा, वह तो जैसे मैं हूं, जैसे तुम हो उसी तरह सच है। जहां तक हमारा सम्बन्ध है, जब तक हम जियेंगे तब तक तो यह सच्चाई रहेगी ही। हम सभी से बढ़कर कोई तो एक शक्ति होगी। वह कितनी बड़ी है, कैसी है—क्या उसे हम यों सहज ही समझ सकते हैं? फिर भी इस सृष्टि को देखकर यह भावना मन में जरूर आती है कि इस सबके पीछे कोई शक्ति है जरूर। इसी शक्ति को ही हमारे पूर्वजों ने 'मां' का नाम दिया। बच्चों के लिए मां ही सब कुछ है। वही सबसे बड़ी होती है। उसी से हमारा जन्म हुआ। मां-स्वरूप वह तत्व क्या है, यह न जानते हुए भी, 'वह है' इतना ही समझकर उसकी ओर देखते हैं, 'मां' कहकर

विस्तार तो बहुत ही बढ़ गया था। हाँ, लेकिन विषय एक ही था तत्वज्ञान। बरामदे में बैठकर भगवद्गीता के उपदेश बाँटने की कोई कमी ही नहीं थी। सीता की दृष्टि में तो अनन्तराव मानो सायण या शंकर ही बन गये थे। वह तो उनके उपदेश सुनने के लिए उनकी सभा में हरदम उपस्थित रहती। इतना ही नहीं वहाँ जो भी सुनकर आती, उसे मुझे सुनाकर पूछती, "इन विषयों के बारे में आपकी आजीमाँ क्या कहती हैं ?"

मैं कभी-कभी उत्तर में कह देता, "अनन्तराव में इतना ही पाण्डित्य है तो उन्हें खुद जाकर आजीमाँ से पूछने दो। आजीमाँ उन्हें खुद ही बता देंगी।" फिर भी उनकी विचार-सरणि के बारे में मैं भी सोचा करता था। कभी-कभी अनन्तराव के उपदेशों के दो-चार अंश मेरे कानों में पड़ जाते तो मैं उन्हें लेकर पीपल-चबूतरे पर बैठी आजीमाँ की अदालत में हाज़िर हो जाता और फिर आजीमाँ की समझ में जो आता वे उसका उत्तर दे देतीं। उनके उत्तर सुनकर मुझे सदा यही लगा कि आजीमाँ जैसी दिखती हैं उससे कहीं अधिक वे ज्ञानवती हैं। एक दिन तो वह आप ही कह उठी थीं, 'तुम्हारे अनन्तराव और नारायण जो भगवद्-गीता और पुराणों के बारे में बातें करते हैं मेरे लिए वे कोई नयी बात नहीं। तुम्हारे पिताजी तो इन विषयों से दूर ही रहे, लेकिन तुम्हारे दादाजी यानी मेरे बड़े भाई संस्कृत के बहुत बड़े पण्डित थे। मुझे जब वैधव्य प्राप्त हुआ तो मेरे चित्त की शान्ति के लिए उन्होंने यह सब सुना-सुनाकर मुझे सैकड़ों विषयों के बारे में बताया था। उनसे मैंने बहुत ज्ञान प्राप्त किया है। कभी किसी बात में जब तालमेल न दिखता था तब उनसे बार-बार पूछा करती थी, "यह ऐसे कैसे हो सकता है ? तुम्हारे कृष्ण भगवान् ने अमुक प्रसंग में तो ऐसा कहा और अब ऐसा कह रहे हैं ? आदि-आदि।' यही जो देखो, बेटा; भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को इतने विस्तार से गीता का उपदेश कहाँ दिया ? कुरुक्षेत्र में। वह भी कब ? तब जबकि दोनों पक्ष युद्ध का शंखनाद कर चुके थे और युद्ध आरम्भ होने में कुछ ही क्षण रह गये थे। उस समय और उस सन्दर्भ में यदि कृष्ण को तीन दिन गीतोपदेश करते लगे तो दूसरे लोग क्या करते रहे ? शस्त्र-कवच उतारकर वहीं सो गये या अपने-अपने घर जाकर तीन दिन बाद फिर युद्ध करने आये ? यही नहीं, कृष्ण ने कहा, 'आत्मा अनश्वर है, शरीर ही नाशवान् है; तुम न तो हर्ता हो और न ही कर्ता हो; तुम अपना कर्म करो पर उसके फल की अपेक्षा मत करो।' मगर फिर यह भी तो कहा कृष्ण ने, 'युद्ध में शत्रु को मारकर मरोगे तो तुम्हें स्वर्ग मिलेगा।' आगे यह भी कह दिया कि 'स्वर्ग की अपेक्षा मत करो।' 'काम-क्रोध बुरे हैं' इस कथन के साथ ही साथ यह भी उपदेश दिया कि 'क्रुद्ध होकर शत्रुओं पर तीर छोड़ो।' एक बार कहा कि 'आत्मा को कोई कलंक नहीं लग सकता' और फिर यह भी कह दिया 'युद्ध से विमुख होगे तो तुम्हारे कुल को अपकीर्ति

मिलेगी।' कृष्ण की ऐसी विरोधी बातों को एक साथ ग्रहण कर पाना सचमुच ही बहुत कठिन है। ये सब चमत्कार-भरी बातें है उन पर विश्वास करना असंभव है।"

"कुछ भी हो आजीमाँ, वह सब तो कृष्ण भगवान् की ही वाणी थी न !"

"तुम जो चाहो, कहो। मैं यही कहूँगी कि कृष्ण और राम तो कल-परसों के बच्चे हैं। हममें से किसी ने 'यह मेरा विचार है' या 'मुझे ऐसा लगता है' कभी नही कहा। जो कुछ वे समझ पाये या देख पाये उसे भगवान् के मुँह से कहलवाकर प्रचारित किया। कापालिकों ने तो ऐसा बहुत कुछ किया। मेरे भइया ने एक बार इन लोगों के बारे में पढ़कर सुनाया भी था। कुछ भी हो, मुझे तो इन अवतारों मे विश्वास ही नहीं है। देखा जाये तो क्या हम अवतार नही हैं ? मैं अवतार नहीं या तुम नही ? हम भी तो उसी माँ के बच्चे है, उसी के अंश हैं। नर, नारायण ही नहीं तमाम कीड़े-मकोड़े तक सब उसी की सृष्टि है। धरती पर कुछ नहीं है जिसमें उसका अंश न हो।"

"मैं तुम्हें एक उदाहरण देती हूँ। मैं स्त्री हूँ इसलिए मुझे यह विचार उठा करता है। गीता मे एक बात आती है। किसी का कहना है कि यदि स्त्रियाँ दूषित हो जाती है तो वर्णसंकर हो जाता है। भगवान्, जो स्त्री-पुरुष दोनों का स्रष्टा है, को यह भी पता नही है कि वर्णसंकर केवल स्त्री के बिगड़ने से नही होता है, पुरुष का भी इसमे उतना ही दोष है ? कृष्ण के मुँह से यह बात कहलवाने वाले उस बुद्धिमान् आचार्य की दृष्टि मे पुरुष निर्दोष रहा होगा। मेरी धारणा है कि एक नही, दसों पण्डितों ने समय-समय पर अपने-अपने विचारों को कृष्ण के मुख मे ठूँसा है और भगवान् की इस वाणी के विरुद्ध अब हम हैं कि कुछ भी नही कह सकते !"

आजीमाँ थोड़ी देर एक विचित्र-से भाव मे खोयी बैठी रहीं। उसके बाद मैंने धीरे से पूछा, "आजीमाँ, आप बात-बात मे 'माँ' की रट लगाती हैं। कम-से-कम वह तो सच है ?"

"हाँ, बेटा, वह तो जैसे मैं हूँ, जैसे तुम हो उसी तरह सच है। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, जब तक हम जियेंगे तब तक तो यह सच्चाई रहेगी ही। हम सभी से बढ़कर कोई तो एक शक्ति होगी। वह कितनी बड़ी है, कैसी है—क्या उसे हम यों सहज ही समझ सकते है ? फिर भी इस सृष्टि को देखकर यह भावना मन मे जरूर आती है कि इस सबके पीछे कोई शक्ति है जरूर। इसी शक्ति को ही हमारे पूर्वजों ने 'माँ' का नाम दिया। बच्चों के लिए माँ ही सब कुछ है। वही सबसे बड़ी होती है। उसी से हमारा जन्म हुआ। माँ-स्वरूप वह तत्व क्या है, यह न जानते हुए भी, 'वह है' इतना ही समझकर उसकी ओर देखते है, 'माँ' कहकर

उसकी पूजा करते हैं। इसमें मुझे कोई गलती नजर नहीं आती। मगर उस माँ की पूजा करने के साथ-साथ 'मुझे यह दो, मुझे वह दो,' कहकर उसे सताते भी हैं। हम भूल जाते हैं कि उसके करोड़ों बच्चे हैं। जब तक हमारी आयु है तब तक हमें साथ-साथ घुल-मिलकर रहना चाहिये। यह अपने में एक वरदान है, एक पूजा है। हम इस सत्य को क्यों नहीं अब तक समझ पाये ? हम जो मानते हैं वही सच है, अन्य सब झूठे हैं; हमारा भगवान् 'भगवान्' है, औरों का भगवान् 'भगवान्' नहीं। हम अपना जीवन इन्हीं झगड़ों में गुजार रहे हैं। माँ तो किसी के भी आँसू को नहीं सह सकती। उन ब्राह्मण-कन्या की क्या दशा हुई, क्यों हुई—कभी भी सोचते हैं हम ?"

इसी तरह आजीमाँ के साथ मैंने कई विषयों को लेकर विवेचना की थी। अक्सर शिवमोग्गा से आया हुआ वह लड़का, रामदास भी आकर हमारे साथ बैठ जाता था। वह जो कुछ यहाँ सुनता उसे प्रायः अनन्तराव के कानों तक पहुँचा देता था। अनन्तराव ने एक-दो बार आजीमाँ से बहस करने की भी चेष्टा की थी। एक बार तो उसने इसी बहाने आजीमाँ के पास जाकर पूछा था, "कैसी हैं आप आजीमाँ ?"

आजीमाँ ने जवाब दिया था, "ठीक हूँ, और चार दिन रहने के रह गये हैं सो रहूँगी···"

"चार दिन क्यों आजीमाँ, आपको तो चालीस बरस और रहना चाहिये।" अनन्तराव ने कहा।

"मुझे रहकर क्या करना है यह बताओ तब मैं कुछ सोचूँ ?" आजीमाँ ने हँसकर कहा।

एक दिन आजीमाँ और मैं पीपल-चबूतरे पर बैठे थे तो नारायण, रामदास और अनन्तराव भी आकर वहाँ बैठ गये। किसलिए आये थे यह तो वे ही जानें, पर आजीमाँ ने उनसे कुछ भी नहीं कहा-सुना। आजीमाँ से मैं जो बात कर रहा था वह भी उनके आने से रुक ही गयी।

धीरे-धीरे नारायण ने बात छेड़ी। जिस विषय की चर्चा बरामदे में ही बैठकर की जा सकती थी, उसे नारायण यहाँ तक ले आया था। नारायण ने अपने मित्र को सम्बोधित करते हुए कहा, "तो क्या तुम्हारे विचार में गृहस्थ जीवन से संन्यास श्रेष्ठ है ? संसार को तुम एक बन्धन मानते हो ? मुझे भी कुछ ऐसा ही लगता है।"

मैं चुप नहीं रह सका। बोला, "तेरे इस विचार का पता पिछले साल ही लग जाता तो तेरी शादी पर हुआ खर्च तो बच जाता !"

इसी बीच अनन्तराव आजीमाँ को छेड़ने के प्रयोजन से ही बोले, "आजीमाँ

आपका क्या मत है ? आप तो बुजुर्ग हैं, अनुभवी हैं, आपका क्या विचार है ?"

आजीमाँ सुनकर तुरन्त हँस पड़ीं। फिर बोली, "हाँ, मैं मानती हूँ मेरी उम्र कुछ ज्यादा ही है। वैसे इस पीपल के पेड़ की तो मुझसे भी चार गुना उम्र होगी। मुझमें और इसमें फर्क इतना ही है कि यह बोल नहीं सकता और मैं बोल लेती हूँ।"

अनन्तराव ने कहा, "आजीमाँ, इसीलिए तो बात करने आए हैं।"

"किस बारे में, क्या बात करना चाहते हैं ?"

"यही, जिस बारे मे अभी-अभी चर्चा कर रहे थे : संसार, सत्य, माया, धर्म—इन सबमें कुछ सच्चाई है क्या ?"

आजीमाँ ने उन दोनों की ओर देखते हुए पूछा, "आपमें से कौन जानना चाहता है ?"

"समझ लीजिये मैं ही जानना चाहता हूँ।" अनन्तराव ने कहा।

आजीमाँ ने कहा, "तुम तो अपने आपको ज्ञानी समझते हो न ?"

अनन्तराव ने उत्तर दिया, "नहीं आजीमाँ, नहीं तो !"

आजीमाँ उस पर बोली, "मैं जानती हूँ, तुम अपने को बड़ा ज्ञानी-मानी समझते हो। तुम्हारी समझ में 'यह संसार ऐसा है, वैसा है, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध हेय है।' तुम्हारी तरह सोचनेवाले और भी कई हैं। पहले भी थे। लेकिन जिस बात में अपना विश्वास हो उसका पूरा-पूरा अर्थ ग्रहण करना जरूरी है। इसके अतिरिक्त अपने विश्वास के बल पर जीने की बुद्धि और क्षमता भी होनी चाहिये। अपने विश्वास के अनुसार व्यवहार और आचरण न हो तो उस विश्वास के होने से ही क्या लाभ ? तुम्हारी दृष्टि में स्त्री एक असहनीय वस्तु है। तुम उसे नहीं चाहते तो ठीक है, उससे दूर रहो। लेकिन जिसका काम-भाव स्त्री के प्रति न होकर पुरुष के प्रति हो उसे ऐसी बातें करने की क्या जरूरत ? यह मत सोचो कि आजी अन्धी है। उसकी बाहर की आँखें तो हैं ही, अन्दर की भी हैं। बाहर की आँखें जो कुछ देखती हैं उसके बारे में अन्दर की आँखें बहुत कुछ बता देती हैं। तुम शिवमोग्गा से यहाँ तक इस लड़के को क्यों लेकर आये हो, मैं जानती हूँ। और फिर भी जो ये उपदेश देते हो, बड़ी-बड़ी बातें करते हो ? आखिर तुम कौन से भगवान् को मानने निकले हो मैं भी तो समझूँ !"

"स्त्री-पुरुष, काम—यह सब यदि हेय हैं, तुच्छ हैं तो जिसने इनका सृजन किया वह तो जानता ही होगा कि इनका प्रयोजन क्या है, यह सब किसलिए हैं। यह यदि उतना तुच्छ होता तो उसने हममें ही क्या, फूलों में भी उस स्त्री और पुरुष अंश की सृष्टि न की होती।—चलो, बस ले चुके मेरी परीक्षा ? पहले अपने को सुधारो उसके बाद फिर······"

रामदास मेरे पास ही बैठा था। आजीमाँ की बात के संकेत पर उसने शर्म के मारे मुंह नीचा कर लिया। शायद उसकी आंखों में पानी भर आया था। वह चुपचाप उठकर चला गया।

आगे विसंवाद बढ़े कि तभी सौभाग्य से किट्टू ने पुकारा, "पिताजी भोजन तैयार है, मां बुला रही हैं। जल्दी आइये आप, सबको लेकर।"